श्री सेठिया जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं० ११६

श्रीमद् गणधरवर-सुधर्मस्वामिदृब्ध

श्री आचारांग सूत्रम्



[प्रथम श्रुतस्कंध]

(शुद्ध मूलपाठ, अन्वययुक्त शब्दार्थ और भावार्थ सहित)

अनुवादक —

पं० घेवरचन्द्र बांठिया 'वीरपुत्र' जैन सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ

प्रकाशक —

श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

विक्रम सवत् २००८
वीर सवत् २४७७
महावीर जयन्ती
सन् १९५१

मूल्य ३॥)

यह भी ज्ञान खाते मे लगेगा

प्रथमावृत्ति
१०००

प्रकाशक:—
श्री अगरचन्द भैरोदान सेठिया
जैन पारमार्थिक संस्था,
बीकानेर

प्रथमावृत्ति
१०००

मुद्रक:—
श्री जालमसिंह के प्रबन्ध से
गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस,
ब्यावर में मुद्रित,

प्रस्तावना

जिस प्रकार ब्राह्मण सस्कृति का आधार वेद है, बौद्ध सस्कृति का आधार त्रिपिटक है और ईसाइयों का आधार बाइबल है उसी तरह जैन सस्कृति का आधार गणिपिटक अर्थात् बारह अङ्ग सूत्र हैं। नन्दी सूत्र में श्रुतज्ञान के जो चौदह भेद बताये गये हैं उनमे तेरहवाँ अङ्गप्रविष्ट है। मुख्य रूप से श्रुतज्ञाम के दो भेद हैं—अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। आचाराङ्ग आदि बारह सूत्र अङ्गप्रविष्ट है। इनके अतिरिक्त सभी सूत्र अङ्गबाह्य गिने जाते हैं। जिस प्रकार पुरुष के शरीर मे २ पैर, २ जघाएं, २ ऊरु, २ गात्रार्द्ध (पसवाडे) २ बाहु (भुजाए), १ गरदन और १ सिर ये बारह अङ्ग हैं, उसी प्रकार श्रुतरूपी पुरुष के १२ अङ्ग है। तीर्थङ्कर भगवान् के उपदेशानुसार जिन शास्त्रों को गणधर महाराज स्वय रचते हैं, वे अङ्ग कहे जाते हैं। गणधरों के अतिरिक्त दूसरे विद्यासम्पन्न आचार्यों द्वारा रचे गये शास्त्र अ गबाह्य कहे जाते हैं। अ गप्रविष्ट के बारह भेद हैं—

१ आचाराग, २ सूयगडाग-सूत्रकृताग, ३ ठाणाग-स्थानाग, ४ समवायाग, ५ विवाहपण्णत्ती-व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवती, ६ णाया-धम्मकहाओ-ज्ञाताधर्मकथा, ७ उवासगदसाओ-उपासकदशा, ८ अ तगडदसाओ-अन्तकृद्दशा, ९ अणुत्तरोववाइयदसाओ-अनुत्तरौपपातिकदशा, १० पण्हवागरणाइ-प्रश्नव्याकरण, ११ विवागसुअ-विपाक श्रुत, १२ दिट्ठिवाओ-दृष्टिवाद। इनमें बारहवाँ दृष्टिवाद आज कल उपलब्ध नहीं है।

महापुरुषो के द्वारा सेवन की गई ज्ञान, दर्शन, चारित्र के आराधन करने की विधि को आचार कहते हैं। आचार को प्रतिपादन करने वाला सूत्र आचारांग कहा जाता है। इस सूत्र में साधुओं की चर्या से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातों का वर्णन किया गया है, जैसे कि—

आचार—ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्षमार्ग की आराधना के लिए किया जाने वाला विविध आचार।

गोचरी—भिक्षा ग्रहण करने की विधि।

विनय—ज्ञान और ज्ञानी की तथा बड़ों की विनय-भक्ति।

विनेय—शिष्यों का स्वरूप और उनका आचार।

भाषा—चार प्रकार की भाषा का स्वरूप।

चरण सत्तरि—पांच महाव्रत, दस प्रकार का श्रमण धर्म, सत्तरह प्रकार का संयम, दस प्रकार का वैयावृत्य, ब्रह्मचर्य की नव बाड़, ज्ञान दर्शन, चारित्र, बारह प्रकार का तप और चार कषायों का निग्रह (दमन)।

करण सत्तरि—चार पिण्डविशुद्धि, पांच समिति, बारह भावना, बारह भिक्षुपडिमा, पांच इन्द्रियों का दमन, पच्चीस प्रकार की पडिलेहणा, तीन गुप्तियां, द्रव्य क्षेत्र काल भाव के भेद से चार प्रकार का अभिग्रह।

यात्रा—संयम रूप यात्रा का पालन।

वृत्ति—विविध अभिग्रहों को धारण करके संयम की पुष्टि करना।

आचार के संक्षेप में पांच भेद हैं—१ ज्ञानाचार, २ दर्शनाचार, ३ चारित्राचार, ४ तप आचार, ५ वीर्याचार। सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारणभूत श्रुतज्ञान की आराधना करना ज्ञानाचार है। दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व की निःशंकित निःकांक्षित आदि रूप से शुद्ध आराधना करना दर्शनाचार है। ज्ञानपूर्वक और श्रद्धापूर्वक सर्वसावद्य योगों का त्याग करना चारित्र है, चारित्र का सेवन करना चारित्राचार है। आभ्यन्तर और बाह्य बारह प्रकार का तप करना तप आचार है। अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए धर्मकार्यों में यथाशक्ति प्रवृत्ति करना वीर्याचार है।

'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' सम्यक् ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की प्राप्ति होती है, शुद्ध आचार के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है। इसलिए आचार का प्रतिपादक यह अङ्ग पहले बताया गया है। अथवा किसी अपेक्षा विशेष से ज्ञान की अपेक्षा क्रिया की प्रधानता होने से क्रिया रूप आचार को बतलाने वाला यह सूत्र भी प्रधान है, इसीलिए यह पहला अङ्ग है।

इसमे दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले श्रुतस्कन्ध मे नौ अध्ययन है और दूसरे श्रुतस्कन्ध मे सोलह अध्ययन है। दोनों श्रुतस्कन्धो मे कुल २५ अध्ययन है। उनमे ८५ उद्देशे है।

इस प्रकार जैनागमो मे आचाराग सूत्र का प्रथम स्थान है। इसका पठन-पाठन आत्मकल्याण एव मोक्षप्राप्ति का कारण है। इसलिए मुमुक्षु पुरुषो को इस सूत्र के पठन-पाठन का लाभ अवश्य लेना चाहिए।

निवेदक.—

घेवरचन्द बाँठिया 'वीरपुत्र'

जैन सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ,

बीकानेर

दो शब्द

जैन संस्कृति का मुख्य आधार बारह अंग सूत्र हैं। उनमें सब से पहला अंग सूत्र आचारांग है। जैनागमों में इसका प्रधान और महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें साधु के जीवन सम्बन्धी सब शिक्षाओं का वर्णन किया गया है। इसलिए नवदीक्षित साधु को सर्वप्रथम इस सूत्र का अध्ययन करना आवश्यक है। इस सूत्र के विशेष हिन्दी अनुवाद नहीं हैं और जो कुछ हिन्दी अनुवाद वर्तमान में उपलब्ध हैं वे प्रायः भावार्थरूप हैं। इसलिए हमारी यह इच्छा हुई कि इस सूत्र का अन्वय सहित शब्दार्थ इस ढंग से लिखाया जाय जिसमें शब्दार्थ लिखते समय ही इस बात का ध्यान रखा जाय कि वाक्य का सम्बन्ध ठीक तरह जुड़ता जाय ताकि विस्तार कम हो और प्रथम सीखने वालों को विशेष सुविधा हो। इसी भावना से प्रेरित होकर हमने यह अन्वयसहित शब्दार्थ और संक्षिप्त भावार्थ पं० घेवरचन्द्रजी बांठिया 'वीरपुत्र' से तैयार करवाया है। इसमें मूलपाठ को छोड़ कर केवल शब्दार्थ को पढ़ा जाय तो वह भावार्थ रूप बन जाता है। आवश्यकतानुसार संक्षिप्त भावार्थ भी दिया गया है। शब्दार्थ करते समय वाक्य का सम्बन्ध बनाये रखने के लिए और कहीं कहीं वाक्य का सम्बन्ध जोड़ने के लिए ऊपर से भी शब्द दिये गये हैं।

मूलपाठ बहुत शुद्ध हो इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है। इसलिए अनेक प्रतियों का अवलोकन कर मूल पाठ लिखा गया है। जहां पाठान्तर मालूम हुआ वहां शब्दार्थ करते समय मूलपाठ के आगे हाइफन डेश (-) देकर पाठान्तर भी दे दिया गया है।

जैन सूत्र साहित्य अति गहन है। इसलिए इस सूत्र के अनुवाद में कहीं त्रुटि नजर आवे तो विद्वान पाठक हमें सूचित करने की कृपा करें ताकि आगामी आवृत्ति में उचित सुधार किया जा सके।

निवेदक —

भैरोदान जेठमल सेठिया

आभारप्रदर्शन

आभारप्रदर्शन

प्रातः स्मरणीय पूज्यश्री १००८ श्री हुक्मीचन्द्रजी महाराज के षष्ठ पट्टधर परम प्रतापी आचार्यप्रवर पूज्यश्री १००८ श्री जवाहरलालजी महाराज के सुशिष्य शास्त्रज्ञ पं० मुनि श्री पन्नालालजी महाराज ने इस आचारांग सूत्र की हस्तलिखित कापी का परिश्रम पूर्वक आद्योपान्त अवलोकन किया है। तत्पश्चात् जैनधर्मदिवाकर जैनरत्नाकर पूज्यश्री १००८ श्री आत्मारामजी महाराज की सेवा में इस सूत्र की हस्तलिखित कापी लुधियाना भेजी गई। उस समय आपकी नेत्र शक्ति कमजोर थी। इसलिए आपने व्याख्यानवाचस्पति श्री मदनलालजी महाराज द्वारा इस कापी का आद्योपान्त उपयोग पूर्वक श्रवण किया। तत्पश्चात् गुड़गांवा (पंजाब) में चतुर्मासस्थित जैनधर्मोपदेष्टा मुनि श्री फूलचन्द्रजी महाराज ने इसकी कापी का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया। उपरोक्त मुनिवरों ने अवलोकन और श्रवण करके उचित परामर्श दिये। तदनुसार उन स्थलों का संशोधन कर दिया गया है। उपरोक्त पूज्य मुनिवरों ने जो परिश्रम उठाया है, अपना अमूल्य तथा सत्परामर्श दिया है, इस कृपा के लिए हम उनके सदा आभारी रहेंगे।

निवेदक —
भैरोदान जेठमल सेठिया

जैनधर्मदिवाकर जैनागमरत्नाकर पूज्यश्री आत्मारामजी महाराज

तथा

व्याख्यानवाचस्पति श्रीमदनलालजी महाराज की

सम्मति

मैंने श्रीयुत् पण्डित घेवरचन्द्रजी बाँठिया का लिखा हुआ श्रीमदाचारांग सूत्र का प्रथम श्रुतस्कन्ध अन्वयार्थ और संक्षिप्त भावार्थ युक्त श्रीमद् व्याख्यानवाचस्पति नवयुवक सुधारक मुनि श्रीमदनलालजी महाराज के द्वारा अक्षरश श्रवण किया। मेरे विचार मे नव दीक्षित साधु और साध्वियो तथा जैनधर्म मे प्रवेश करने वाले जिज्ञासु जनो के लिए यह सरल अनुवाद अत्युपयोगी है। इसका विधिपूर्वक अध्ययन गुरुमुख द्वारा करने पर अन्य विस्तृत सस्कृत व हिन्दी आदि अनुवादो मे शीघ्र ही प्रगति हो सकती है। पण्डितजी ने बड़े परिश्रम से कार्य किया है। यह अनुवाद प्राचीन वृत्तियो से अनलकृत नहीं है।

यही सम्मति मुनि श्रीमदनलालजी महाराज की भी है।

ता० २४-६-४६
लुधियाना (पंजाब)

प्रेषक —
प्यारेलाल जैन
ठि० गुजरमल बलवन्तराय जैन

ज्ञातपुत्रीय महावीरसंघीय जैन मुनि श्री फूलचन्द्रजी महाराज जैन धर्मोपदेष्टा की

सम्मति

पण्डित घेवरचन्द्रजी बाँठिया जैन न्याय, व्याकरण तीर्थ, सिद्धान्त शास्त्री ने प्रथम अङ्ग श्री आचाराग सूत्र का हिन्दी भाषा मे सुन्दर अनुवाद किया है। मूलपाठ, अन्वयार्थ और भावार्थ की त्रिवेणी ने पुस्तक की उपयोगिता मे चार चॉद लगा दिये हैं। पद्धति सराहनीय है। सूत्र मे प्रवेश करने वालो के लिए यह अनुवाद बडा उपयोगी है। आचाराग सूत्र का इस ढङ्ग का हिन्दी भाषा मे यह सर्व प्रथम अनुवाद हुआ है। यह साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध सघ के लिए पथ-प्रदर्शक का काम करेगा। यह अनुवाद किसी विषय से रिक्त नहीं है, सब भाव भलीभाति व्यक्त किये गये हैं। पुस्तक हाथ मे आते ही प्रतिदिन स्वाध्याय करने की प्रबल उत्कण्ठा जागृत होगी। किं बहुना, अनुवाद सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है। इसी प्रकार दूसरे श्रुतस्कन्ध का भी अनुवाद हो जाय तो सोने मे सुहागे वाली उक्ति चरितार्थ हो एव भव्यजनो को महान लाभ पहुँचे।

प्रेषक —

दुर्गाप्रसाद जैन
गुड़गाव (पजाब)
ता० २४-१०-४९

ज्ञातपुत्र महावीर जैन संघीय
'पुष्फ भिक्खू'

आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध की
विषयानुक्रमणिका

४ उद्देशा—इस उद्देशे में भगवान की तपश्चर्या का वर्णन किया गया है। भगवान् अनशन आदि तप करते हुए रोग की चिकित्सा न करते हुए मौनवृत्ति से विचरते थे। कारणवशात 'मैं भिक्षु हूं' इस प्रकार से बोलते थे। शीत, उष्ण को सहन करते हुए आतापना लेते थे। अर्द्धमास, मास, दो मास, तीन मास यावत् छह मास तक की तपस्या करते थे और पारणे में रूखा सूखा (ओदन मन्थु, कुल्माष, उड़द के बाकले आदि) जैसा भी आहार मिलता उसे ग्रहण करते थे। तत्त्व को जानने वाले भगवान महावीर स्वामी ने छद्मस्थ अवस्था में कभी भी स्वयं आपने पापकर्म नहीं किया, न दूसरों से करवाया और पापकर्म करते हुए भला भी न जाना। किसी भी जीव की वृत्ति का छेद न करते हुए ग्राम नगर में शुद्ध आहार ग्रहण करते थे। मन्दगति से चलते हुए, हिंसा से निवृत्त होते हुए, जिस प्रकार का भी शुद्ध आहार मिलता था उससे ही निर्वाह करते थे। दृढ़ आसन लगा कर आत्मान्वेषण करते हुए ध्यान में लीन हो जाते थे। शब्दादि विषयों में मूर्छित न होते हुए भगवान ने छद्मस्थ अवस्था में कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं किया था। इत्यादि विषयों का वर्णन इस उद्देशे में किया गया है। २६६

॥ णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स ॥

श्री आचारांग सूत्रम्

(मूल पाठ, अन्वय युक्त हिन्दी शब्दार्थ और संक्षिप्त भावार्थ सहित)

प्रथम श्रुतस्कन्ध

शस्त्र-परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन का प्रथम उद्देशक

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ ॥१॥

अन्वयार्थः—श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि (आउसं) हे आयुष्मन् शिष्य ! (मे) मैंने (सुयं) सुना है (तेण) उन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (एवं) इस प्रकार (अक्खायं) फरमाया था कि (इहं) इस लोक में (एगेसिं) किन्हीं प्राणियों को (सण्णा) संज्ञा-ज्ञान (णो) नहीं (भवइ) होती है ॥१॥

तंजहा:—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहो-दिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ वा अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं णो णायं भवइ ॥२॥

अन्वयार्थः—(तंजहा) जैसे कि (पुरत्थिमाओ) पूर्व (दिसाओ) दिशा से (अहं) मैं (आगओ अंसि) आया हूँ। (वा) अथवा (दाहिणाओ) दक्षिण (दिसाओ) दिशा से (अहं) मैं (आगओ अंसि) आया हूँ। (वा) अथवा (पच्चत्थिमाओ) पश्चिम (दिसाओ) दिशा से (अहं) मैं (आगओ-अंसि) आया हूँ। (वा) अथवा (उत्तराओ) उत्तर (दिसाओ) दिशा से (अहं) मैं (आगओ अंसि) आया हूँ। (वा) अथवा (उड्ढाओ) ऊँची (दिसाओ) दिशा से (अहं) मैं (आगओ अंसि) आया हूँ। (वा) अथवा (अहो दिसाओ) नीची दिशा से (अहं) मैं (आगओ अंसि) आया हूँ। (वा) अथवा (अण्णयरीओ) किसी एक (दिसाओ) दिशा से (वा) अथवा (अणुदिसाओ) अनुदिशा से (अहं) मैं (आगओ अंसि) आया हूँ। (एवं) इस प्रकार (एगेसिं) किन्हीं जीवों को (णायं) ज्ञान (णो) नहीं (भवइ) होता है ॥२॥

भावार्थ—ज्ञानावरणीय कर्म से जिसकी आत्मा पर सघन पर्दा पड़ा हुआ है वह जीव यह नहीं जानता है कि मैं पूर्व भव में किस गति में था और यहाँ पर कहाँ से आया हूँ? ॥

अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए? के अहं आसी, के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि? ॥३॥

अन्वयार्थः—(मे) मेरा (आया) आत्मा (उववाइए) भिन्न-भिन्न गतियों मे उत्पन्न होने वाला (अत्थि) है, अथवा (मे) मेरा (आया) आत्मा (उववाइए) भिन्न-भिन्न गतियों मे उत्पन्न होने वाला (णत्थि) नहीं है ? तथा (अह) मै (के) कौन (आसी) था और (इओ) इस शरीर से (चुओ) छूट कर (इह) इस संसार मे (पेच्चा) दूसरे जन्म मे (के) क्या (भविस्सामि) होऊँगा ? ॥३॥

भावार्थ—प्रवल ज्ञानावरणीय के उदय से जिसकी ज्ञान-शक्ति ढँक गई है वह जीव यह नहीं जानता कि मै पूर्वभव मे कौन था और आगे क्या होऊँगा ?

से जं पुण जाणेज्जा सह सम्मइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा तंजहाः—

पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सोहं ॥४॥

अन्वयार्थः—(से) वह पुरुष (सहसम्मइयाए) अपनी सन्मति-सूक्ष्म वुद्धि एव जातिस्मरण ज्ञान द्वारा तथा (परवागरणेण) तीर्थङ्कर आदि के उपदेश से (वा) अथवा (अण्णेसिं) दूसरों के (अंतिए) पास से (सोच्चा) सुनकर (पुण) फिर (ज) पूर्वोक्त वातों को (जाणेज्जा) जान लेता है (तजहा) जैसे कि (अह) मै (पुरत्थिमाओ) पूर्व (दिसाओ) दिशा से (आगओ असि) आया हूँ (वा) अथवा (जाव) यावत् (अण्णयरीओ) अन्यतर अर्थात् किसी एक (दिसाओ) दिशा से (वा) अथवा (अणुदिसाओ) अनुदिशा से (अह) मै (आगओ असि) आया हूँ (एव) इस प्रकार (एगेसिं) कितने ही जीवों को (णाय) ज्ञात-ज्ञान (भवइ) हो जाता है (ज) कि (मे) मेरा (आया) आत्मा (उववाइए) औप-

पातिक—नाना गतियों में भ्रमण करने वाला (अत्थि) है (जो) जो आत्मा (इमाओ) इन (दिसाओ) दिशाओं से (वा) अथवा (अणुदिसाओ) अनुदिशाओं से आकर (अणुसचरइ–अणुसगरइ) संसार में परिभ्रमण करता है अथवा अपने पूर्व जन्मादि का स्मरण करता है (सोह) वही आत्मा मैं हूँ ॥४॥

भावार्थ —उत्कृष्ट मति यानी बुद्धि को सन्मति कहते हैं। वह सन्मति चार प्रकार की होती है। यथा—अवधिज्ञान, मन पर्यय ज्ञान, केवलज्ञान और जातिस्मरण। इन चार प्रकार की सन्मतियों के द्वारा अथवा पर-उपदेश से जीव यह जान लेता है कि "मैं पूर्व-भव में अमुक था और इस शरीर को छोड कर मैं अमुक शरीर को प्राप्त करूँगा ॥

से आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई ॥५॥

अन्वयार्थः—(से) वही पुरुष (आयावाई) आत्मवादी (लोयावाई) लोकवादी (कम्मावाई) कर्मवादी और (किरियावाई) क्रिया-वादी है ॥५॥

भावार्थ —जो पुरुष आत्मा के उपर्युक्त स्वरूप को जानता है-वही 'आत्मवादी' अर्थात आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला है। जो आत्मवादी है वही लोकवादी अर्थात लोक का यथार्थ स्वरूप जानने वाला है। जो आत्मवादी और लोकवादी है वही कर्मवादी अर्थात कर्मों का यथार्थ स्वरूप जानने वाला और क्रियावादी यानी कर्मबन्ध के कारणभूत क्रिया को जानने वाला है ॥

अकरिस्सं चाहं, कारवेसुं चाहं, करओ आवि समणुण्णे भविस्सामि ॥६॥

अन्वयार्थः—(अह) **मेने** (अकरिस्स) **किया** (च) **और** (अह) **मैने** (कारवेसु) **करवाया** (च) **तथा** (करओ) **करते हुए को** (आवि) **भी मैने** (समणुण्णे) **अनुमोदन किया । इसी प्रकार** (भविस्सामि) **भविष्य में ऐसा ही होऊँगा अर्थात् करूँगा** ॥६॥

भावार्थ—यहाँ 'अह' पद से जीव का ग्रहण किया गया है । करना, कराना और अनुमोदना इन तीनो के भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल की अपेक्षा नौ भेद हो जाते है और मन, वचन, काया की अपेक्षा से इनके सत्ताईस भेद हो जाते है ॥

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ॥७॥

अन्वयार्थः—(सव्वावति) **सम्पूर्ण** (लोगसि) **लोक में** (एयावति) **इतनी ही** (कम्मसमारभा) **कर्मसमारम्भ—क्रियाएँ** (परिजाणियव्वा) **जानने योग्य** (भवति) **होती हैं** ॥७॥

भावार्थ—ऊपर छठे सूत्र मे जो २७ क्रियाएँ बताई गई हैं उतनी ही क्रियाएँ समस्त लोक मे होती हैं। अतः विवेकी पुरुषो को इन २७ ही क्रियाओ का स्वरूप जान कर इनका त्याग कर देना चाहिए ।

अपरिण्णायकम्मे खलु अयं पुरिसे, जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेइ ॥८॥

अन्वयार्थः—(जो) **जो जीव** (इमाओ) **इन दिशाओं** (वा) **और** (अणुदिसाओ) **अनुदिशाओ में** (अणुसंचरइ) **भ्रमण करता है** (वा)

तथा (सव्वाओ) सब (दिसाओ) दिशाओं और (सव्वाओ) सब (अणुदिसाओ) अनुदिशाओं में (सहेइ) अपने किये हुए कर्मों के साथ जाता है (खलु) निश्चय ही (अय) यह (पुरिसे) पुरुष-जीव (अपरिण्णायकम्मे) कर्मों के रहस्य को नहीं जानता है अर्थात् जो कर्मों के रहस्य को नहीं जानता है और आत्मा तथा क्रिया के स्वरूप को भी नहीं जानता है उसे नाना गतियों में परिभ्रमण करना पड़ता है क्योंकि कर्मों के रहस्य को न जानने के कारण वह उनके नाश के लिए भी प्रयत्न नहीं करता ॥८॥

अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ ॥९॥

अन्वयार्थः—उपरोक्त जीव अर्थात् क्रिया और कर्म के स्वरूप को न जानने वाला जीव (अणेगरूवाओ) अनेक प्रकार की (जोणीओ) योनियों का (संधेइ) सन्धान करता है अर्थात् प्राप्त करता है और उनमें वह (विरूवरूवे) नाना प्रकार के (फासे) स्पर्शों का (पडिसंवेदेइ) अनुभव करता है अर्थात् सुख-दुखों को भोगता है ॥९॥

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ॥१०॥

अन्वयार्थः—(तत्थ) उस दुख से मुक्त होने के लिए अथवा उक्त क्रियाओं के विषय में (भगवया) भगवान् श्री महावीर स्वामी ने (खलु) निश्चय ही (परिण्णा) दो प्रकार की परिज्ञा (पवेइया) फरमाई है ॥१०॥

भावार्थ —(१) ज्ञपरिज्ञा से वस्तु का स्वरूप जाना जाता है और (२) प्रत्याख्यानपरिज्ञा से हेय वस्तु का त्याग किया जाता है। अतः विवेकी पुरुषों को ज्ञपरिज्ञा से सावद्य क्रियाओं को जान कर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनका त्याग कर देना चाहिए॥

इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं ॥११॥

अन्वयार्थः—(इमस्स) इस (जीवियस्स) जीवन के लिए अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरजीवी बनाने के लिए (चेव) और (परिवंदणमाणणपूयणाए) परिवन्दन-प्रशंसा के लिए, मान के लिए तथा पूजा प्रतिष्ठा के लिए, (जाइमरणमोयणाए) जन्म-मरण से छूटने के लिए और (दुक्खपडिघायहेउ) दुःखों का नाश करने के लिए अविवेकी पुरुष नाना प्रकार की सावद्य क्रियाएँ करता है ॥११॥

भावार्थः—उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सावद्य क्रियाएँ करना अज्ञान है। जो पुरुष ज्ञानी हैं वे इन क्रियाओ को कर्मबन्ध का कारण जानकर त्याग कर देते हैं॥

एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्मसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ॥१२॥

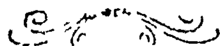
अन्वयार्थः—(सव्वावंति) सम्पूर्ण (लोगंसि) लोक में (एयावंति) इतनी ही (कम्मसमारंभा) क्रियाएँ (परिजाणियव्वा) जानने योग्य (भवंति) हैं ॥१२॥

भावार्थः—छठे सूत्र मे बताई हुई २७ ही क्रियाएँ है। इनसे अधिक या कम नहीं। इसलिए विवेकी पुरुषो को इनका स्वरूप जान लेना चाहिए।

जस्सेए लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे ॥१३॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—(लोगंसि) इस लोक में (एए) ये (कम्मसमारंभा) सावद्य क्रियाएँ (जस्स) जिस को (परिण्णाया) ज्ञात (भवंति) होती है (से हु) वही (मुणी) मुनि है, और वही (परिण्णायकम्मे) कर्मों के रहस्य को जानने वाला है अर्थात् जो पुरुष उपरोक्त सावद्य क्रियाओं को जान कर उनका त्याग कर देता है वही मुनि है ॥ १३॥ (त्ति बेमि) श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं कि हे आयुष्मन् शिष्य ! जिस प्रकार मैंने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से सुना था उसी प्रकार मैं तुम्हें कहता हूँ ॥

॥ इति प्रथम उद्देशक ॥



❀ प्रथम अध्ययन का दूसरा उद्देशक ❀

१० अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए अस्सिं लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास आउरा परितावेति ॥१४॥

अन्वयार्थः—(लोए) यह प्राणिवर्ग (अट्टे) आर्त्त-दुःखी है (परिजुण्णे) उत्तम विवेक रहित है (दुस्संबोहे) दुःख से बोध कराने योग्य है (अविजाणए) अज्ञानी है (अस्सिं) इस (लोए) लोक के अर्थात् पृथ्वीकाय के (पव्वहिए) पीड़ित होने पर भी (आउरा) वे आतुर जीव (तत्थ तत्थ) भिन्न भिन्न कार्यों के द्वारा (पुढो) अलग अलग इसे (परितावेंति) परिताप देते हैं ॥१४॥

भावार्थ.—अज्ञानी विषयासक्त जीव अपने स्वार्थ के लिए नाना प्रकार से पृथ्वीकाय का आरम्भ समारम्भ करते है किन्तु विवेकी पुरुष ऐसा नही करते हैं ॥

संति पाणा पुढो सिया, लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अणेवि अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥१५॥

अन्वयार्थः—(पाणा) अनेक प्राणी (पुढो) अलग अलग (सिया) पृथ्वी में रहे हुए (संति) हैं, अतः उनके आरम्भ से (लज्जमाणा) लज्जित होने वाले अर्थात् जो पृथ्वीकाय का आरम्भ स्वयं नहीं करते हैं, दूसरों से भी नहीं करवाते हैं तथा आरम्भ करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करते हैं ऐसे साधुओं को हे शिष्य ! (पुढो) पृथक् (पास) देखो अर्थात् पृथ्वीकायादि का आरम्भ करने

वाले साधुओं से भिन्न समझो। (अणगारा मो त्ति) हम अनगार हैं ऐसा (पवयमाणा) कहते हुए (एगे) कितनेक व्यक्ति (पुढवीकम्मसमारंभेण) पृथ्वीकाय के आरम्भ द्वारा (विरूवरूवेहिं) नाना प्रकार के (सत्थेहिं) शस्त्रों से (इण) इस (पुढवी सत्थ) पृथ्वीकाय रूप शस्त्र का (समारभमाणे) आरम्भ करते हुए (अण्णे वि) उसके आश्रय में रहने वाले अन्य (अणेगरूवे) अनेक प्रकार के (पाणे) प्राणियों की (विहिंसइ) हिंसा करते हैं। वे वास्तव में अनगार नहीं हैं किन्तु गृहस्थ के समान ही सावद्य क्रिया करने वाले हैं। अतः हिंसा का आचरण करते हुए भी अपने को अनगार कहने वाले अन्यतीर्थी मिथ्यावादी हैं अत उत्तम साधुओं को उनका अनुकरण न करना चाहिए ॥१५॥

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्ख-पडिघायहेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ ॥१६॥

अन्वयार्थः—(तत्थ) इस पृथ्वीकाय के आरम्भ के विषय में (खलु) निश्चय ही (भगवया) भगवान् श्री महावीर स्वामी ने (परिण्णा) परिज्ञा (पवेइया) फरमाई है अर्थात् कारण बतलाया है कि (इमस्स) इस (जीवियस्स) जीवन के लिए अर्थात् इस जीवन को नीरोग और चिरजीवी बनाने के लिए (चेव) और (परिवंदणमाणणपूयणाए) परिवन्दन-प्रशंसा के लिए, मान के लिए तथा पूजा-प्रतिष्ठा के लिए, (जाइमरणमोयणाए) जन्म-मरण से छूटने के लिए और (दुक्खपडिघायहेउं) दुःखों का नाश करने के लिए (से) वह जीव (सयमेव) स्वयं (पुढविसत्थं) पृथ्वी रूप शस्त्र का (समारभइ) आरम्भ करता है (वा) और (अण्णेहिं) दूसरों के द्वारा (पुढविसत्थं) पृथ्वी

रूप शस्त्र का (समारभावेइ) आरम्भ करवाता है (वा) और (पुढविसत्थ) पृथ्वी रूप शस्त्र का (समारभते) आरम्भ करते हुए (अण्णे) दूसरे जीवों का (समणुजाणइ) अनुमोदन करता है ॥१६॥

भावार्थ—अज्ञानी जीव जिन जिन कारणों से पृथ्वीकाय का आरम्भ करते हैं वे कारण ऊपर के सूत्र मे बताये गये ॥

तं से अहियाए, तं से अबोहिए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेण पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, से बेमि-अप्पेगे अंधमब्भे अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पायमब्भे अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंघमब्भे अप्पेगे जंघमच्छे, अप्पेगे जाणुमब्भे अप्पेगे जाणुमच्छे, अप्पेगे ऊरुमब्भे अप्पेगे ऊरुमच्छे, अप्पेगे कडिमब्भे अप्पेगे कडिमच्छे, अप्पेगे णाभिमब्भे अप्पेगे णाभिमच्छे, अप्पेगे उदरमब्भे अप्पेगे उदरमच्छे, अप्पेगे पासमब्भे अप्पेगे पासमच्छे, अप्पेगे पिट्ठिमब्भे अप्पेगे पिट्ठिमच्छे, अप्पेगे उरमब्भे अप्पेगे उरमच्छे, अप्पेगे हिययमब्भे अप्पेगे हिययमच्छे, अप्पेगे थणमब्भे अप्पेगे थणमच्छे, अप्पेगे खंधमब्भे अप्पेगे खंधमच्छे, अप्पेगे बाहुमब्भे अप्पेगे बाहुमच्छे, अप्पेगे हत्थमब्भे अप्पेगे हत्थमच्छे, अप्पेगे अंगुलिमब्भे अप्पेगे अंगुलिमच्छे, अप्पेगे णहमब्भे अप्पेगे णहमच्छे, अप्पेगे

गीवमब्भे अप्पेगे गीवमच्छे, अप्पेगे हणुमब्भे अप्पेगे हणुमच्छे, अप्पेगे होट्ठमब्भे अप्पेगे होट्ठमच्छे, अप्पेगे दंतमब्भे अप्पेगे दंतमच्छे, अप्पेगे जिब्भमब्भे अप्पेगे जिब्भमच्छे, अप्पेगे तालुमब्भे अप्पेगे तालुमच्छे, अप्पेगे गलमब्भे अप्पेगे गलमच्छे, अप्पेगे गंडमब्भे अप्पेगे गंडमच्छे, अप्पेगे कएणमब्भे अप्पेगे कएणमच्छे, अप्पेगे णासमब्भे अप्पेगे णासमच्छे, अप्पेगे अच्छिमब्भे अप्पेगे अच्छिमच्छे, अप्पेगे भमुहमब्भे अप्पेगे भमुहमच्छे, अप्पेगे णिडालमब्भे अप्पेगे णिडालमच्छे, अप्पेगे सीसमब्भे अप्पेगे सीसमच्छे, अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए, इत्थं सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिएणाया भवंति ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—(त) वह पृथ्वीकाय का आरम्भ (से) उस आरम्भ करने वाले पुरुष के (अहियाए) अहित के लिए होता है (त) वह (से) उसके (अबोहिए) बोध के नाश के लिए होता है अर्थात् जो पुरुष पृथ्वीकाय का आरम्भ करता है उसका हित नहीं होता है और उसे बोधि-समकित की प्राप्ति नहीं होती है।

(इह) इस संसार के (एगेसिं) कितने जीवों को (भगवओ) भगवान् तीर्थङ्कर से (वा) अथवा (अणगाराण) साधुओं के पास से (सोचा) सुन कर (त) पृथ्वीकाय के आरम्भ का (णाय भवइ) ज्ञान हो जाता है तब (से) उस आरम्भ को (सबुज्झमाणे) समझने वाला जीव (आयाणीय) ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शन आदि को (समुट्ठाय) स्वीकार करके विचरता है। वह जीव यह जान लेता है कि

(खलु) निश्चय ही (एस) यह पृथ्वीकाय का आरम्भ (गथे) कर्मबन्ध का कारण है, (खलु) निश्चय ही (एस) यह पृथ्वीकाय का आरम्भ (मोहे) मोह का कारण है। (खलु) निश्चय ही (एस) यह पृथ्वीकाय का आरम्भ (मारे) मृत्यु का कारण है। (खलु) निश्चय ही (एस) यह पृथ्वीकाय का आरम्भ (णरए) नरक का कारण है फिर भी (गढिए) विषय भोगों मे आसक्त (लोए) जीव (इच्चत्थ--इच्चेवमट्ठ) अपने वन्दन, पूजन और सम्मान आदि के लिए (विरूवरूवेहिं) नाना प्रकार के (सत्थेहिं) शस्त्रों द्वारा (पुढविकम्मसमारंभेण) पृथ्वीकाय के आरम्भ से (इण) इस (पुढविसत्थ) पृथ्वीकाय रूपी शस्त्र का (समारभमाणे) आरम्भ करता हुआ जीव (अण्णे) दूसरे (अणेगरूवे) अनेक प्रकार के (पाणे) प्राणियों की (विहिंसइ) हिंसा करता है।

(से) गुरु कहते हैं कि हे शिष्यो! यदि तुम मुझ से पूछोगे कि पृथ्वीकाय के जीव देखते नहीं, सुनते नहीं, बोलते नही, सूघते नही और चलते फिरते भी नही है तो फिर उन्हें मारने से वे वेदना का अनुभव कैसे करते हैं? तो मै एक दृष्टान्त द्वारा इस बात को (बेमि) बतलाता हूँ कि (अप्पेगे) जैसे कोई (अध) जन्मान्ध पुरुष को यावत् बधिर-बहरे, मूक-गूगे, कोढ़ी और लूले लंगड़े पुरुष को (अब्भे) भेदन करे तथा (अप्पेगे) कोई (अधमच्छे) उपरोक्त अन्धे पुरुष को छेदन करे, (अप्पेगे) कोई (पायमब्भे) उसके पैरों का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (पायमच्छे) उसके पैरों का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (गुप्फमब्भे) उसके गुल्फों का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (गुप्फमच्छे) उसके गुल्फों का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (जघमब्भे) उसकी जङ्घा का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (जघमच्छे) उसकी जङ्घा का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (जाणुमब्भे) उसके घुटनों का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (जाणुमच्छे) उसके घुटनों का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (ऊरुमब्भे) उसके उरु का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (ऊरुमच्छे) उसके उरु का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (कडिमब्भे) उसके

कटिभाग कमर का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (कडिमच्छे) उसके कटिभाग—कमर का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (णाभिमब्भे) उसकी नाभि का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (णाभिमच्छे) उसकी नाभि का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (उदरमब्भे) उसके पेट का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (उदरमच्छे) उसके पेट का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (पासमब्भे) उसके पार्श्वभाग—पसवाड़े का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (पासमच्छे) उसके पार्श्वभाग—पसवाड़े का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (पिट्ठिमब्भे) उसकी पीठ का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (पिट्ठिमच्छे) उसकी पीठ का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (उरमब्भे) उसकी छाती का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (उरमच्छे) उसकी छाती का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (हिययमब्भे) उसके हृदय का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (हिययमच्छे) उसके हृदय का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (थणमब्भे) उसके स्तनों का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (थणमच्छे) उसके स्तनों का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (खंधमब्भे) उसके कन्धे का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (खंधमच्छे) उसके कन्धे का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (बाहुमब्भे) उसकी बाहु-भुजा का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (बाहुमच्छे) उसकी बाहु-भुजा का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (हत्थमब्भे) उसके हाथ का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (हत्थमच्छे) उसके हाथ का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (अंगुलिमब्भे) उसकी अंगुलि का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (अंगुलिमच्छे) उसकी अंगुलि का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (णहमब्भे) उसके नखों का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (णहमच्छे) उसके नखों का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (गीवमब्भे) उसकी गर्दन का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (गीवमच्छे) उसकी गर्दन का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (हणुमब्भे) उसकी दाढ़ी का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (हणुमच्छे) उसकी दाढ़ी का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (होट्ठमब्भे) उसके ओष्ठों का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (होट्ठमच्छे) उसके ओष्ठों का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (दंतमब्भे) उसके दांतों का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (दंतमच्छे) उसके दांतों का छेदन करे

(अप्पेगे) कोई (जिब्भमब्भे) उसकी जीभ का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (जिब्भमच्छे) उसकी जीभ का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (तालुमब्भे) उसके तालु का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (तालुमच्छे) उसके तालु का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (गलमब्भे) उसके गले का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (गलमच्छे) उसके गले का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (गडमब्भे) उसके गाल का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (गडमच्छे) उसके गाल का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (कण्णमब्भे) उसके कान का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (कण्णमच्छे) उसके कान का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (णासमब्भे) उसके नाक का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (णासमच्छे) उसके नाक का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (अच्छिमब्भे) उसकी आँख का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (अच्छिमच्छे) उसकी आँख का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (भमुहमब्भे) उसकी भ्रुकुटि का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (भमुहमच्छे) उसकी भ्रुकुटि का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (णिडालमब्भे) उसके ललाट का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (णिडालमच्छे) उसके ललाट का छेदन करे (अप्पेगे) कोई (सीसमब्भे) उसके शिर का भेदन करे (अप्पेगे) कोई (सीसमच्छे) उसके शिर का छेदन करे तो उस प्राणी को जैसा दुःख होता है उसी तरह पृथ्वीकाय के जीव को भी होता है तथापि (अप्पेगे) कोई अज्ञानी जीव (सपमारए) पृथ्वीकाय की हिंसा करते है और (अप्पेगे) कोई (उद्दवए) उपद्रव करते है (इत्थ) इस प्रकार (सत्थ) पृथ्वीकाय रूपी शस्त्र का (समारभमाणस्स) आरम्भ करते हुए पुरुष के द्वारा (इच्चेए) वे पूर्वोक्त (आरंभा) आरम्भ (अपरिण्णाया हवंति) त्यागे नहीं जाते अर्थात् आरम्भ में लगा हुआ पुरुष इन आरम्भों का त्याग नहीं करता है।

भावार्थः—पृथ्वीकाय जीव है, इसलिए उसका आरम्भ करना पाप का कारण है। यद्यपि पृथ्वीकाय का जीव देखता, सुनता, सूँघता, बोलता और चलता फिरता नहीं है, तथापि वह वेदना का अनुभव तो करता ही है। जैसे पूर्व कर्म के उदय से कोई

पुरुष मृगापुत्र के समान जन्मान्ध, बधिर-बहरा, मूक-गूंगा, कोढी, पङ्गु और हाथ-पैर आदि से रहित हो यदि कोई पुरुष उसके अवयवादि का छेदन भेदन करे, मारे, पीटे तो यद्यपि वह बोलता, चलता, फिरता और रोता नहीं है परन्तु दुःख का अनुभव तो करता ही है। इसी तरह पृथ्वीकाय को खोदने, खनने और छेदन, भेदन करने से पृथ्वीकाय का जीव भी दुःख का अनुभव तो करता ही है। इसलिए जो पुरुष तीर्थङ्कर भगवान से अथवा दूसरे साधु महात्माओं से यह सुन चुके हैं कि पृथ्वीकाय के आरम्भ से पापबन्ध होता है वे विचारवान् पुरुष पृथ्वीकाय के आरम्भ का सर्वथा त्याग कर देते हैं ॥

एत्थं सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति। तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा. णेवण्णे पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्स एए पुढविकम्म-समारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे ॥१८॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—(एत्थ) इस पृथ्वीकाय रूप (सत्थं) शस्त्र का (असमारंभमाणस्स) आरम्भ न करने वाले पुरुष को (इच्चेए) ये पूर्वोक्त (आरंभा) आरम्भ (परिण्णाया) ज्ञात (भवंति) होते हैं। (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (तं) पृथ्वीकाय के आरम्भ को कर्मबन्ध का कारण (परिण्णाय) जान कर (सयं) स्वयं (पुढविसत्थं) पृथ्वीकाय का (णेव समारंभेज्जा) आरम्भ न करे (णण्णेहिं) दूसरों के द्वारा भी (पुढविसत्थं) पृथ्वीकाय रूप शस्त्र का (णेव समारंभावेज्जा) आरम्भ न करावे, (पुढविसत्थं) पृथ्वीकाय रूप शस्त्र का (समारंभंते) आरम्भ करते हुए (अण्णे) दूसरों का (णेव समणुजाणेज्जा) अनुमोदन भी न करे। (जस्स) जिसने (एए) इन (पुढविकम्मसमारंभा) पृथ्वीकाय के आरम्भों का (परिण्णाया भवंति) त्याग कर दिया है (हु) वास्तव में (से) वही (मुणी) मुनि है और वही (परिण्णायकम्मा) कर्म के रहस्य को जानने वाला है ॥ १८ ॥ (त्ति बेमि) पूर्ववत् ॥

॥ इति द्वितीय उद्देशक ॥

❀ पहले अध्ययन का तीसरा उद्देशक ❀

से वेमि से जहा वि अणगारे उज्जुकडे णियागपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—(से) पृथ्वीकाय के आरम्भ का त्याग करने वाला वह पुरुष (जहा वि) जिस प्रकार (अणगारे) अनगार—साधु बनता है (से वेमि) वह मै बतलाता हूँ। (उज्जुकडे) सरलता युक्त एवं पूर्णरूप से संयम का पालन करने वाला (णियागपडिवण्णे) सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त हुआ और (अमायं कुव्वमाणे) माया न करता हुआ पुरुष पूर्ण अनगार (वियाहिए) कहा गया है ॥ १६ ॥

जाए सद्धाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया वियहित्तु विसोत्तियं ॥ २० ॥

अन्वयार्थः—(जाए) जिस (सद्धाए) श्रद्धा से (णिक्खंतो) दीक्षा धारण की है (विसोत्तिय) शङ्का को (वियहित्तु-विजहित्ता) छोड़कर (तमेव) उसी श्रद्धा के साथ (अणुपालेया) दीक्षा का पालन करना चाहिए ॥ २० ॥

भावार्थः—दीक्षा धारण करते समय दीक्षार्थी के परिणाम बहुत उच्च होते है। बाद मे उन परिणामो मे वृद्धि करने वाला कोई ही भाग्यवान् व्यक्ति होता है। किन्तु कितनेक व्यक्तियों के परिणाम गिर जाते हैं, इसलिए शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि यदि तुम्हारे

परिणाम बढ़ें नही तो उन्हे घटने तो नही देना चाहिए किन्तु जिन उच्च परिणामों मे दीक्षा ली है उन्हीं परिणामों के साथ जीवन पर्यन्त संयम का पालन करना चाहिए।

पणया वीरा महावीहिं, लोगं य आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—(वीरा) वीर पुरुष (महावीहिं) महावीथी यानी संयम रूप राजमार्ग को (पणया) प्राप्त करते हैं। (आणाए) तीर्थंकर भगवान् के उपदेशानुसार (लोगं य) अप्काय को (अभिसमिच्चा) समझ कर उत्तम पुरुष (अकुओभयं) समस्त भयो से रहित संयम का पालन करे ॥ २१ ॥

भावार्थ—परीषह, उपसर्ग और कषायो को जीतने में समर्थ वीर पुरुष मोक्ष प्राप्ति के लिए संयम अङ्गीकार करते हैं। यहाँ संयम को 'अकुतोभय' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि सयम स्वीकार करने वाले पुरुष से सम्पूर्ण प्राणियो को अभयदान मिल जाता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष ऐसे संयम का निरंतर पालन करे।

से बेमि णेव सयं लोगं अब्भाइक्खिज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः—(से बेमि) मै कहता हूँ कि बुद्धिमान् मनुष्य (सयं) स्वयं (लोगं) अप्काय के जीवो के अस्तित्व का (णेव अब्भाइक्खिज्जा) अपलाप न करे तथा (अत्ताणं) आत्मा का (णेव अब्भाइक्खिज्जा) अपलाप न करे। (जे) जो पुरुष (लोयं) लोक यानी अप्काय

के जीवों के अस्तित्व का (अब्भाइक्खइ) अपलाप करता है (से) वह (अत्ताणं) आत्मा का (अब्भाइक्खइ) अपलाप करता है और (जे) जो पुरुष (अत्ताणं) आत्मा का (अब्भाइक्खइ) अपलाप करता है (से) वह (लोयं) लोक यानी अप्काय के जीवों के अस्तित्व का (अब्भाइक्खइ) अपलाप करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—अप्काय के जीवों के अस्तित्व को न मानना उनका अभ्याख्यान करना है। अत: अप्काय को चेतन न मान कर जड मानना मिथ्याभाषण करना है। जो पुरुष अप्काय के जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है वह आत्मा के अस्तित्व का भी अपलाप करता है अर्थात् अनात्मवादी पुरुष ही अप्काय के जीवों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता किन्तु यह उसकी मान्यता मिथ्या एवं अज्ञानमूलक है ॥ २२ ॥

लज्जमाणा पुढो पास। अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ। तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव उदयसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेइ, अण्णे उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणइ। तं से अहियाए, तं से अबोहिए। से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु

णए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ । से बेमि संति पाणा उदयणिस्सिया जीवा अणेगे ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः—गुरु महाराज फरमाते हैं कि हे शिष्य ! (लज्जमाणा) लज्जित होने वाले अर्थात् तीन करण तीन योग से अप्काय का आरम्भ न करने वाले मुनियों को (पुढो) पृथक देखो अर्थात् अप्कायादि का आरम्भ करने वालों से भिन्न समझो। (अणगारा मो त्ति) हम अनगार हैं ऐसा (पवयमाणा) कहते हुए (एगे) कितनेक व्यक्ति (उदयकम्मसमारंभेण) अप्काय के आरम्भ द्वारा (विरूवरूवेहिं) नाना प्रकार के शस्त्रों से (इणं) इस (उदयसत्थं) अप्काय रूप शस्त्र का (समारंभमाणे) आरम्भ करते हुए (अणेगरूवे) अनेक प्रकार के (पाणे) प्राणियों की और (अण्णे) तदाश्रित अन्य प्राणियों की (विहिंसइ) हिंसा करते हैं। वे वास्तव में अनगार नहीं हैं किन्तु गृहस्थ के समान ही सावद्य क्रिया करने वाले हैं। अतः हिंसा का आचरण करते हुए भी अपने को अनगार कहने वाले अन्य-तीर्थी मिथ्यावादी हैं। अतः उत्तम साधुओं को उनका अनुकरण न करना चाहिए। (तत्थ) इस अप्काय के आरम्भ के विषय में (खलु) निश्चय ही (भगवया) भगवान् ने (परिण्णा) परिज्ञा (पवेइया) फरमाई है। (इमस्स) इस (जीवियस्स) जीवन के लिए अर्थात् इस जीवन को निरोग और चिरजीवी बनाने के लिए (परिवंदणमाणणपूयणाए) परिवन्दन यानी प्रशंसा के लिए, मान के लिए तथा पूजा प्रतिष्ठा के लिए (जाइमरणमोयणाए) जन्म-मरण से छूटने के लिए और (दुक्खपडिघायहेउं) दुःखों का नाश करने के लिए (से) वह जीव (सयमेव) स्वयं (उदयसत्थं) अप्काय रूप शस्त्र का (समारंभइ) आरंभ करता है (वा) और (अण्णेहिं) दूसरों के द्वारा (उदयसत्थं) अप्काय

रूप शस्त्र का (समारंभावेइ) आरभ करवाता है (वा) और (उदयसत्थ) अप्काय रूप शस्त्र का (समारभते) आरंभ करते हुए (अरणे) दूसरे जीवो का (समणुजाणइ) अनुमोदन करता है (त) वह अप्काय का आरंभ (से) उस आरभ करने वाले पुरुष को (अहियाए) अहित के लिए होता है (त) वह (से) उसकी (अबोहिए) बोधि यानी समकित के नाश के लिए होता है अर्थात् जो पुरुष अप्काय का आरभ करता है उसका हित नही होता है और उसे बोधि-समकित की प्राप्ति नही होती है (इह) इस संसार में (एगेसिं) कितनेक जीवों को (भगवओ) भगवान् तीर्थंकर से (वा) अथवा (अणगाराणं) साधुओं के पास से (सोच्चा) सुनकर (तं) अप्काय के आरंभ का (णाग भवइ) ज्ञान हो जाता है, तब (से) उस आरंभ को (संबुज्झमाणे) समझने वाला जीव (आयाणीग) ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादि को (समुट्ठाय) स्वीकार कर लेता है। वह जीव यह जान लेता है कि (खलु) निश्चय ही (एस) यह अप्काय का आरंभ (गथे) कर्मबन्ध का कारण है। (खलु) निश्चय ही (एस) यह अप्काय का आरभ (मोहे) मोह का कारण है। (खलु) निश्चय ही (एस) यह अप्काय का आरंभ (मारे) मृत्यु का कारण है। (खलु) निश्चय ही (एस) यह अप्काय का आरभ (णरए) नरक का कारण है फिर भी (गढिए) विषय भोगों में आसक्त (लोए) जीव (इच्चत्थ-इच्चेवमट्ठ) अपने वन्दन, पूजन और सम्मान के लिए (विरूवरूवेहिं) नाना प्रकार के (सत्थेहिं) शस्त्रो द्वारा (उदयकम्मसमारंभेण) अप्काय के आरंभ से (इणं) इस (उदयसत्थ) अप्काय रूप शस्त्र का (समारभमाणे) आरंभ करता हुआ (अरणे) दूसरे (अणेगरूवे) अनेक प्रकार के (पाणे) प्राणियों की (विहिंसइ) हिंसा करता है। (से बेमि) मै कहता हूँ कि (उदयणिस्सिया) अप्काय के आश्रय में रहने वाले (अणेगे) अनेक (पाणा) प्राणी एव (जीवा) जीव (सति) हैं ॥ २३ ॥

इहं य खलु भो ! अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ —गुरु कहते हैं कि (भो) हे शिष्य ! (इदं) इस जैन शास्त्र में (खलु) ही (अणगाराणं) साधुओं के प्रति (उदयजीवा) जल रूप जीव (वियाहिया) कहे गये हैं ॥ २४ ॥

भावार्थः—जैन शास्त्रों में अप्काय अर्थात् जल के जीव कहे गये हैं। जल के तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। अग्नि आदि शस्त्र के सम्पर्क से सचित्त जल अचित्त निर्जीव हो जाता है। ऐसे अचित्त जल को ही जैन साधु अपने उपयोग में लेते हैं, सचित्त और मिश्र जल को नहीं।

सत्थं चेत्थ अणुवीइ पास, पुढो सत्थ पवेइयं ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः—(एत्थ) इस जलकाय के विषय में (सत्थं) शस्त्र (अणुवीइ) विचार कर (पास) जानो। भगवान् ने (पुढो) भिन्न भिन्न (सत्थ) जलकाय के शस्त्र (पवेइयं) कहे हैं ॥ २५ ॥

भावार्थः—स्वकाय शस्त्र, परकाय शस्त्र और उभय शस्त्र इन तीन शस्त्रों से जल अचित्त हो जाता है। जिस जल का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श बदल गया हो वह जल अचित्त माना जाता है।

अदुवा अदिण्णादाणं ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः—(अदुवा) अथवा जो लोग सचित्त जल का उपभोग करते हैं वे केवल हिंसा ही नहीं करते हैं किन्तु वे (अदिण्णादाणं) अदत्तादान का सेवन भी करते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ:—जल, जलकाय के जीवों की सम्पत्ति है। वे उसे देते नहीं हैं किन्तु अज्ञानी जीव उनसे जबरदस्ती छीनते हैं। अतः सचित्त जल का उपभोग करने वाले अदत्तादान के भी दोषी बनते हैं ॥

कप्पइ णे कप्पइ णे पाउं अदुवा विभूसाए ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ:—अन्यतीर्थी कच्चा जल पीते हैं और उससे अपने हाथ पैर धोते हैं तथा स्नान करते हैं। यदि कोई उनसे ऐसा न करने के लिए कहता है तो वे उत्तर देते हैं कि (णे) हम लोगों को (पाउ) कच्चा जल पीना (कप्पइ) कल्पता है (अदुवा) अथवा (विभूसाए) कच्चे जल से हाथ पैर धोना, स्नान करना एवं वस्त्र आदि धोना (कप्पइ) कल्पता है ॥ २७ ॥

भावार्थ:—अन्यतीर्थियों का उपरोक्त कथन अज्ञानमूलक एव मिथ्या है ॥

पुढो सत्थेहिं विउट्टंति ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ:—अन्यतीर्थी (पुढो) भिन्न भिन्न (सत्थेहिं) शस्त्रों के द्वारा (विउट्टंति) अप्काय-जलकाय के जीवो की हिंसा करते हैं ॥ २८ ॥

एत्थ वि तेसिं णो णिकरणाए ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ:—(एत्थ वि) इस विषय में (तेसिं) उन अन्यतीर्थियों के शास्त्र भी (णो णिकरणाए) निश्चय करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि वे रागद्वेषरहित आप्त पुरुष द्वारा रचे हुए नहीं हैं ॥ २९ ॥

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं उदयसत्थं समारंभेज्जा, णेव अण्णेहिं उदयसत्थं समारंभावेज्जा, उदयसत्थं समारंभंते-वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा, जस्सेए उदयसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे । ॥ ३० ॥ त्ति बेमि ।

अन्वयार्थः—(एत्थ) इस जलकाय के ऊपर (सत्थ) जो शस्त्र का (समारभमाणस्स) प्रयोग करता है उसके द्वारा (इच्चेए) ये (आरभा) आरंभ (अपरिण्णाया) ज्ञात नहीं (भवति) हैं परन्तु (एत्थ) जो जलकाय के ऊपर (सत्थ) शस्त्र का (असमारभमाणस्स) प्रयोग नहीं करता है उसके द्वारा (इच्चेए) ये पूर्वोक्त (आरभा) आरंभ (परिण्णाया) ज्ञात (भवति) हैं। (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (त) अप्काय-जलकाय के आरंभ से हिंसा को (परिण्णाय) जानकर (सय) स्वयं (उदयसत्थ) अप्काय के शस्त्र का (णेव समारभेज्जा) आरंभ न करे, (अण्णेहिं) दूसरों से भी (उदयसत्थ) अप्काय के शस्त्र का (णेव समारभावेज्जा) आरंभ न करावे और (उदयसत्थ) अप्काय रूप शस्त्र का (समारभते वि) आरंभ करते हुए (अण्णे) दूसरों का (ण समणुजाणेज्जा) अनुमोदन भी न करे। (जस्स) जिसके द्वारा (एए) ये (उदयसत्थसमारभा) अप्काय रूप शस्त्र के आरंभ (परिण्णाया भवति) ज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा त्याग दिये गये हैं (से हु मुणी) वही मुनि है और वही (परिण्णायकम्मे) कर्म के रहस्य को जानने वाला है ॥ ३० ॥ (त्ति बेमि) पूर्ववत्। इति तृतीय उद्देशक ॥

❀ पहले अध्ययन का चौथा उद्देशक ❀

से बेमि, णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा-णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत्। इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० २२ के समान ही है। उस सूत्र में अप्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र में अग्निकाय का वर्णन है। सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ३१ ॥

जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (दीहलोगसत्थस्स) दीर्घलोक अर्थात् वनस्पति के शस्त्ररूप अग्नि का (खेयण्णे) खेदज्ञ है अर्थात् उसके स्वरूप को जानता है (से) वह (असत्थस्स) संयम के (खेयण्णे) स्वरूप को जानता है और (जे) जो पुरुष (असत्थस्स) संयम के (खेयण्णे) व्यापार को जानता है (से) वह (दीहलोगसत्थस्स) वनस्पतिकाय के शस्त्र रूप अग्नि के (खेयण्णे) व्यापार को जानता है ॥ ३२ ॥

भावार्थः—संसार में जितने भी एकेन्द्रिय प्राणी हैं उन सब से वनस्पति अर्थात वृक्ष ही बड़ा होता है। इसलिए उसे 'दीर्घलोक' कहा है। अग्नि उसे जला डालती है इसलिए अग्नि को 'दीर्घलोकशस्त्र' कहा है। संयम ही एक ऐसी वस्तु है जिससे किसी भी प्राणी का

घात नहीं होता है अतः उसे 'अशस्त्र' कहा है ॥

वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं, संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थः—(सया) सदा (अप्पमत्तेहिं) प्रमाद रहित एवं (सया) सदा (जत्तेहिं) अतिचार रहित मूलगुण और उत्तरगुण के पालन मे यत्न करने वाले (संजएहिं) संयमी (वीरेहिं) वीर तीर्थंकरों ने (अभिभूय) परीषह, उपसर्ग और ज्ञानावरणीयादि कर्मों का अभिभव करके (एयं) यह (दिट्ठं) देखा है अर्थात् अग्नि को शस्त्र रूप और संयम को अशस्त्ररूप देखा है ॥ ३३ ॥

भावार्थः—केवलज्ञानी पुरुषों ने यह फरमाया है कि अग्नि समस्त प्राणियों का घातक शस्त्र है और संयम समस्त प्राणियों का रक्षक अशस्त्र है अतः मुनि को अग्नि का आरम्भ त्याग कर शुद्ध संयम का पालन करना चाहिए ॥

जे पमत्ते गुणट्ठिए से हु दंडे त्ति पवुच्चइ ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (पमत्ते) प्रमाद करता है और (गुणट्ठिए) किसी प्रयोजन के लिए अग्नि का आरम्भ करता है (से) वह (हु) निश्चय ही (दंडे त्ति) प्राणियों को दण्ड देने वाला (पवुच्चइ) कहा जाता है ॥ ३४ ॥

भावार्थः—जो पुरुष मद्यपान और विषय सेवन करने वाला है तथा रसोई बनाने, प्रकाश करने और शीतनिवारण आदि प्रयोजनों के लिए अग्निकाय का आरम्भ करता है वह समस्त प्राणियों को दण्ड देने वाला है क्योंकि अग्नि के आरम्भ से छहों काय के जीवों का घात होता है ॥

तं परिएणाय मेहावी इयाणिं णो, जमहं पुव्वमकासा पमाएणं ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थः—(मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (तं) अग्निकाय के आरंभ को (परिएणाय) समस्त प्राणियों का घातक जान कर, यह निश्चय करे कि (पुव्व) पहले (पमाएण) प्रमाद के कारण (अहं) मैंने (ज) जो (अकासी) अग्निकाय का आरभ किया था सो (इयाणिं) अब (णो) नही करूँगा ॥ ३५ ॥

भावार्थ—अग्निकाय के आरम्भ के बुरे परिणामो को जान कर बुद्धिमान् पुरुप उसका सर्वथा त्याग कर दे।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अएणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ। तत्थ खलु भगवया परिएणा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारंभइ, अएणेहिं वा अगणिसत्थं समारं-भावेइ, अएणे वा अगणिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहिए; से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समु-ट्ठाय, सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अएणे अणेग-रूवे पाणे विहिंसइ ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत। इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० २३ के समान ही है। उस सूत्र में अप्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र में अग्निकाय का वर्णन है। सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है॥ ३६॥

से बेमि—संति पाणा पुढविणिस्सिया तणणिस्सिया पत्तणिस्सिया कट्ठणिस्सिया गोमयणिस्सिया कयवरणिस्सिया, सति संपाइमा पाणा आहच्च संपयंति, अगणिं य खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति॥ ३७॥

अन्वयार्थः—(से बेमि) मैं कहता हूँ कि (पुढविणिस्सिया) पृथ्वी के आश्रय में रहने वाले (तणणिस्सिया) तृण के आश्रय में रहने वाले (पत्तणिस्सिया) पत्तों के आश्रय में रहने वाले (कट्ठणिस्सिया) काठ के आश्रय में रहने वाले (गोमयणिस्सिया) गोबर के आश्रय में रहने वाले (कयवरणिस्सिया) कचरे के आश्रय में रहने वाले जो (पाणा) प्राणी (संति) हैं, वे अग्नि के आरम्भ से जल कर मर जाते हैं। तथा जो (संपाइमा) उड़ने वाले पतङ्ग आदि (पाणा) प्राणी (संति) हैं वे (आहच्च) उड़कर (संपयंति) अग्नि में गिरते हैं (य) और (ते) वे (अगणिं) अग्नि को (पुट्ठा) स्पर्श करके (खलु) निश्चय ही (संघायमावज्जंति) घायल हो जाते हैं और (जे) जो (तत्थ) अग्नि का स्पर्श कर (संघायमावज्जंति) घायल हो जाते हैं (ते) वे (तत्थ) वहाँ (परियावज्जंति) मूर्च्छित हो जाते हैं और (जे) जो (तत्थ) वहाँ (परियावज्जंति) मूर्च्छित हो जाते हैं (ते) वे (तत्थ) वहाँ (उद्दायंति) मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं॥ ३७॥

भावार्थः—पृथ्वीकाय तथा पृथ्वी के आश्रित और तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर तथा कचरा आदि के आश्रित जीव एवं पतङ्ग

भ्रमर मक्खी मच्छर आदि जीव अग्नि के आरम्भ स जल कर भस्म हो जाते है। अतः अग्नि के आरम्भ को छ. काय जीवों का घातक होने से पाप का कारण जान कर उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए॥

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारंभेज्जा, णेव अण्णेहि अगणिसत्थं समारंभावेज्जा, अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे न समणुजाणेज्जा, जस्सेए अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे ॥। ३८ ॥ त्ति बेमि।

अन्वयार्थः—पूर्ववत्। इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० ३० के अनुसार है। उस सूत्र मे अप्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र मे अग्निकाय का वर्णन है, सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है॥ ३८॥ (त्ति बेमि) पूर्ववत्॥

॥ इति पंचम उद्देशक ॥

❀ पहले अध्ययन का पाँचवाँ उद्देशक ❀



इस उद्देशक मे वनस्पतिकाय का वर्णन किया जाता है। यद्यपि अग्निकाय के पश्चात वायुकाय का वर्णन करना चाहिए था किन्तु वायुकाय अचाक्षुप होने से उसका ज्ञान कठिनता से होता है। वनस्पतिकाय तो सब को प्रत्यक्ष दिखाई देती है। उसका ज्ञान होना सरल है इसलिए पहले वनस्पतिकाय का वर्णन किया जाता है।

तं णो करिस्सामि समुट्ठाए, मत्ता मइमं, अभयं विइत्ता, तं जे णो करए, एसोवरए, एत्थोवरए, एस अणगारेत्ति पवुच्चइ ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि (मइमं) हे उत्तम बुद्धि वाले शिष्य ! (मत्ता) जीवादि पदार्थों के स्वरूप को जान कर तथा (समुट्ठाए) श्री तीर्थंकर देव के फरमाये हुए मार्ग के अनुसार प्रव्रज्या धारण करके एवं (अभयं) समस्त भयों से रहित संयम को (विइत्ता) जानकर, मुनि यह प्रतिज्ञा करे कि अब मे (तं) वनस्पतिकाय का आरम्भ (णो) नहीं (करिस्सामि) करूँगा। (जे) जो पुरुष (तं) वनस्पतिकाय का आरम्भ (णो) नहीं (करए) करता है (एसोवरए) वही पुरुष उपरत यानी सावद्य कर्म से निवृत्त है (एत्थोवरए) ऐसा सर्वसावद्य कर्म से निवृत्त पुरुष इस जैन शासन मे ही होता है, अन्यत्र नहीं होता है। (एस) ऐसा पुरुष ही (अणगारेति) अनगार (पवुच्चइ) कहा जाता है ॥ ३६ ॥

भावार्थः—जो वनस्पतिकाय का आरम्भ स्वय नहीं करता है, दूसरों से नहीं करवाता है और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता है, वही अनगार कहलाता है। जो इससे विपरीत आचरण करता है, वह अनगार नहीं है ॥

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ॥ ४० ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (गुणे) शब्दादि गुण है (से) वही (आवट्टे) आवर्त्त-ससार है और (जे) जो (आवट्टे) ससार है (से) वही (गुणे) शब्दादि गुण है ॥ ४० ॥

भावार्थः—शब्दादि विषयो को गुण कहते हैं और ससार को आवर्त्त कहते हैं। यद्यपि आवर्त्त शब्द का अर्थ नदी आदि का भँवर भी होता है तथापि जैसे नदी आदि के भँवर मे पडी हुई वस्तु निरन्तर भ्रमण करती रहती है इसी तरह ससार मे पडे हुए प्राणी भी निरन्तर चारो गतियों में भ्रमण करते रहते है, इसलिए यहाँ ससार के लिए आवर्त्त शब्द का प्रयोग किया गया है। शब्दादि विषयों मे जीवो की जो आसक्ति है वही ससार परिभ्रमण का कारण है। इसलिए विवेकी पुरुषो को उस आसक्ति का त्याग कर देना चाहिए ॥

उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासइ, सुणमाणे सद्दाइं सुणेइ, उड्ढं अहं तिरियं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छइ, सद्देसु आवि ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थः—(उड्ढ) ऊपर (अहं) नीचे (तिरिय) तिरछे (पाईणं) पूर्व आदि दिशाओं में (पासमाणे) देखता हुआ जीव (रूवाइ) रूपों को (पासइ) देखता है और (सुणमाणे) सुनता हुआ (सद्दाइ) शब्दों को (सुणेइ) सुनता है। (उड्ढ) ऊपर (अह) नीचे (तिरियं) तिरछे

(पाईणं) पूर्व आदि दिशाओं मे देखे जाने वाले (रूवेसु) रूपों में (मुच्छमाणे) राग करता हुआ प्राणी (मुच्छइ) उनमें मूर्च्छित होता है और इसी तरह (सद्देसु आवि) शब्दों में भी राग करता हुआ जीव बन्ध को प्राप्त होता है ॥ ४१ ॥

भावार्थः—शब्दादि कामगुण संसारपरिभ्रमण के कारण हैं। वे ऊपर, नीचे, तिरछे सर्वत्र व्याप्त है, कोई भी स्थान इनसे खाली नही है। जो पुरुप इनमे रागद्वेष करता है वह कर्मों का बन्ध करके ससारपरिभ्रमण करता है ॥

एस लोए वियाहिए, एत्थ अगुत्ते अणाणाए ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थः—(एस) यह (लोए) लोक अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द (वियाहिए) विषय कहे गये हैं। जो पुरुप (एत्थ) इन विषयों मे (अगुत्ते) अगुप्त है अर्थात् इनमे रागद्वेष करता है वह (अणाणाए) भगवान् की आज्ञा में नही है ॥ ४२ ॥

भावार्थः—यहाँ लोक शब्द से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द लिये गये हैं। जो पुरुप इनमे आसक्त होकर रागद्वेष के वशीभूत होता है वह ससारसागर मे परिभ्रमण करता है ॥

पुणो पुणो गुणासाए, वंकसमायरे ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थः—(पुणो पुणो) बारबार (गुणासाए) शब्दादि में आसक्त होकर उनका उपभोग करने वाला पुरुप (वंकसमायरे) कुटिल आचरण करने वाला होता है और इनकी प्राप्ति के लिए वह हिंसा, झूठ आदि सभी पापों का सेवन करता है ॥ ४३ ॥

पमत्त अगारमावसे ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थः—जो पुरुष (पमत्ते) प्रमत्त अर्थात् शब्दादि विषयो में आसक्त है वही (अगार) गृहस्थवास में (आवसे) निवास करता है ॥ ४४ ॥

भावार्थः—ऊपर कहे हुए शब्दादि विषयो मे जो पुरुष आसक्त हैं वे ही इन विषयों के सेवन के लिए गृहस्थवास मे निवास करते है किन्तु जो इनसे विरक्त है वे गृहसम्बन्ध को छोड कर आत्मकल्याण मे प्रवृत्त हो जाते है ॥

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहि सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा वणस्सइसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा वणस्सइसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहिए; से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्मसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत । इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० २३ के समान ही है। उस सूत्र मे अप्काय का वर्णन किया गया है

और इस सूत्र में वनस्पतिकाय का वर्णन है। सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ४५ ॥

से बेमि—इमं वि जाइधम्मयं एयं वि जाइधम्मयं, इमं वि वुड्ढिधम्मयं एयं वि वुड्ढिधम्मयं, इमं वि चित्तमंतयं एयं वि चित्तमंतयं, इमं वि छिण्णं मिलाइ एयं वि छिण्णं मिलाइ, इमं वि आहारगं एयं वि आहारगं, इमं वि अणिच्चयं एयं वि अणिच्चयं, इमं वि असासयं एयं वि असासयं, इमं वि चयोवचइयं एयं वि चयोवचइयं, इमं वि विपरिणामधम्मयं एयं वि परिणामधम्मयं ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः—(से बेमि) मे कहता हू कि जेसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (जाइधम्मय) उत्पत्ति धर्म वाला है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (जाइधम्मय) उत्पत्ति धर्म वाला है। जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (वुड्ढिधम्मय) वृद्धि धर्म वाला है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (वुड्ढधम्मय) वृद्धि धर्म वाला है जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (चितमंतय) चेतन है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (चित्तमतय) चेतन है। जेसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (छिण्ण) काट देने पर (मिलाइ) सूख जाता है वैसे ही (एयं वि) यह वनस्पतिकाय भी (छिण्णं) काट देने पर (मिलाइ) सूख जाता है। जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (आहारग) आहार करता है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (आहारग) आहार करता है। जेसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (अणिच्चय) अनित्य है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (अणिच्चय) अनित्य है। जेसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (असासय) अशाश्वत है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (असासय) अशाश्वत है। जेसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (चयोवचइय)

अपचय-ह्रास और उपचय-वृद्धि को प्राप्त होता है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (चयोवचइय) अपचय और उपचय को प्राप्त होता है। जैसे (इम वि) यह मनुष्य का शरीर (विपरिणामधम्मय) परिणामी है अर्थात् अनेक परिणामों-विकारों को प्राप्त होता है वैसे ही (एय वि) यह वनस्पतिकाय भी (विपरिणामधम्मयं) परिणामी है अर्थात् अनेक परिणामों-विकारों को प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

भावार्थः—बहुत से अन्यतीर्थी वनस्पतिकाय को अचेतन मानते है और उसके छेदन भेदन मे हिसा न होना बताते हैं किन्तु उनकी यह मान्यता अज्ञानमूलक है क्योकि जैसे हमारे चेतनायुक्त शरीर मे उत्पत्ति, वृद्धि, चेतना, चय, उपचय आदि धर्म पाये जाते हैं वैसे ही वे सारे धर्म वनस्पतिकाय मे भी पाये जाते है। इसलिए वनस्पति चेतन है, अचेतन नहीं।

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं वणस्सइसत्थं समारंभावेज्जा, वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेए णेवण्णे वणस्सइसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे ॥ ४७ ॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत्। इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० ३० के अनुसार है। उस सूत्र मे अप्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र मे वनस्पतिकाय का वर्णन है। सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ४७ ॥ (त्ति बेमि) पूर्ववत् ॥

॥ इति पंचम उद्देशक ॥

❀ पहले अध्ययन का छठा उद्देशक ❀

से बेमि–संतिमे तसा पाणा, तंजहा––अंडया, पोयया, जराउया, रसया, संसेयया, सम्मुच्छिमा, उब्भियया, उववाइया, एस संसारे त्ति पवुच्चइ ॥ ४८ ॥

अन्वयार्थः—(से बेमि) मैं कहता हूँ (इमे) ये (तसा) त्रस (पाणा) प्राणी (संति) हैं (तंजहा) जैसे कि (अंडया) अण्डे से उत्पन्न होने वाले कबूतर, मुर्गा आदि (पोयया) पोतज अर्थात् जन्म के समय चर्म से आवृत होकर कोथली सहित उत्पन्न होने वाले अथवा बच्चा रूप से उत्पन्न होने वाले हाथी, चमगादड़ आदि (जराउया) जरायुज यानी जम्बाल से वेष्टित होकर उत्पन्न होने वाले गाय, भैंस तथा मनुष्य आदि (रसया) विकृत रस में उत्पन्न होने वाले (संसेयया) पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, खटमल आदि (सम्मुच्छिमा) माता-पिता के संयोग बिना उत्पन्न होने वाले कीड़ी मक्खी आदि (उब्भियया) उद्भिज अर्थात् जमीन को फोड़कर उत्पन्न होने वाले पतङ्ग खञ्जरीट आदि (उववाइया) औपपातिक अर्थात् उपपात शय्या में उत्पन्न होने वाले देव नारक (एस) ये सब (संसारेत्ति) संसार (पवुच्चइ) कहे जाते हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थः—ये आठ प्रकार के त्रस कहे गये हैं। ये संसार में सदा विद्यमान रहते हैं। संसार इनसे कभी भी खाली नहीं होता क्योंकि इन प्राणियों का ही नाम संसार है।

मंदस्सावियाणओ ॥ ४६ ॥

अन्वयार्थः—(मन्दस्स) मन्द पुरुष की और (अवियाणओ) अज्ञानी पुरुष की ही संसार में उत्पत्ति होती है ॥ ४६ ॥

भावार्थः—जो प्राणी हित और अहित का विचार करने में बालक के समान असमर्थ है वह मन्द कहलाता है और जो कुशास्त्र के श्रवण और कुसङ्ग के कारण विपरीत बुद्धि वाला है वह अज्ञानी है। ये मन्द और अज्ञानी पुरुष ही बार-बार ससार मे उत्पन्न होते रहते हैं।

णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्ति बेमि, तसंति पाणा दिसो दिसासु य ॥ ५० ॥

अन्वयार्थः—(णिज्झाइत्ता) मन से चिन्तन करके और (पडिलेहित्ता) यथार्थ रूप से निश्चय करके (त्ति बेमि) मै कहता हूँ कि (सव्वेसिं) सब (पाणाण) प्राणी (सव्वेसि) सब (भूयाण) भूत (सव्वेसि) सब (जीवाण) जीव और (सव्वेसिं) सब (सत्ताण) सत्त्वों को (पत्तेय) अलग अलग (परिणिव्वाण) सुख (असाय) असाता (अपरिणिव्वाण) अपरिनिर्वाण (महब्भय) महान् भय और (दुक्ख) दुःख का अनुभव होता है। (पाणा) सभी त्रस प्राणी (पदिसो दिसासु य) दिशाओं और विदिशाओं में (तसंति) नाश की शंका से डरते रहते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थः—विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय जीवों को प्राण कहते हैं। वनस्पतिकाय को भूत कहते हैं। पचेन्द्रिय प्राणियों को जीव कहते हैं और पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय इन चार स्थावर जीवों को सत्त्व कहते हैं। जब तक

संयम स्वीकार न किया जाय तब तक ये जीव चाहे किसी दिशा में या विदिशा में रहें किन्तु भयभीत ही होते रहते हैं। इसलिए जो इनकी हिंसा से सर्वथा निवृत्त हो जाता है, वही मुनि है ॥

तत्थ तत्थ पुढो पास आउरा परितावेंति, संति पाणा पुढो सिया ॥ ५१ ॥

अन्वयार्थः—(तत्थ तत्थ पुढो) भिन्न भिन्न प्रयोजनों के लिए (आउरा) विषयासक्त प्राणी (परितावंति) इन जीवों का घात करते हैं। (पाणा) ये प्राणी (सिया) पृथ्वी आदि के आश्रित और (पुढो) भिन्न भिन्न स्थानों में अर्थात् सर्वत्र (संति) हैं ॥ ५१ ॥

भावार्थः—ये प्राणी सर्वत्र हैं। ऐसा कोई स्थान नहीं जो इनसे खाली हो। इसलिए समिति और गुप्ति के पालन से ही मनुष्य इनकी हिंसा से बच सकता है ॥

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव तसकायसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहिए; से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय, सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे,

एस खलु णरए, इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ ५२ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत्। इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० २३ के समान ही है। उस सूत्र मे अप्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र मे त्रसकाय का वर्णन है। सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है॥ ५२ ॥

से बेमि—अप्पेगे अच्चाए वहंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए बालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणीए अट्ठीए अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा वहंति अप्पेगे हिंसंति मे त्ति वा वहंति अप्पेगे हिंसिस्संति मे त्ति वा वहंति ॥ ५३ ॥

अन्वयार्थः—(से बेमि) मैं कहता हूँ कि (अप्पेगे) कितनेक जीव (अच्चाए) प्राणियों के शरीर का भोग देने के लिए अथवा विद्या मन्त्र आदि की सिद्धि के लिए लक्षणवान् पूर्णाङ्ग पुरुष को एव प्राणियों को (वहति–हणति) मारते हैं। (अप्पेगे) कोई (अजिणाए) चर्म के लिए शेर, चीता आदि त्रस प्राणियों को (वहति) मारते हैं। (अप्पेगे) कोई (मसाए) मास के लिए सूअर आदि को (वहति) मारते हैं (अप्पेगे) कोई (सोणियाए) लोही के लिए (वहति) मारते हैं (एव) इसी तरह कोई (हिययाए) हृदय के लिए, कोई (पित्ताए) पित्त के लिए मोर आदि को, (वसाए) चर्बी के लिए मगरमच्छ आदि को, (पिच्छाए) पांख के लिए मोर गृद्ध पक्षी आदि को, (पुच्छाए)

पूछ के लिए रोझ आदि को (वालाए) वेशों के लिए चमरी गाय आदि को, (सिंगाए) सींगों के लिए मृगविशेष एवं शरद सींगे को, (विसाणाए) अन्धकार विनाशक दांत विशेष के लिए शृगालादि को, (दंताए) हाथीदांत के लिए हाथी को, (दाढाए) दाढ के लिए सूअर आदि को (णहाए) नख के लिए व्याघ्र को, (ण्हारुणीए) स्नायु के लिए गाय भैंस आदि को, (अट्ठीए) हड्डी के लिए शख शीप आदि को, (अट्ठिमिंजाए) हड्डी की चर्बी के लिए भैसे और सूअर आदि को (अट्ठाए) उपरोक्त प्रयोजनों के लिए अथवा (अणट्ठाए) विना प्रयोजन भी त्रस प्राणियों का घात करते हैं। (अप्पेगे) कोई तो (मे) "इस प्राणी ने मेरे आत्मीय एव सम्बन्धी को (हिंसिंसु) मारा था" (त्ति) इस द्वेष से (वहंति) उसे मारते हैं (वा) और (अप्पेगे) कोई (मे) 'यह प्राणी मुझको या मेरे सम्बन्धी को (हिंसति) मार रहा है' (त्ति) यह जान कर (वहंति) उसे मारते हैं (वा) अथवा (अप्पेगे) कोई (मे) यह प्राणी मुझको या मेरे सम्बन्धी को (हिंसिस्सति) मारेगा (त्ति) यह जान कर (वहंति) मारते हैं ॥ ५३ ॥

भावार्थः—इस जगत मे बहुत से विषयासक्त प्राणी अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए भिन्न भिन्न प्रयोजनों से त्रस प्राणियों की हिसा करते हैं और बहुत से अज्ञानी जीव ऐसे भी होते हैं जो विना प्रयोजन केवल अपने चित्तविनोद के लिए तथा प्रमाद के कारण त्रस प्राणियो की हिसा करते हैं। यह सब कर्मबन्ध का कारण है अतः मुमुक्षु ज्ञानी पुरुष सयम धारण करके त्रस हिंसा का सर्वथा त्याग कर देते हैं ॥

एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकायसत्थं समारंभेज्जा, णेव अण्णेहि तसकायसत्थं समारंभावेज्जा,

णेव अण्णे तसकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेए तसकायसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णाय-कम्मे ॥ ५४ ॥ त्ति बेमि ।

अन्वयार्थः—पूर्ववत्। इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र नं० ३० के अनुसार है। उस सूत्र मे अप्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र मे त्रसकाय का वर्णन है, सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ५४ ॥ (त्ति बेमि) पूर्ववत् ॥

॥ इति षष्ठ उद्देशक ॥

❀ पहले अध्ययन का सातवाँ उद्देशक ❀



पहू एजस्स दुगुंछणाए ॥ ५५ ॥

अन्वयार्थः—जो पुरुष वायुकाय को चेतन जानता है वह (एजस्स) वायुकाय के (दुगुंछणाए) आरम्भ से निवृत्त होने में (पहू) समर्थ होता है ॥ ५५ ॥

भावार्थः—जो वायुकाय को सचेतन नहीं मानते हैं वे वायुकाय के आरम्भ से निवृत्त नहीं हो सकते किन्तु जो वायुकाय को सचेतन जानते है वे ही इसके आरम्भ का त्याग कर सकते हैं।

आयंकदंसी अहियं ति णच्चा, जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ, एयं तुलमण्णेसिं ॥ ५६ ॥

अन्वयार्थः—(आयंकदंसी) वायुकाय के आरम्भ से होने वाले उसके दुःख को देखने वाला एवं जानने वाला पुरुष (अहियं ति) वायुकाय के आरम्भ को अहितकारी (णच्चा) जान कर उसका त्याग कर देता है। (जे) जो (अज्झत्थं) अपने सुख दुःखो को (जाणइ) जानता है (से) वह (बहिया) बाहर के अर्थात् दूसरे प्राणियों के सुख दुःखों को भी (जाणइ) जानता है और (जे) जो (बहिया) बाहर के अर्थात् दूसरे प्राणियों के सुख दुःखों को (जाणइ) जानता है (से) वह (अज्झत्थं) अपने सुख दुःखो को भी (जाणइ) जानता

है। (एय) इस तरह (अन्नेसिं) दूसरे प्राणियो मे भी (तुलं) अपने समान ही सुख दुख समझना चाहिए ॥ ५६ ॥

भावार्थः—जो पुरुष यह जानता है कि 'जिस प्रकार मुझे सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है उसी प्रकार दूसरे समस्त प्राणियो को भी सुख प्रिय और दु ख अप्रिय है' वही पुरुष वायुकाय के आरम्भ का एव समस्त प्राणियो के आरम्भ का त्याग करने मे समर्थ होता है ॥

इह संतिगया दविया णावकंखति जीविउं ॥ ५७ ॥

अन्वयार्थः—(इह) इस जैन शासन मे (संतिगया) शाति को प्राप्त (दविया) द्रविक अर्थात् संयमी मुनि (जीविय) जीना यानी वायुकाय का आरम्भ करके असंयमपूर्ण जीवन की (णावकखति) इच्छा नहीं करते हैं।

भावार्थः—सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप शान्ति को प्राप्त सयमी मुनि वायुकाय का आरम्भ नहीं करते।

लज्जमाणा पुढो पास, अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहि वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ। तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव वाउसत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणइ, तं से अहियाए, तं से अबोहिए; से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु

णरए, इच्चत्थं गढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अएणे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ॥ ५८ ॥

अन्वयार्थः—पूर्ववत् । इस सूत्र का अन्वयार्थ सूत्र न० २३ के समान है । उस सूत्र मे अप्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र मे वायुकाय का वर्णन है । सिर्फ इतना ही फर्क है । बाकी सारा अर्थ समान है ॥ ५८ ॥

से बेमि–संति सपाइमा पाणा आहच्च संपयंति य फरिसं य खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति, जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति, जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति, एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा अपरिण्णाया भवति, एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेए आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारंभेज्जा, णेवएणेहिं वाउसत्थं समारंभावेज्जा, णेव अएणे वाउसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेए वाउसत्थसमारंभा परिण्णाया भवति से हु मुणी परिण्णायकम्मे ॥ ५९.॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—(से बेमि) मै कहता हूँ कि (सपाइमा) उड़कर चलने वाले (पाणा) बहुत से प्राणी (संति) है । वे (आहच्च) वायु के आघात से (संपयंति) गिर पड़ते है (य) और (खलु) निश्चय ही (एगे) वे जीव (फरिस) वायुकाय के स्पर्श को (पुट्ठा) प्राप्त करके (संघायमावज्जति) घायल हो जाते हैं (जे) जो (तत्थ) वहा (संघायमावज्जति) घायल हो जाते है (ते) वे (तत्थ) वहा (परियावज्जति) मूर्च्छित हो जाते

हैं। (जे) जो (तत्थ) वहां (परियावज्जति) मूर्च्छित हो जाते हैं (ते) वे (तत्थ) वहा (उद्दायति) मृत्यु को प्राप्त हो जाते है।

इसके आगे सम्पूर्ण पाठ का अन्वयार्थ सूत्र न० ३० के अनुसार है। उस सूत्र मे अप्काय का वर्णन किया गया है और इस सूत्र मे वायुकाय का वर्णन है। सिर्फ इतना ही फर्क है। बाकी सारा अर्थ समान है॥ ५९ ॥

एत्थं वि जाण उवाईयमाणा, जे आयारे ण रमंति, आरंभमाणा विणयं वयंति, छंदोवणीया अज्झोववण्णा सत्ता पकरंति संगं॥ ६० ॥

अन्वयार्थः—(एत्थ वि) वायुकाय तथा पृथ्वीकाय आदि किसी एक काय के आरम्भ से भी प्राणी (उवाईयमाणा) शेष कायों के वध से होने वाले पाप का भागी होता है ऐसा (जाण) जानो। (जे) जो पुरुष (आयारे) आचार में (ण रमति) प्रेम नहीं रखते हैं उन्हें आरम्भजनित पापकर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार (आरभमाणा) छः काय जीवों का आरम्भ करते हुए भी (विणयं) वे अपने आपको संयमी (वयंति) कहते हैं (छंदोवणीया) वे अपनी इच्छानुसार आचरण करते है और (अज्झोववण्णा) विषयों में आसक्त रहते हैं। (आरंभसत्ता) वे आरम्भ में आसक्त होकर (संग पकरंति) सावद्य कर्म का अनुष्ठान करते हैं॥ ६० ॥

भावार्थः—कितनेक अन्यतीर्थी अपने आपको साधु कहते हैं किन्तु जीवाजीव का वास्तविक ज्ञान न होने के कारण वे पृथ्वी-कायादि छः काय जीवों का आरम्भ करते हुए पापकर्म के भागी होते हैं॥

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसिं, तं परिण्णाय मेहावी णेव

सयं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभेज्जा, णेव अरणेहि छज्जीवणिकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेव अरणे छज्जीवणिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा, जस्सेए छज्जीवणिकायसत्थसमारंभा परिरणाया भवंति से हु मुणी परिरणायकम्मे ।६१। त्ति बेमि ।

अन्वयार्थः—(वसुम) जो पुरुष सम्यक्त्वादि भाव धन से युक्त है (से) वह (सव्वसमरणागयपरणाणेण अप्पाणेण) वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान कर अपनी आत्मा द्वारा (अकरणिज्ज) अकरणीय यानी न करने योग्य (पाव कम्म) पापकर्म (णो अरणेसिं) न करे। (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (त) इस विषय को (परिरणाय) जान कर (सय) स्वय (छज्जीवनिकायसत्थ) छ काय जीवों का (णेव समारंभेज्जा) आरम्भ न करे, (अरणेहिं) दूसरों से (छज्जीवनिकायसत्थ) छ. काय के जीवों का (णेव समारंभावेज्जा) आरम्भ न करावे और (छज्जीवनिकायसत्थं) छ काय के जीवों का (समारभंते) आरम्भ करने वाले (अरणे) दूसरों की (णेव समणुजाणेज्जा) अनुमोदना भी न करे। (जस्स) जिस पुरुष ने (एए) इन (छज्जीवनिकायसत्थसमारभा) छ काय जीवों के आरम्भ को (परिरणाया भवति) जान कर त्याग कर दिया है (से हु) वही (परिरणायकम्मे) कर्मों के रहस्य को जानने वाला (मुणी) मुनि है ॥ ६१ ॥ (त्ति बेमि) पूर्ववत् ॥

॥ इति प्रथममध्ययनम् ॥

लोकविजय नामक दूसरा अध्ययन

पहला उद्देशक

पहले अध्ययन में पृथ्व्यादि छ काय जीवों का तथा उनके शस्त्रों का वर्णन किया गया है। इनके स्वरूप को जानने वाला मुनि ही रागादि कषायों पर और शब्दादि विषयों पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसलिए इस दूसरे अध्ययन में उनको जीतने के उपायों का वर्णन किया जाता है। यहाँ लोक शब्द से रागादि कषाय और शब्दादि विषय लिये गये हैं। इस अध्ययन में उनको जीतने के उपायों का वर्णन होने से इसका नाम भी 'लोकविजय' अध्ययन है। इसमें छ उद्देशक हैं। 'सूत्र और अर्थ को जानने वाले मुमुक्षु पुरुष को माता-पितादि स्वजनवर्ग में मोह नहीं करना चाहिए' इस बात का वर्णन पहले उद्देशक में किया गया है।

जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे। इइ से गुणट्ठी महया परियावेणं पुणो पुणो वसे पमत्ते तंजहा—माया मे, पिया मे, भाया मे, भइणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहिसयणसंगंथसंथुया मे, विवित्तोवगरणपरिवट्टणभोयणच्छायणं मे, इच्चत्थं गढिए लोए वसे पमत्ते अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो पुणो, अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणवाणं ॥६२॥

अन्वयार्थ.—(जे) जो (गुणे) शब्दादि गुण है (से) वे ही (मूलट्ठाणे) संसार के मूलकारण कषायों के स्थान हैं और (जे) जो (मूलट्ठाणे) संसार के मूलकारण कषायों के स्थान है (से) वे ही (गुणे) शब्दादि गुण है (इइ) इसलिए जो पुरुष (गुणट्ठी) शब्दादि विषयों की इच्छा करता है (से) वह (महया) महान् (परियावेण) परिताप के साथ (पुणो पुणो) वार वार (वसे) इस संसार में जन्म धारण करता है और (पमत्ते) प्रमाद में पड़ा रहता है। (मे) मेरी (माया) माता है, (मे) मेरा (पिया) पिता है, (मे) मेरा (भाया) भाई है, (मे) मेरी (भइणी) वहिन है, (मे) मेरी (भज्जा) स्त्री है, (मे) मेरे (पुत्ता) पुत्र है, (मे) मेरी (धूया) पुत्री है, (मे) मेरी (सुण्हा एहुमा) पुत्रवधू है (मे) मेरे (सहिसयणसंगयसथुया) मित्र हैं, स्वजन हैं, सम्बन्धी हैं, परिचित हैं, (मे) मेरे (विवित्तोवगरणपरिवट्टणभोयणच्छायण) विविध प्रकार के उपकरण हाथी, घोड़े आदि वाहन, भोजन और वस्त्र आदि है। (इच्चत्थ) इस प्रकार इन वस्तुओं को अपनी समझ कर (लोए) अज्ञानी जीव (गढिए वसे) इनमे अत्यन्त आसक्त रहता है और (पमत्ते) अपने कल्याण के अनुष्ठान में प्रमाद करता है (य) और (अहो य राओ) रात दिन (परितप्पमाणे) इनकी चिन्ता से संतप्त रहता हुआ इनकी रक्षा के लिए (कालाकालसमुट्ठाई) काल और अकाल में यानी समय और कुसमय में उठ कर कठिन परिश्रम करता है, (विणिविट्ठचित्ते) अपने आत्मीय और प्रियजनों मे दत्तचित्त रहता है और (सजोगट्ठी) सदा उनका संयोग चाहता है। उनके पालनार्थ (अट्ठालोभी) धन का लोभी वन कर (आलुपे) चोरी करता है और (सहसाकारे) विना विचारे पापमय कार्य करता है। वह अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए (पुणो पुणो) बारबार (एत्थ सत्थ) पृथ्वीकाय आदि का आरम्भ करता है। (इह) इस संसार में (खलु) निश्चय ही (एगेसिं माणवाण) कितने ही मनुष्यो की (आउयं) आयु (अप्पं) बहुत थोड़ी होती है अतः इस थोड़ी सी आयु के लिए पाप करना भारी मूर्खता है ॥ ६२ ॥

भावार्थः—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच गुण हैं। इन मे से मनोज्ञ मे राग और अमनोज्ञ मे द्वेष उत्पन्न होता है। ये राग-द्वेष ही ससार के मूल कारण है। जो पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नही जानता है वह माता-पिता स्वजन-सम्बन्धी आदि मे ममत्व स्थापित करके उनके सुख के लिए अपने सुख को तिलाञ्जली देकर समय असमय का ख्याल न करके कठिन परिश्रम करता है। हिंसा, झूठ, चोरी और कपट आदि पापकर्यों के द्वारा धन का सग्रह करता है, वह यह नही सोचता कि 'जिनके पालन के निमित्त मै घोर पाप करने मे भी नहीं हिचकिचाता हूँ वे लोग मेरी आत्मा के लिए इस लोक और परलोक मे क्या सहायक हो सकते हैं? उनके जीवन को सुखमय बनाने के लिए ये पाप किये जाते है, वह जीवन भी तो अत्यल्प और अत्यन्त चञ्चल है फिर इस स्वल्प जीवन के लिए इतना घोर पाप क्यो किया जाय' यह अज्ञानी जीव इतना भी नही सोचता है। अतः विवेकी पुरुष को किसी म भी ममता तथा राग द्वेष न रखते हुए अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

तंजहा—सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, घाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, रसणापरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, फासपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं अभिक्कंतं य खलु वयं संपेहाए तओ से एगया मूढभावं जणयइ ॥ ६३ ॥

अन्वयार्थः—(सोयपरिण्णाणेहि) श्रोत्र-कान की शब्द सुनने की शक्ति (परिहायमाणेहिं) हीन हो जाने पर (चक्खुपरिण्णाणेहिं) नेत्र की देखने की शक्ति (परिहायमाणेहिं) क्षीण हो जाने पर (घाणपरिण्णाणेहिं) नाक की सूंघने की शक्ति (परिहायमाणेहिं) हीन हो जाने पर (रसणापरिण्णाणेहिं) रसना-जिह्वा की रस ग्रहण करने की शक्ति (परिहायमाणेहिं) क्षीण हो जाने पर और (फासपरिण्णाणेहिं) स्पर्शज्ञान के (परिहायमाणेहिं) क्षीण हो जाने पर (य) और (तओ) इसके बाद (अभिक्कत-अइक्कत) बीती हुई (वय) आयु को (सपेहाए) देखकर (खलु)

निश्चय ही (से) वह मनुष्य (एगया) कभी-कभी (मूढभाव) मूढ़ता को (जणयइ) प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

भावार्थः—श्रोत्र, नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा ही आत्मा प्रत्येक वस्तु का ज्ञान करता है और उन्हीं के द्वारा रूप रसादि विषयों को ग्रहण करता है परन्तु जब वृद्धावस्था आती है तब इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है तब वह मनुष्य विवेकशून्य हो जाता है क्योंकि हित की प्राप्ति और अहित का परित्याग इन्द्रियों की शक्ति रहते हुए ही हो सकता है किन्तु वृद्धावस्था मे सब इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है तब वृद्ध मनुष्य चिन्ता और अविवेक से मूढ बन जाता है। अतः विवेकी मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियों की शक्ति रहते हुए धर्माचरण में एक क्षणमात्र भी प्रमाद न करे ताकि वृद्धावस्था आने पर उसे चिन्तित एवं मूढ न होना पड़े ॥

जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वि णं एगया णियगा पुव्विं परिवयंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवएज्जा, णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं वि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा, से ण हासाए ण किड्डाए ण रइए ण विभूसाए॥६४॥

अन्वयार्थः—(जेहिं सद्धिं) जिनके साथ (संवसइ) वह निवास करते है (ते) वे (णियगा) उस वृद्ध के पुत्र, पुत्री, स्त्री एवं आत्मीय जन (एगया) एकदा-किसी समय (पुव्विं पच्छा) पहले या पीछे (परिवयंति) उसकी निन्दा करते हैं एव उसका अनादर करते है (वा) अथवा (सो) वह वृद्ध मनुष्य भी (ते) उन (णियगे) अपने पुत्र कलत्रादि एव आत्मीय जनों की (परिवएज्जा) निन्दा करता है। अतः शास्त्रकार उस वृद्ध पुरुष को लक्ष्य करके कहते है कि हे वृद्ध! (तव) तुम्हारे (ते) वे पुत्र कलत्रादि (ताणाए) तुम्हारी रक्षा करने में (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने में (णालं) समर्थ नहीं हैं। (वा) और (तुमं वि) तुम भी (तेसिं) उनकी (ताणाए वा) रक्षा करने में (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने मे (णालं) समर्थ नहीं हो। (से) वह वृद्ध मनुष्य (ण हासाए) न हसी के लिए (ण किड्डाए) न क्रीडा

के लिए, (ण रइए) न रति के लिए और (ण विभूसाए) न विभूषा के लिए योग्य रहता है ॥ ६४ ॥

भावार्थः—वृद्धावस्था बडी दुःखरूप है उसके आने पर दूसरे लोग तो क्या किन्तु अपने द्वारा पालन पोषण किये गये निज के पुत्र, पुत्री तथा स्त्री आदि आत्मीयजन भी उसकी निन्दा करते है और कहते हैं कि यह बुड्ढा कब मरेगा और कब इससे पिण्ड छुटेगा ? इस प्रकार अनादर को प्राप्त हुआ बुड्ढा दुःखी होकर अपने पुत्र, पुत्री और स्त्री आदि की निन्दा करता है और क्रोधित होकर उन्हे गालियाँ देता है। इस प्रकार वह बुड्ढा मनुष्य स्वय दुःखी होता है और अपने परिवार को भी दुःखी बनाता है। अत वृद्धावस्था बडी ही दुःखदायिनी है। वह जब तक न आवे तब तक ही मनुष्य को अपने कल्याणमार्ग मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए ॥

इच्चेवं समुट्ठिए अहोविहाराए अंतरं य खलु इमं संपेहाए धीरो मुहुत्तमवि णो पमायए वओ अच्चेइ जोव्वणं य ॥६५॥

अन्वयार्थः—मित्र आदि तथा पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि रक्षा करने में समर्थ नही हो सकते है (इच्चेव) यह जान कर मनुष्य (समुट्ठिए) कल्याण के लिए उद्यत होवे और (अहोविहाराए) शास्त्रोक्त रीति से संयम का पालन करे (य) और (खलु) निश्चय ही (धीरो) धीर पुरुष (इम अतर) आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल मे उत्पत्ति आदि प्राप्त हुए सुअवसर को (सपेहाए) देख कर (मुहुत्तमवि) क्षण भर भी (णो पमायए) प्रमाद न करे क्योंकि (वओ) आयु (अच्चेइ) शीघ्रता से बीती जा रही है (य) और (जोव्वण) यौवन तो नदी के वेग के समान अतिशीघ्रता पूर्वक बीता जा रहा है ॥ ६५ ॥

भावार्थः—आयुष्य ओसबिन्दु के समान चंचल है और यौवन तो पर्वत से उतरने वाली नदी के वेग के समान अतिशीघ्रता पूर्वक व्यतीत होने वाला है। अत आर्यक्षेत्र उत्तमकुल आदि को प्राप्त करके बुद्धिमान् पुरुष को एक क्षण भर भी धर्मकार्य मे प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥

जीविए इह जे पमत्ता, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवित्ता उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं पोसेंति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसिज्जा, णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं वि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा ॥ ६६ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो अज्ञानी (इह) इस (जीविए) जीवन में (पमत्ता) प्रमादयुक्त है अर्थात् भूले हुए हैं, वे प्राणियों के नाश की क्रिया मे प्रवृत्ति करते हैं, तथा (से) वे अज्ञानी जीव (हंता) प्राणियो का हनन करते है (छेत्ता) उनके अङ्गों का छेदन करते है (भेत्ता) उनके शिर और नेत्र आदि का भेदन करते है (लुंपित्ता) लोगो की गांठ काटते है (विलुंपित्ता) इन्द्रियो का छेदन-भेदन करते है (उद्दवित्ता) विष और शस्त्रादि का प्रयोग करके प्राणियों के प्राणों का हरण करते है और (उत्तासइत्ता) प्राणियो को अनेक प्रकार से भय और त्रास देते है। (मण्णमाणे) अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि (अकडं) आज तक जो कार्य किसी ने नही किया वह कार्य (करिस्सामित्ति) मै करूँगा, ऐसा मानकर द्रव्य उपार्जन के लिए पापकर्म करता है किन्तु लाभान्तराय के उदय से धन न मिलने पर अथवा प्राप्त धन का विनाश हो जाने पर (जेहिं सद्धिं) जिनके साथ (संवसइ) वह निवास करता है (ते) वे (णियगा) पुत्र कलत्रादि आत्मीय जन (एगया) किसी समय (पुव्विं) पहले (तं) उस पुरुष का (पोसेंति) पोषण करते है (वा) अथवा धनसम्पन्न होने पर (सो) वह (पच्छा) पीछे या पहले किसी समय (ते) उन (णियगे) पुत्र कलत्रादि आत्मीय जनो का (पोसिज्जा) पालन पोषण करता है। ऐसे पुरुष को लक्ष्य करके शास्त्रकार कहते हैं कि हे देवानुप्रिय ! (ते) वे पुत्र कलत्रादि आत्मीयजन (तव) तुम्हारी (ताणाए) रक्षा करने में (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने मे (णालं) समर्थ नही हैं (वा) तथा (तुमं वि) तुम भी (तेसिं) उनकी (ताणाए) रक्षा करने मे (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने मे (णालं) समर्थ नही हो ॥ ६६ ॥

भावार्थः—विषयभोगो मे आसक्त अज्ञानी जीव त्रस और स्थावर सभी प्राणियो का नाना प्रकार से घात करता है और पुत्र कलत्रादि एव कुटुम्ब परिवार के पालनपोषणार्थ धनोपार्जन करने के लिए वह नानाविध पापाचरण करता है किन्तु वे उसके लिए त्राण-शरण रूप नही हो सकते ॥

उवाइयसेसेण वा संणिहिसंणिचओ किज्जइ, इहमेगेसिं असंजयाण भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पजंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया णियगा तं पुव्विं परिहरंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिहरेज्जा, णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं वि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा ॥ ६७ ॥

अन्वयार्थः—(उवाइयसेसेण) खाने के पश्चात् जो वच जाता है उससे कोई धनसंग्रह करता है (वा) अथवा (सणिहिसणिचओ) कोई खाने में अत्यन्त कृपणता करके भी धन का संग्रह (किज्जइ) करता है। (इह) इस संसार मे (एगेसिं) कितनेक (असजयाण) असयमी प्राणी (भोयणाए) अपने भोग के लिए द्रव्य का सचय करते है, परन्तु (एगया) कभी ऐसा होता है कि (तओ) धन उपार्जन करने के पश्चात् भोग के समय (से) उस पुरुष के शरीर में (रोगसमुप्पाया समुप्पज्जति) रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तब (जेहिं सद्धिं) जिनके साथ (सवसइ) वह निवास करता हैं (ते) वे (णियगा) पुत्रकलत्रादि आत्मीय जन (एगया) किसी समय (पुव्विं) पहले ही (तं) उस पुरुष को (परिहरति) छोड़ देते है (वा) अथवा (सो) वह पुरुष (ते) उन (णियगे) आत्मीय जनों को (पच्छा) पीछे (परिहरेज्जा) छोड़ देता है। ससार की ऐसी ही स्थिति है, इसे देख कर शास्त्रकार कहते है कि हे भव्यजीवो! (ते) वे पुत्र कलत्रादि आत्मीय जन (तव) तुम्हारी (ताणाए) रक्षा करने मे (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने मे (णाल) समर्थ नहीं हैं (वा) और (तुम वि) तुम भी (तेसिं)

उन पुत्र कलत्रादि आत्मीय जनों की (ताणाए) रक्षा करने में (वा) अथवा (सरणाए) शरण देने मे (णाल) समर्थ नहीं हो ॥ ६७॥

भावार्थः—ससारी जीव नाना कष्ट उठा कर धन सञ्चय करते हैं। वे समझते हैं कि यह सग्रह किया हुआ द्रव्य भविष्य मे हमारे तथा हमारे सम्बन्धियो के काम मे आवेगा तथा इस धन का यथेच्छ उपभोग करेंगे और इस धन से हम अपनी रक्षा कर सकेंगे ऐसा सोच कर नाना प्रकार के कष्ट सहन करके धन का संग्रह करते हैं। वे न तो स्वय पेट भर खाते हैं और न अपने परिवार वालो को ही खाने देते है। परन्तु इस तरह कष्ट पूर्वक उपार्जन किया हुआ धन भी उनकी रक्षा नहीं कर सकता। बहुत बार यह भी देखा जाता है कि भोगने के समय मे उस पुरुष को रोग आकर घेर लेते हैं और वह उस सम्बन्धित धन का भोग नहीं कर सकता। दूसरे लोग ही उस धन का उपभोग करते हैं। वह तो केवल परिश्रम और पाप का भागी होता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषो को धन की तृष्णा से अपने अमूल्य समय को नष्ट करना उचित नही है॥

जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ॥ ६८ ॥

अन्वयार्थः—प्राणियों को (साय) सुख और (दुक्ख) दु ख (पत्तेय) प्रत्येक यानी अलग अलग भोगना पड़ता है। (जाणित्तु) यह जान कर रोग आने पर उस कष्ट को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

भावार्थः—ससार मे जितने प्राणी हैं सभी अपने किये कर्म के फलरूप सुख दु ख को अकेले ही भोगते है। कोई किसी के सुख दु ख का भागी नहीं होता तथा वह कर्मफल अवश्य ही भोगना पडता है, विना भोगे उससे छुटकारा नहीं होता है। अत ऐसा विचार कर विवेकी पुरुष को समभावपूर्वक उस दुःख को सहन कर लेना चाहिए॥

अणभिक्कंतं य खलु वयं संपेहाए॥ ६९ ॥

अन्वयार्थः—(अणभिक्कत) बीती हुई अपनी (वय) आयु को (सपेहाए) देख कर (खलु) निश्चय ही विवेकी पुरुष आत्म कल्याण के लिए प्रयत्न करें ॥ ६९ ॥

भावार्थः—जब तक इन्द्रियो की शक्ति क्षीण नही हो जाती तब तक ही मनुष्य को अपने कल्याण मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

खणं जाणाहि पंडिए ॥ ७० ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार ससारी प्राणी को लक्ष्य कर कहते है कि (पंडिए) हे पण्डित ! अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञ ! तुम (खण) इसे धर्म सेवन का अवसर (जाणाहि) समझो ॥ ७० ॥

भावार्थः—आर्यक्षेत्र और उत्तम कुल मे जन्म, पाचो इन्द्रियो की पूर्णता और नीरोग शरीर की प्राप्ति होना धर्म सेवन का उत्तम अवसर है। इसे पाकर जो व्यर्थ नही गँवाता किन्तु धर्म सेवन करता है वही पण्डित है।

जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा, णेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा, घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा, जीहपरिण्णाणा अपरिहीणा, फरिसपरिण्णाणा अपरिहीणा, इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहायमाणेहि आयट्ठं सम्मं समणुवा-सिज्जासि ॥ ७१ ॥ त्तिबेमि ॥ प्रथमोद्देशः ॥

अन्वयार्थ—(जाव) जब तक (सोयपरिण्णाणा) श्रोत्रपरिज्ञान यानी कानों की शब्द सुनने की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नहीं हुई है, (नेत्तपरिण्णाणा) नेत्रों की रूप देखने की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नही हुई है, (घाणपरिण्णाणा) नाक की गन्ध ग्रहण करने की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नहीं हुई है, (जीहपरिण्णाणा) जिह्वा की रस-ग्रहण करने की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नहीं हुई है और

(फरिसपरिएणाणा) स्पर्शनेन्द्रिय की शक्ति (अपरिहीणा) क्षीण नहीं हुई है (इच्चेएहिं) इसी प्रकार (विरूवरूवेहिं) नाना प्रकार की (परि-एणाणेहिं) ज्ञानशक्तियां (अपरिहायमाणेहिं) जब तक क्षीण नहीं हुई हैं तब तक (आयट्ठं) अपने कल्याणार्थ (सम्म समणुवासिज्जासि) अच्छी तरह उद्योग करना चाहिए ॥ ७१ ॥ (त्ति बेमि) पूर्ववत् ।

नोट.—इस उपरोक्त पाठ में सब जगह 'परिएणाणा' की जगह 'परिएणाणेहिं' और 'अपरिहीणा' की जगह 'अपरिहायमाणेहिं' ऐसा पाठान्तर है ।

भावार्थः—इस विनाशी शरीर का कुछ भरोसा नहीं है तथा जरा (बुढापा) और रोग इसकी इन्द्रियों की शक्ति का नाश कर देते हैं। इसलिए जब तक उनके द्वारा इन्द्रियों की शक्ति नष्ट न की जाय तब तक ही मनुष्य को आत्मकल्याण मे प्रवृत्त हो जाना चाहिए अन्यथा अवसर बीत जाने पर केवल पश्चात्ताप के सिवाय कुछ हाथ आने का नहीं है ।

प्रथम उद्देशक समाप्त ॥ २-१ । १ ॥

दूसरे अध्ययन का दूसरा उद्देशक



अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुक्के ॥ ७२ ॥

अन्वयार्थः--(से) वह (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (अरइं) संयम में उत्पन्न हुई अरति का (आउट्टे) त्याग करे। ऐसा करने वाला पुरुष (खणसि) क्षण भर मे ही यानी अल्प समय मे ही (मुक्के) मुक्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

भावार्थः—सासारिक विषयभोगो से मन को सर्वथा हटा कर एकान्त सयम मे रति रखने वाला पुरुष जिस आनन्द का अनुभव करता है, चक्रवर्त्ती भी उसका अनुभव नही कर सकता है ॥

अणाणाए पुट्ठा वि एगे णियट्टंति, मंदा मोहेण पाउडा, अपरिग्गहा भविस्सामो, समुट्ठाए लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति, इत्थं मोहे पुणो पुणो सण्णा णो हव्वाए णो पाराए ॥ ७३ ॥

अन्वयार्थः—(अणाणाए) तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से विपरीत आचरण करने वाले (मोहेण) मोहसे (पाउडा) आवृत्त-ढॅके हुए (एगे) कितनेक (मदा) अज्ञानी जीव (पुट्ठावि) परीषह और उपसर्गों से स्पृष्ट होकर यानी परीषह उपसर्गों के आने पर (णियट्टंति) संयम से भ्रष्ट हो जाते है। और कितनेक जीव तो (अपरिग्गहा) हम परिग्रह रहित(भविस्सामो) होवेंगे ऐसी प्रतिज्ञा के साथ (समुट्ठाए) उठ कर भी (कामे) काम भोगों के (लद्धे) प्राप्त होने पर (अभिगाहइ) उन्हें भोगने लग जाते है। (अणाणाए) तीर्थंकर भगवान्

की आज्ञा से विपरीत यानी स्वच्छन्दबुद्धि से विचरण करने वाले कितनेक (मुणिणो) मुनिवेषधारी (पडिलेहंति) विषय भोग की प्राप्ति के उपायों में प्रवृत्त होते हैं (इत्थ) इस प्रकार (मोहे) मोह में (पुणो पुणो) बारम्बार (सण्णा) अत्यन्त आसक्त जीव (णो हव्वाए णो पाराए) न इस लोक के रहते हैं और न परलोक के ही रहते हैं अर्थात् उनका इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं ।७३।

भावार्थः—हिताहित के विवेक से रहित कितनेक अज्ञानी जीव गृहस्थाश्रम को छोड़ कर प्रव्रजित तो होते हैं किन्तु विषय-भोगों के सामने आने पर वे उनमें फँस जाते हैं। वे न इधर के रहते हैं और न उधर के अर्थात् वे न तो गृहस्थ ही कहे जा सकते हैं और न साधु ही कहे जा सकते हैं।

विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे णाभिगाहइ ॥ ७४ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (जणा) पुरुष (पारगामिणो) पारगामी हैं अर्थात् जिन पुरुषों ने ज्ञान दर्शन चारित्र को प्राप्त कर लिया है (ते) वे (हु) अवश्य ही (मुत्ता) मुक्ति को प्राप्त करने वाले हैं। (अलोभेण) अलोभवृत्ति के द्वारा (लोभ) लोभ से (दुगुंछमाणे) घृणा करने वाले पुरुष प्राप्त हुए कामभोगों का सेवन नहीं करते हैं ॥ ७४ ॥

भावार्थः—क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चारों कषायों में लोभ सब से प्रधान है। लोभ के वश हुआ प्राणी न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है। इसलिए लोभादि को छोड़ कर जिसने सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र को अङ्गीकार कर लिया है वह अवश्य मोक्ष को प्राप्त करता है।

विणा वि लोभं णिक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए णावकंखइ, एस अणगारे त्ति पवुच्चइ, अहो य

राओ परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते इत्थ सत्थे पुणो पुणो से आयवले से णाइवले से सयणवले से मित्तवले से पिच्चवले से देववले से रायवले से चोरवले से अतिहिवले से किविणवले से समणवले, इच्चेएहिं विरूवरूवेहि कज्जेहिं दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खो त्ति मण्णमाणे, अदुवा आसंसाए ॥ ७५ ॥

अन्वयार्थः—(लोभ विणावि) लोभ के बिना अर्थात् लोभ का त्याग कर (णिक्खम्म) प्रव्रज्या अंगीकार करके (अकम्मा) कर्म-मल से रहित (एस) यह पुरुष (अणगारे त्ति) अनगार (पवुच्चइ) कहलाता है। लोभ के वशीभूत बना हुआ पुरुष (अहो य राओ) दिन और रात दु:ख भोगता है (कालाकालसमुट्ठाई) काल और अकाल में उठता है (संजोगट्ठी) इष्ट संयोग की इच्छा करता है (अट्ठालोभी) धन का लोभ करता है। (आलुंपे) प्राणियो का घात करता है (सहसाकारे) चोरी आदि साहस का कार्य करता है। (विणिविट्ठचित्ते) वह सदा धन का ही चिन्तन किया करता है। वह (पुणो पुणो) निरन्तर (इत्थ) पृथ्वीकायादि का (सत्थे) घात करता है। (से) वह (आयवले) बलवान् बनने के लिए, (णाइवले) ज्ञातिबल की वृद्धि के लिए (सयणवले) स्वजन बल के लिए (मित्तवले) मित्रबल के लिए (पेच्चवले) मरने के पश्चात् यानी परभव में बलवान् होने के लिए (देववले) देवबल के लिए (रायवले) राजबल के लिए (चोरवले) चोर बल के लिए (अतिहिवले) अतिथिबल के लिए (किविणवले) कृपण बल के लिए (समणवले) श्रमण बल के लिए (इच्चेएहिं) इस प्रकार (विरूवरूवेहिं) नाना प्रकार के (कज्जेहिं) कार्यों से लोभी पुरुष (दंडसमायाणं) प्राणियों को दण्ड देता है अर्थात् प्राणियों की घात करता है। वह (संपेहाए) यह सोचकर (भया) इस भय से प्राणियों की घात करता है कि यदि मै बकरे आदि प्राणियो का घात न

करूँगा तो मेरे मनोरथ पूर्ण न होंगे। (पावमुक्खोत्ति) हम पाप से मुक्त हो जावेंगे ऐसा (मरणमाणे) मानते हुए कितनेक पुरुष जीव-हिंसा करते हैं (अदुवा) अथवा कितनेक जीव (आससाए) आशंसा से यानी भावी शुभ फल की आशा से एव आगामी भव मे शुभ फल की आशा से जीवघात करते हैं ॥ ७५ ॥

भावार्थः—लोभ के वशीभूत पुरुष इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए जीवहिंसा आदि अनेकविध पापाचरण करता है। जो पुरुष लोभ का त्याग करके सयम अङ्गीकार कर लेता है एवं चारित्र का विशुद्ध रूप से पालन करता है वह थोड़े ही समय में घातीकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान केवलदर्शन उपार्जन कर लेता है।

इस संसार मे कितने ही प्राणी ऐसे हैं जो साधु के वेश को धारण करके भी इस लोक या परलोक के सुख के लोभ में पड़ जाते हैं वे अपने को साधु कहने की धृष्टता करते हैं किन्तु वास्तव में वे साधु नहीं हैं। जो लोभ को जीत कर अकर्मा बनने की चेष्टा करते हैं वे ही सच्चे साधु एव अनगार हैं।

तं परिएणाय मेहावी गोव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा गोव अएणं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतं वि अएणं ण समणुजाणिज्जा, एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले णोवलिंपिज्जासि ॥ ७६ ॥ त्तिबेमि ॥ लोगविजयस्स विउओ उद्देसो ॥

अन्वयार्थः—(मेहावी) वस्तुतत्त्व को जानने वाला बुद्धिमान् पुरुष (त) उपरोक्त बातों को (परिएणाय) जानकर (एएहिं) इन उपरोक्त (कज्जेहिं) कार्यों के लिए (सय) स्वयं (णेव दंड समारभिज्जा) प्राणियों की हिंसा न करे तथा (एएहिं) इन (कज्जेहिं) कार्यों के लिए (अएणं) दूसरे से भी (णेव दंडं समारभाविज्जा) प्राणियों की हिंसा न करावे और (एएहिं) इन (कज्जेहिं) कार्यों के लिए (दंड समार-

भलवि) प्राणियों की हिंसा करने वाले (अएण) दूसरे पुरुष की (ए समणुजाणिज्जा) अनुमोदना भी न करे। (आयरिएहिं) आर्य पुरुषों ने (एस) यही (मग्गे) मार्ग (पवेइए) फरमाया है। इसलिए (कुसले) कुशल यानी बुद्धिमान् पुरुष (जहेत्थ) इस जीवहिंसा रूप व्यापार में (णोवलिंपिज्जासि) उपलिप्त न होवे ॥ ७६ ॥ (तिबेमि) पूर्ववत् ।

भावार्थः—तीन योग और तीन करण से प्राणियों की हिंसा का त्याग और सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप भाव मार्ग आर्य पुरुषों के द्वारा कहा गया है इसलिए यही आदर करने योग्य है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि इस आर्य मार्ग को अङ्गीकार करके आत्मकल्याण मे प्रवृत्ति करे ॥

दूसरे अध्ययन का दूसरा उद्देशक सम्पूर्ण

दूसरे अध्ययन का तीसरा उद्देशक



दूसरे उद्देशक में लोभ को जीतने के विषय मे कहा गया है। अब मान को जीतने के विषय मे कथन किया जाता है—

से असइं उच्चागोए असइं णीयागोए, णो हीणे णो अइरित्ते, णो पीहए, इइ संखाए को गोयावाई को माणावाई, कंसि वा एगे गिज्झे, तम्हा पण्डिए णो हरिसे, णो कुज्झे, भूएहिं जाण पडिलेह सायं ॥ ७७ ॥

अन्वयार्थ—(से) यह जीव (असइ) अनेक वार (उच्चागोए) उच्चगोत्र में उत्पन्न हो चुका है तथा (असइ) अनेक वार (णीयागोए) नीच गोत्र एव नीच योनि मे उत्पन्न हो चुका है परन्तु वस्तुत यह जीव (णो हीणे) न तो कभी हीन हुआ है और (णो अइरित्ते) न वृद्धि को प्राप्त हुआ है अतः (णो पीहए) जीव उच्चजाति आदि प्राप्त करने की कभी इच्छा न करे। (इइ) इस उपरोक्त वात को (संखाए) जान कर (को) कौन पुरुष (गोयावाई) उच्च गोत्र का मद कर सकता है तथा (को) कौन(माणावाई) मान कर सकता है (वा) और (कंसि) किस स्थान के लिए मनुष्य (गिज्झे) लोभ कर सकता है। (तम्हा) इसलिए (पण्डिए) पण्डित पुरुष (णो हरिसे) उच्चगोत्र आदि पाकर हर्षित न होवे तथा (णो कुज्झे—णो कुप्पे) नीच गोत्र आदि पाकर दुःख भी न करे। पण्डित पुरुष को (पडिलेह) विचार पूर्वक (जाण) यह वात जाननी चाहिए कि (भूएहिं) समस्त प्राणियों द्वारा (सायं) सुख की इच्छा की जाती है अर्थात् सब प्राणी सुख के अभिलाषी हैं ॥ ७७ ॥

भावार्थः—यह जीव अनेक वार उच्चगोत्र मे और अनेक वार नीच गोत्र मे जन्म ले चुका है। किन्तु उच्च गोत्र मे जन्म लेने से कोई वडा और नीच गोत्र मे जन्म लेने से कोई हीन नहीं हो जाता। जब तक यह जीव कपायो को नही जीतता है तब तक इसका उत्थान सभव नही है। इसलिए कषायो को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। कषायो को जीतने मे ही जीव सुखी हो सकता है।

समिए एयाणुपस्सी, तंजहा—अंधत्तं बहिरत्तं मूयत्तं काणत्तं कुंटत्तं खुज्जत्तं वडभत्तं सामत्तं सबलत्तं सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ विरूवरूवे फासे पडिसंवेयइ ॥ ७८ ॥

अन्वयार्थः—(समिए) पाच समिति का पालन करता हुआ पुरुष (एयाणुपस्सी) इन बातो को देखे (तंजहा) जैसे कि:—(अंधत्तं) अन्धा होना (बहिरत्तं) वधिर-वहरा होना (मूयत्तं) मूक-गूंगा होना (काणत्तं) काणा होना (कुंटत्तं) हाथ आदि का टेढा होना (खुज्जत्तं) कुवड़ा होना (वडभत्तं) वामन होना (सामत्तं) श्याम होना और (सवलत्तं) शवलत्व यानी चितकवरा होना, श्वेत कुष्ट होना। (पमाएण सह) प्रमाद करके यह जीव (अणेगरूवाओ) अनेक प्रकार की (जोणीओ) योनियों की ओर (संधायइ—संधेइ) दौड़ता है अर्थात् अनेक योनियों मे जन्म धारण करता है और (विरूवरूवे) नाना प्रकार के (फासे) स्पर्शो को यानी दुःखों को (पडिसंवेयइ) भोगता है ॥

भावार्थः—द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से अन्धा, बहरा, गूंगा, आदि होना पूर्व जन्म के भारी पाप कर्मों का फल है। विषयभोगादि प्रमाद मे फस कर प्राणी अनेक प्रकार की योनियो मे परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह सदा पापकर्मों से दूर रहे ॥

से अवुज्झमाणे हओवहए जाइमरणं अणुपरियट्टमाणे, जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमा—

णाणं, आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झ तत्थेव रत्ता, ण इत्थ तवो वा दमो वा णियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं वाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विप्परियासमुवेइ ॥ ७६ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह (अबुज्झमाणे) अज्ञानी जीव (हओवहए) हतोपहत होता है अर्थात् नाना प्रकार की व्याधियों से पीड़ित और समस्त लोक के अपमान का पात्र होता है तथा (जाइमरणं अणुपरियट्टमाणे) वह वारवार जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है। (इह) इस जगत् मे (खित्तवत्थुममायमाणाणं) खेत, मकान आदि परिग्रह में ममता रखने वाले (एगेसिं) कितनेक (माणवाणं) मनुष्यों को (पुढो जीविय) असंयम जीवन (पियं) वहुत प्रिय लगता है। ऐसे अज्ञानी जीव (आरत्तं विरत्तं) रंग विरंगे वस्त्र (मणिकुंडल) मणियां, कानों के कुण्डल (हिरण्णेण सह इत्थियाओ) सोना और स्त्री आदि का (परिगिज्झ) संग्रह करके (तत्थेव) उन्हीं मे (रत्ता) आसक्त रहते हैं। (वाले) वाल-अज्ञानी जीव (जीविउकामे) असंयम जीवन की रक्षा करता हुआ (सपुण्णं) प्राप्त हुए कामभोगों को भोगता हुआ उनमें आसक्त रहता है और (इत्थ) 'इस संसार में (तवो वा दमो वा णियमो वा) तप, दम-संयम और नियमों का कुछ भी फल (ण दिस्सई) देखा नहीं जाता है, इस प्रकार (लालप्पमाणे) कहता हुआ (मूढे) वह मूढ—अज्ञानी जीव (विप्परियासमुवेइ) समस्त पदार्थों को विपरीत ही देखता है ॥ ७६ ॥

भावार्थः—प्राणियो को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। इस संसार मे जो नाना प्रकार के दुःख भोगे जाते हैं वे सब प्राणियो के किये हुए कर्म के ही फल हैं। अतः विवेकी पुरुष सावद्य कर्म का सेवन नही करते है परन्तु अज्ञानी जीव इस बात को नहीं समझते हैं इसीलिए वे पाप कर्मों का उपार्जन कर ऊंच नीच नाना प्रकार के गोत्रो मे उत्पन्न होकर संसार मे परिभ्रमण

करते रहते हैं ॥

इणमेव णावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो । जाइमरणं परिण्णाय, चरे संकमणे दढे ॥ १ ॥

णत्थि कालस्सणागमो, सव्वे पाणा पियाउया । सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं, तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजिया णं संसिंचिया णं तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ, भोयणाए, तओ से एगया विविहं परिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ, तं वि से एगया दायाया वा विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरइ, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ, इइ से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण सम्मूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए, णो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए, णो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा एए, णो य पारं गमित्तए, आयाणिज्जं य आयाय तम्मि ठाणे न चिट्ठइ, वितहं पप्प अखेयण्णे तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ॥ ८० ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (जणा) मनुष्य (धुवचारिणो) ध्रुवचारी हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यक्चारित्र का पालन करते हैं वे (इणमेव) इन सांसारिक विषय भोगों की (णावकंखंति) इच्छा नहीं करते है। (जाइमरण) जन्म और मरण के तत्त्व को (परिण्णाय) जान कर (संकमणे) संयम में (दढं) दृढ़ होकर (चरे) विचरे (कालस्सणागमो णत्थि) काल अर्थात् मृत्यु के आने का कोई नियत समय नहीं है। (सव्वे) सब (पाणा) प्राणियों को (पियाउया) अपना आयुष्य प्रिय है। (सुहसाया) सभी प्राणी सुख भोगना चाहते हैं। (दुक्खपडिकूला) सभी प्राणी दुःख को प्रतिकूल मानते हैं। (अप्पियवहा) सभी को वध अप्रिय है। (पियजीविणो) सभी को अपना जीवन

प्रिय होता है। (जीविउकामा) सभी प्राणी जीना चाहते हैं। (सव्वेसिं) सब जीवों को (जीविय) अपना जीवन (पिय) प्रिय होता है। तथापि अज्ञानी जीव (त) असंयम जीवन को (परिगिज्झ) स्वीकार करके (दुपय) द्विपद अर्थात् दास दासी आदि नौकरों को तथा (चउप्पयं) चतुष्पद अर्थात् ऊँट बैल आदि को (अभिजुंजिया) काम में लगाकर (तिविहेण) तीन करण तीन योग से (सिंचिया) धन की वृद्धि करते हैं। इस प्रकार कठोर परिश्रम करने पर (अप्पा) अल्प (वा) अथवा (बहुआ) बहुत (जा वि) जो कुछ (से) उस धन की (मत्ता) मात्रा (भवइ) होती है (तत्थ) उसमें वह प्राणी (भोयणाए) भोग के लिए (गड्ढिए) अत्यन्त आसक्त (चिट्ठइ) रहता है। (तओ) इसके पश्चात् (एगया) किसी समय (से) अर्थोपार्जन करते हुए उस पुरुष के लाभान्तराय कर्म के क्षमोपशम से (परिसिट्ठं) भोग करने से बची हुई सम्पत्ति (विविहं) विविध द्रव्य (महोवगरणं) काफी मात्रा में (संभूयं भवइ) इकट्ठी हो जाती है परन्तु (से) उसकी (तं) उस सम्पत्ति को (एगया) कभी तो (दायाया) दायाद अर्थात् पैतृक सम्पत्ति के भागीदार (विभयंति) बांट कर ले लेते हैं (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति को कभी (अदत्तहारो) चोर (अवहरइ) चुरा लेता है (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति को कभी (रायाणो) राजा (विलुंपंति) उससे छीन लेते हैं (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति (णस्सइ) नष्ट हो जाती है (वा) अथवा (विणस्सइ) विविध प्रकार से नष्ट हो जाती है (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति (अगारदाहेण) घर में आग लग कर (उज्झइ) जल जाती है। इस प्रकार (परस्स अट्ठाए) दूसरों के लिए (कूराइं) क्रूर (कम्माइं) कर्म (पकुव्वमाणे) करता हुआ (से) वह (बाले) बाल-अज्ञानी (तेण) उस पाप से उत्पन्न (दुक्खेण) दुःख से (सम्मूढे) मूढ बन कर (विप्परियासमुवेइ) कर्तव्य अकर्तव्य के विवेक से हीन हो जाता है। (मुणिणा) श्री वीतराग देव ने (हु) निश्चय ही (एयं) यह (पवेइयं) फरमाया है कि (एए) ये अज्ञानी जीव (अणोहंतरा) संसार-सागर को पार करने वाले नहीं हैं। (य) और ये (ओहं) संसार सागर को (तरित्तए) पार करने में (णो) समर्थ नहीं हैं। (एए) ये अज्ञानी जीव (अतीरंगमा) संसार सागर के

तीर पर जाने वाले नही है (य) और (तीर) संसार सागर के तीर पर (गमित्तए) जाने में (णो) समर्थ नही है। (एए) ये अज्ञानी जीव (अपारगमा) संसार सागर के पार जाने वाले नही है (य) और (पार) संसार सागर के पार (गमित्तए) जाने मे (णो) समर्थ नही है (य) और वे (आयाणिज्ज) द्विपद चतुष्पद आदि भोग सामग्री को (आयाय) ग्रहण करके (तम्मि ठाणे) उस सर्वज्ञोक्त मार्ग में (ण चिट्ठइ) स्थित नही होते है। (अखेयण्णे) वह अकुशल पुरुष (वितह) असंयम मार्ग का (पप्प) आश्रय लेकर (तम्मि) उसी (ठाणम्मि) स्थान में (चिट्ठइ) रहता है अर्थात् असंयम मार्ग मे ही रमण करता है॥ ८० ॥

भावार्थः—मोक्ष की इच्छा करने वाले ज्ञानी पुरुष परीषह और उपसर्गों को सहन करते हुए दृढता के साथ संयम का पालन करते हैं किन्तु अज्ञानी मनुष्य धर्माचरण मे प्रमाद करते हैं। वे सोचते हैं कि वृद्धावस्था आने पर धर्माचरण कर लेगे परन्तु ऐसा सोचना उनकी भूल है क्योंकि मृत्यु के आने का कोई नियत समय नही है अतः धर्माचरण मे एक क्षण मात्र का भी प्रमाद न करना चाहिए।

संसार मे जितने प्राणी हैं सभी को अपनी आयु बडी प्यारी होती है। सभी सुख के अभिलाषी हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। अतः किसी भी प्राणी को दुःख न देना चाहिए और न किसी के प्राणो का विनाश करना चाहिए। अज्ञानी पुरुष धनोपार्जन के निमित्त नाना प्रकार का आरम्भ करते हैं किन्तु वह धन उनके लिए त्राण शरण रूप नहीं होता। वह विचारा केवल अपने पाप कर्म को अपने साथ लेकर परलोक मे जाता है और वहाँ नाना प्रकार के दुःखो को भोगता है। श्री तीर्थङ्कर देव ने स्पष्ट कहा है कि सावद्य आरम्भ मे जीवन व्यतीत करने वाले पुरुष कभी संसार सागर को पार नहीं कर सकते हैं। अतः विवेकी पुरुष को सावद्य आरम्भ का अवश्य त्याग कर देना चाहिये।

उद्देसो पासगस्स णत्थि, बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ ॥ ८१ ॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—(पासगस्स) जो मनुष्य ज्ञानवान् है उसके लिए (उद्देसो) उपदेश की आवश्यकता (णत्थि) नही है। (वाले) वाल–अज्ञानी (णिहे) रागद्वेष से मोहित और कषायों से पीड़ित (पुण) और (कामसमणुण्णे) विषयभोगो को मनोहर मान कर उनमें आसक्त रहने वाला पुरुष (असमियदुक्खे) विषयभोग और कषायों से उत्पन्न दु ख को शान्त नहीं करता है। इस प्रकार (दुक्खी) शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित वह (दुक्खाणमेव) दु:खों के(आवट्ट) चक्र में ही (अणुपरियट्टइ) सदा घूमता रहता है ॥=१॥ (त्ति बेमि) पूर्ववत्।

भावार्थः—जो वस्तु स्वरूप को देखने वाला है उसे पश्यक कहते हैं अथवा केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानने वाले तीर्थंकर भगवान् और उनकी आज्ञा मे चलने वाले पुरुष पश्यक कहलाते हैं। इस सब के लिए उपदेश की कोई आवश्यकता नही है। वे स्वत. ही अहित से निवृत्ति और हित मे प्रवृत्ति करते है।

रागादि से मोहित और विषयभोगों मे आसक्त अज्ञानी पुरुष शारीरिक और मानसिक दु:खो से सदा पीडित होता हुआ ससार-चक्र मे परिभ्रमण करता रहता है। इसलिए विवेकी पुरुष को रागादि तथा विषयभोगो का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए॥

तीसरा उद्देशक समाप्त

दूसरे अध्ययन का चतुर्थ उद्देशक

तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया णियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवइज्जा, णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा तुमं वि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, भोगा मे व अणुसोयंति इहमेगेसिं माणवाणं ॥ ८२ ॥

अन्वयार्थः—(तओ) विषयभोग में आसक्त रहने से (से) उस विषयासक्त पुरुष को (एगया) कभी (रोगसमुप्पाया समुप्पज्जति) रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तव (जेहिं सद्धिं) जिनके साथ (सवसइ) वह रहता है (ते) वे (णियया) उसके आत्मीय जन (एगया) कभी (पुव्विं) पहले ही (णं) उस रोगी पुरुष की (परिवयति) अवहेलना एवं निन्दा करते हैं (वा) तथा (सो) वह भी (पच्छा) पीछे (ते) उन (णियगे) आत्मीय जनों की (परिवइज्जा) अवहेलना एवं निन्दा करता है। ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि (ते) वे आत्मीय जन (तव) तुम्हारे (ताणाए) त्राण (वा) या (सरणाए) शरण के लिए (णाल) समर्थ नही हैं (वा) और (तुम वि) तुम भी (तेसिं) उनके लिए (ताणाए) त्राण (वा) या (सरणाए) शरण रूप (णालं) नही हो सकते हो। (पत्तेयं) प्रत्येक प्राणी को (दुक्ख) अपना-अपना दुःख और (साय) सुख भोगना पड़ता है ऐसा (जाणित्तु) जान कर रोग के समय घबराना न चाहिए।(इह) इस संसार मे (एगेसिं) कितनेक (माणवाणं) मनुष्यों को रोगावस्था में इस प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं कि (भोगा) ये भोग (मे) मेरे है, मैने इन भोगों को कितने परिश्रम

से उपार्जन किया है परन्तु भाग्यदोष से मै इन्हे नहीं भोग पाता हूँ। ऐसा विचार कर (अणुसोयंति) शोक करते हैं ॥ ८२ ॥

भावार्थः—विषयभोग दुःखरूप हैं। उनमे आसक्त प्राणी को अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते है। जिन माता पिता स्त्री पुत्रादि के लिए मनुष्य जी जान लडा कर तथा अनेको कष्टो की परवाह न करके धन का उपार्जन करता है वे आत्मीय जन उस मनुष्य की रोगावस्था में त्राण-शरण रूप नहीं हो सकते। इसी तरह वह मनुष्य भी द्रव्यादि द्वारा भले ही अपने बन्धु बान्धवो की सहायता करे परन्तु उनकी शारीरिक व्याधि को तो वह भी नहीं मिटा सकता है। इसलिए रोग एव दुःख की उत्पत्ति होने पर विद्वान् पुरुष चित्त में किसी प्रकार की उदासीनता नही लाते हैं। उसे वे अपने कर्म का फल जान कर समभाव और धीरता के साथ सहन कर लेते हैं।

तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ, भोयणाए, तओ से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ, तं वि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारो वा से हरइ, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ, इइ बाले परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ ॥ ८३ ॥

अन्वयार्थः—इस संसार में कितनेक मनुष्य (तिविहेण) तीन करण तीन योग से धनोपार्जन करने के लिए कठिन परिश्रम करते हैं। इस प्रकार कठिन परिश्रम करने पर (अप्पा) अल्प (वा) अथवा (बहुया) बहुत (जा वि) जो कुछ (से) उस धन की (मत्ता) मात्रा (भवइ) होती है (तत्थ) उसमे वह (भोयणाए) भोग के लिए (गड्ढिए) अत्यन्त आसक्त (चिट्ठइ) रहता है। (तओ) इसके पश्चात् (एगया) किसी समय (से) धनोपार्जन करते हुए उस पुरुष के लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से (परिसिट्ठं) भोग करने से बची

हुई सम्पत्ति (विविहं) विविध एवं (महोवगरणं) काफी मात्रा में (संभूय) इकट्ठी (भवइ) हो जाती है परन्तु (से) उसकी (त वि) उस सम्पत्ति को (एगया) कभी तो (दायाया) दायाद अर्थात् पैत्रिक सम्पत्ति केभागीदार भाई वन्धु आदि (विभयति) बांट कर ले लेते हैं (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति को कभी (अदत्तहारो) चोर (अवहरइ) चुरा ले जाता है (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति को कभी (रायाणो) राजा (विलुंपति) उससे छीन लेते है (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति (णस्सइ) नष्ट हो जाती है (वा) अथवा (विणस्सइ) विविध प्रकार से नष्ट हो जाती है (वा) अथवा (से) उसकी सम्पत्ति (अगारदाहेण) घर में आग लग कर (डज्झइ) जल जाती है। इस प्रकार (परस्स) दूसरों के लिए (कूराइ) क्रूर (कम्माइ) कर्म (पकुव्वमाणे) करता हुआ (से) वह (वाले) वाल-अज्ञानी (तेण) उस पाप से उत्पन्न (दुक्खेण) दुःख से (सम्मूढे) मूढ़ वन कर (विप्परियासमुवेइ) कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से हीन हो जाता हैं ॥ ८३ ॥

भावार्थः— अज्ञानी पुरुष धनोपार्जन के निमित्त नाना प्रकार का आरम्भ करते हैं किन्तु वह धन उनके लिए त्राण शरण रूप नहीं होता। वह विचारा केवल अपने पाप कर्म को अपने साथ लेकर परलोक में जाता है और वहाँ नाना प्रकार के दुःखो को भोगता है। अत विवेकी पुरुष को सावद्य आरम्भ का अवश्य त्याग कर देना चाहिए।

आसं य छंदं य विगिंच धीरे, तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु, जेण सिया तेण णो सिया, इणमेव णावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा, थीभि लोए पव्वहिए, ते भो! वयंति एयाइं आययणाइं, से दुक्खाए मोहाए माराए णरगाए णरगतिरिक्खाए, सययं मूढे धम्मं णाभिजाणइ, उदाहु वीरे, अप्पमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए, भेउरधम्मं संपेहाए, णालं पास, अलं तव एएहिं ॥ ८४ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार धीर पुरुष को सम्बोधित कर कहते हैं कि (धीरे) हे धीर ! तुम (आस) आशा (य) और (छंद) भोग की इच्छा को (विगिंच) छोड़ दो। (तुम चेव) तुम स्वय (त सल्ल) भोग की आशा रूप शल्य को (आहट्टु) हृदय में डाल कर दुःख भोगते हो क्योंकि (जेण) जिन उपायों से (सिया) भोगों की प्राप्ति होती है, कभी २ (तेण) उन्हीं उपायों से (णो सिया) भोगों की प्राप्ति नही भी होती है। (जे) जो (जणा) लोग (मोहपाउडा) मोह से ढंके हुए हैं वे (इणमेव) इस बात को (णावबुज्झति) नही जानते हैं। (लोए) यह लोक (थीभि) स्त्रियों से (पव्वहिए) पीड़ित है। (भो) हे शिष्य ! (ते) वे स्त्रीमोहित जीव (वयति) कहते हैं कि (एयाइ) ये स्त्री आदि (आययणाइ) उपभोग के साधन हैं, इनके विना शरीर की स्थिति नहीं हो सकती है परन्तु (से) उनका यह मन्तव्य (दुक्खाए) दुःख के लिए (मोहाए) मोह के लिए (माराए) मृत्यु के लिए (णरगाए) नरक के लिए और (णरगतिरिक्खाए) नरक से निकल कर तिर्यंच योनि के लिए होता है। (सयय) निरन्तर (मूढे) दुःख से पीड़ित मूढ़ जीव (धम्म) धर्म को (णाभिजाणइ) नहीं जानता है। (वीरे) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने (उदाहु) फरमाया है कि (महामोहे) महामोह रूप स्त्रियों में (अप्पमाओ) प्रमत्त न बनना चाहिए। (कुसलस्स) कुशल यानी सूक्ष्मदर्शी पुरुष को (पमाएण अल) सर्वथा प्रमाद नहीं करना चाहिए। (संतिमरण) शान्ति अर्थात् मोक्ष और मरण अर्थात् संसार के स्वरूप को (सपेहाए) विचार कर तथा (भेउरधम्म) शरीर को नश्वर (संपेहाए) जान कर प्रमाद नही करना चाहिए। शास्त्रकार फरमाते हैं कि अधिक भोग प्राप्त होने पर भी वे (णाल) इच्छा की तृप्ति करने में समर्थ नहीं हैं (पास) यह देखो ! (तव) हे सूक्ष्मदर्शिन् ! तुम को (एएहिं अल) इन विषयभोगों से प्रयोजन नहीं रखना चाहिए॥ ८४॥

भावार्थः—हिताहित के ज्ञान मे दक्ष धीर पुरुष को लक्ष्य करके शास्त्रकार कहते हैं कि हे धीर ! तुम आशा को यानी विषय

तृष्णा को छोड दो। यह आत्मा स्वयं आशा रूपी बाण को अपने हृदय मे डाल कर दुःख भोगता है। आशा से केवल दुःख ही प्राप्त होता है परन्तु भोग प्राप्त नहीं होते। कर्मों का परिणाम विचित्र है इसलिए द्रव्यादि द्वारा जिन उपायो से एक मनुष्य को भोग की प्राप्ति होती है उन्हीं उपायों से दूसरे को नहीं भी होती है किन्तु अज्ञानी जीव कर्मों की इस विचित्रता को नहीं समझते। वे धन और स्त्री आदि भोगसाधनो को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं। वे स्त्रियो के फन्दे मे पड कर तथा विषयभोगो मे आसक्त होकर अनेक दु ख भोगते हैं और नरक की वेदना को भी भोगते है। वहाँ से निकल कर तिर्यञ्च योनि मे और फिर नरक गति मे जाते हैं। इस प्रकार वे अनन्त काल तक दु ख के चक्र मे पडे रहते है। इसलिए जगत् के हित के लिए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है कि स्त्रीसंसर्ग से महामोह की उत्पत्ति होती है। इसके समान कोई दूसरा बन्धन नही है। इसको जीत लेने पर दूसरे विषय सुगमता से जीत लिये जाते हैं। इसलिए विवेकी पुरुष को विषयभोगो मे कभी प्रमत्त न बनना चाहिए।

एयं पास मुणी ! महब्भयं, णाइवाइज्ज कंचणं, एस वीरे पसंसिए, जे ण णिविज्जइ आयाणाए, ण मे देइ ण कुप्पिज्जा, थोवं लद्धुं ण खिसए, पडिसेहिओ परिणमिज्जा, एयं मोणं समणुवासिज्जासि ॥ ८५ ॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थ—यहा पर शास्त्रकार मुनि को सम्बोधित करते हुए कहते है कि (मुणी) हे मुने ! (एय) भोगों की लालसा रखना (महब्भय) महान् भय का हेतु है, इस बात को (पास) तुम देखो। (कचणं) किसी भी प्राणी का (णाइवाइज्ज) वध न करो। (एस) भोगों की लालसा न रखने वाला पुरुष (वीरे) वीर है और (पससिए) देवो द्वारा भी उसकी प्रशंसा की जाती है। (जे) जो (आयाणाए) संयम से (ण णिविज्जइ) नही घबराता है वही पुरुष श्रेष्ठ है। यह गृहस्थ (मे) मुझे (ण) नही (देइ) देता है। (ण

कुप्पिज्जा) यह जान कर उसके ऊपर क्रोध नहीं करना चाहिए। अथवा गृहस्थ से (थोव) थोडा आहार (लद्धु) मिलने पर (ण खिंसए) उसकी निन्दा न करना चाहिए। (पडिसेहिओ) गृहस्थ द्वारा निषेध करने पर अर्थात् 'मेरे घर मत आओ' इस प्रकार मना कर देने पर (परिणमिज्जा) उस गृहस्थ के घर से लौट जाय अर्थात् उसके घर में न जाय। (एय) इस प्रकार (मोणं) मुनि के व्रत का (समणुवासिज्जासि) आचरण करना चाहिए। (त्ति बेमि) पूर्ववत् ॥ ८५ ॥

भावार्थः—विषयभोगों को जीत लेने वाला पुरुष सच्चा वीर है। उसकी प्रशंसा इन्द्रादि देव भी करते हैं। वह पुरुष संयमानुष्ठान से कभी उदासीन नहीं होता बल्कि उत्साह के साथ संयम का पालन करता है।

संयम पालने में तत्पर साधु किसी गृहस्थ के घर पर भिक्षादि के निमित्त जाय तब उस गृहस्थ के पास दान योग्य सम्पूर्ण सामग्री के होते हुए भी यदि वह साधु को दान न देवे तो साधु उस पर क्रोध न करे। यदि वह गृहस्थ थोडा दान दे तो साधु उसकी निन्दा न करे तथा यदि कोई गृहस्थ अपने घर में आने से साधु को मना कर दे तो साधु उसके घर से तुरन्त लौट जाय। यह मुनि का आचार है। मुनि को इस आचार का दृढता के साथ पालन करना चाहिए।

इति चतुर्थ उद्देशक समाप्त

दूसरे अध्ययन का पांचवां उद्देशक

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारम्भा कज्जंति, तंजहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं णाईणं धाईणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए पायरासाए, संणिहिसंणिचओ कज्जइ, इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए ॥ ८६ ॥

अन्वयार्थः—(ज) जिन्होंने (इण) इस (लोगस्स) जगत् का यथार्थ स्वरूप नही जाना है वे लोग सुख की प्राप्ति और दु:ख के नाश के लिए (विरूवरूवेहिं) नाना प्रकार के (सत्थेहिं) शस्त्रों द्वारा (कम्मसमारभा) कर्मो का आरम्भ (कज्जति) करते है (तजहा) जैसे कि—(से) लोग अपने (पुत्ताण) पुत्रों के लिए (धूयाण) पुत्रियों के लिए (सुण्हाण) पुत्रवधुओं के लिए, (णाईण) ज्ञातिजनों के लिए (धाईण) धाई के लिए (राईण) राजा के लिए (दासाण) दासों के लिए (दासीणं) दासियों के लिए (कम्मकराण) कर्मचारियों के लिए (कम्मकरीण) कर्मचारिणियों के लिए (आएसाए) अतिथियों के लिए (पुढो पहेणाए) अपने सम्बन्धियों के यहा भेजने के लिए (सामासाए) शाम को खाने के लिए (पायरासाए) प्रात काल खाने के लिए (सणिहिसणिचओ) खाद्य पदार्थों का तथा भोग्य पदार्थों का संचय किया करते है तथा (इह) इस लोक में (एगेसिं) कितनेक (माणवाण) मनुष्यों के (भोयणाए) भोजन के लिए वस्तुओं का संग्रह करते है ॥ ८६ ॥

भावार्थः—गृहस्थ लोग अपने लिए और पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि परिवार वर्ग के लिए भोजन बनाते हैं। साधु को उनके यहाँ से भिक्षावृत्ति द्वारा आहारादि लाकर संयमजीवन का निर्वाह करना चाहिए।

समुट्ठिए अणगारे आरिए आरियपण्णे आरियदंसी अयं संधित्ति अदक्खु, से णाईए णाइयावए णाइयंते समणुजाणइ, सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधो परिव्वए ॥ ८७ ॥

अन्वयार्थः—(समुट्ठिए) संयम मार्ग में उद्यमवंत (अणगारे) गृहबन्धन से रहित (आरिए) आर्य (आरियपण्णे) आर्य बुद्धि वाला (आरियदंसी) आर्यदर्शी (अयंसंधि त्ति) समयानुसार कार्य करने वाला और (अदक्खु) जिसने परमार्थ तत्त्व को देखा है (से) ऐसा साधु (णाईए) अकल्पनीय पदार्थ को स्वयं ग्रहण न करे और (णाइयावए) दूसरे से भी ग्रहण न करवावे तथा (णाइयंते) ग्रहण करते हुए को (ण समणुजाणइ) अच्छा न समझे अर्थात् अनुमोदन न करे। (सव्वामगंधं) सर्व प्रकार के अशुद्ध और औद्देशिक आदि आहार को (परिण्णाय) ज्ञपरिज्ञा द्वारा जान कर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा त्याग कर (णिरामगंधो) निर्दोष आहार ग्रहण करता हुआ साधु (परिव्वए) विचरे ॥ ८७ ॥

भावार्थः—पुत्र कलत्रादि के बन्धन से रहित, संयम का पालन करने में तत्पर मुनि अशुद्ध तथा आधाकर्मादि दोषों से रहित आहार को ग्रहण करता हुआ विचरे।

अदिस्समाणे कयविक्कएसु, से ण किणे ण किणावए किणंतं ण समणुजाणइ, से भिक्खू कालण्णे बलण्णे मायण्णे खेयण्णे खणयण्णे विणयण्णे ससमयण्णे परसमयण्णे भावण्णे परिग्गहं अममायमाणे कालाणुट्ठाई अपडिण्णे ॥ ८८ ॥

अन्वयार्थः—(कयविक्कएसु) खरीदने और बेचने के व्यवहार में (अदिस्समाणे) न देखा जाता हुआ अर्थात् क्रय विक्रयादि कार्यों से निवृत्त साधु (ण किणे) स्वय कोई वस्तु न खरीदे (ण किणावए) दूसरों से भी न खरीदवावे तथा (किणत) खरीदते हुए को (ण समणुजाणइ) अच्छा न जाने। (से) वही (भिक्खू) साधु (कालण्णे) काल को जानने वाला (बलण्णे) आत्मबल को जानने वाला (मायण्णे) मात्रा अर्थात् परिमाण को जानने वाला (खेयण्णे) खेदज्ञ (खणयण्णे) अवसर को जानने वाला (विणयण्णे) विनय को जानने वाला (ससमयण्णे) स्वसमय—स्वसिद्धान्त को जानने वाला (परसमयण्णे) परसमय—परसिद्धान्त को जानने वाला और (भावण्णे) भाव को जानने वाला है। वह साधु (परिग्गहं) परिग्रह मे (अममायमाणे) मूर्छित न होता हुआ अर्थात् परिग्रह के ममत्व का त्याग करके (कालाणुट्ठाई) कालानुसार अनुष्ठान करे और (अपडिण्णे) किसी प्रकार की प्रतिज्ञा अर्थात् नियाणा न करे ॥ ८८ ॥

भावार्थः—साधु क्रयविक्रय यानी कोई भी वस्तु खरीदना या बेचना, यह कार्य न करे किन्तु क्रयविक्रय के साधनभूत द्रव्य से रहित होकर विचरे। ऐसा साधु काल, आत्मबल, मात्रा, खेद, अवसर, विनय और स्वसिद्धान्त तथा परसिद्धान्त को जानने वाला होता है। साधु को किसी प्रकार नियाणा और ऐसी प्रतिज्ञा, जिससे स्वपर की हानि हो, नही करनी चाहिए।

दुहओ छित्ता णियाइ, वत्थ पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं ओग्गहं, य कडासणं एएसु चेव जाणिज्जा ॥ ८९ ॥

अन्वयार्थः—(दुहओ) राग और द्वेष दोनों से की जाने वाली प्रतिज्ञा को (छित्ता) त्याग कर (णियाइ) ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग के अनुष्ठान में अथवा संयम के अनुष्ठान मे प्रतिज्ञा करनी चाहिए। (वत्थ) वस्त्र (पडिग्गहं) प्रतिग्रह-पात्र (कबल) कम्बल (पायपुंछण) पाद प्रोञ्छन यानी रजोहरण (य) और (ओग्गह) अवग्रह (चेव) तथा (कडासण) कटासन यानी संस्ता–

रक (एएम्) इनमें (जाणिज्जा) उपयोग रखे यानी शुद्ध ग्रहण करे, अशुद्ध ग्रहण न करे ॥ ८६ ॥

भावार्थः—राग और द्वेष के कारण जो प्रतिज्ञा की जाती है वह पाप को उत्पन्न करने वाली है। अत साधु को वैसी प्रतिज्ञा कदापि न करनी चाहिए। 'मैं ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की अवश्य आराधना करूँगा एवं मैं शास्त्रोक्त रीति से सयम का पालन करूँगा' इत्यादि शुभ प्रतिज्ञाएँ साधु को करनी चाहिए। साधु अपने आवश्यक पदार्थों की शुद्धि और अशुद्धि का विचार रखता हुआ शुद्ध वस्त्रादि को ग्रहण करे और अशुद्ध को ग्रहण न करे।

लद्धे आहारे अणगारो मायं जाणिज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं, लाभुत्ति ण मज्जिज्जा, अलाभुत्ति ण सोइज्जा, बहुं वि लद्धु ण णिहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ॥ ९० ॥

अन्वयार्थः—(आहार) आहार के (लद्धे) प्राप्त होने पर भी (अणगारो) साधु (मायं) मात्रा यानी परिमाण को (जाणिज्जा) जाने (जहा) जैसा कि (से) उस (इय) आहार की मात्रा (भगवया) भगवान् ने (पवेइय) फरमाई है। (लाभुत्ति) लाभ होने पर (ण मज्जिज्जा) साधु गर्व न करे। (अलाभुत्ति) लाभ न होने पर (ण सोइज्जा) शोक न करे (बहुं वि लद्धु) बहुत प्राप्त हो जाने पर भी (ण णिहे) संचय न करे। (परिग्गहाओ) परिग्रह से (अप्पाण) अपने को (अवसक्किज्जा) दूर रखे ॥ ९० ॥

भावार्थः—आहार, वस्त्र, औषधि आदि लेते समय साधु उतने ही परिमाण में वस्तु को ग्रहण करे जितने के ग्रहण से वह गृहस्थ फिर उस वस्तु को बनाने के आरम्भ मे प्रवृत्त न हो। किसी समय साधु को आहारादि न मिले तो वह यह शोक न करे कि "मैं कैसा अभागा हूँ जो समस्त वस्तुओं को देने वाले दाता के विद्यमान होते हुए भी मैं कुछ प्राप्त नहीं कर सकता। आहारादि के मिल जाने पर 'गर्व भी न करे कि "मैं बड़ा ही भाग्यवान हूँ" किन्तु साधु लाभालाभ में समभाव रखे। यदि कभी साधु को आहारादि

बहुत मिल जाय तो उसका सञ्चय नहीं करे। साधु पाप के मूल कारण परिग्रह का सर्वथा त्याग करे और सयम के साधनभूत धनोपकरणो में मूर्च्छा—ममत्व न रखे ॥

अएणहा णं पासए परिहरिज्जा, एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए, जहित्थ कुसले णोवलिंपिज्जासि त्तिबेमि ॥ ६१ ॥

अन्वयार्थः—(अएणहा ण) अन्य प्रकार से (पासए) देखता हुआ साधु (परिहरिज्जा) परिग्रह का त्याग करे (एस) यह (मग्गे) मार्ग (आयरिएहिं) आर्य पुरुषों द्वारा (पवेइए) कहा गया हैं। (जहित्थ) जिस प्रकार इस पाप रूप परिग्रह से (णोवलिंपिज्जासि) उपलिप्त न हो उसी प्रकार (कुसले) कुशल पुरुष कार्य करे। (त्तिबेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ ६१ ॥

भावार्थः—साधु धर्मोपकरणो को अन्यथाबुद्धि से देखे अर्थात् उनको सयम पालन का साधन समझे किन्तु उनमे ममत्व बुद्धि न रखे। कुशल अर्थात् विवेकी पुरुष शास्त्रोक्त रीति से सयम का पालन करे जिससे उसे पाप कर्म का बन्ध न हो, प्रत्युत कर्मो की निर्जरा होकर मोक्ष की शीघ्र प्राप्ति हो।

कामा दुरइक्कमा, जीवियं दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ तिप्पइ पिड्डइ परितप्पइ ॥६२॥

अन्वयार्थः—(कामा) काम को (दुरइक्कमा) जीतना बड़ा कठिन है। (जीविय) जीवन (दुप्पडिवूहग) बढ़ाया नही जा सकता। (कामकामी) कामभोगों की लालसा रखने वाला (अय) यह (पुरिसे) पुरुष (खलु) निश्चय ही (सोयइ) शोक करता है (जूरइ) खेद रखता है (तिप्पइ) मर्यादा से भ्रष्ट हो जाता है (पिड्डइ) दुःखी होता है (परितप्पइ) पश्चात्ताप करता है ॥ ६१ ॥

भावार्थः—अनादि काल से अभ्यस्त होने के कारण कामभोगो का जीतना बडा कठिन है। कामभोगो की लालसा रखने वाले पुरुष को जब इष्ट पदार्थ की प्राप्ति नही होती अथवा उसका वियोग हो जाता है तब वह अत्यन्त शोक करता है, हृदय मे बडा

खेद अनुभव करता है, शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित रहता है कामासक्त मनुष्य जब तक युवा रहता है तब तक वह यौवन और धन के मद से अन्ध होकर दुराचार का सेवन करता है परन्तु जब वृद्धावस्था आती है तब वह मृत्युकाल को निकट देख कर अत्यन्त पश्चात्ताप करता है। अतः विवेकी पुरुष को पहले से ही सोच विचार कर ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे भविष्य में किसी तरह का पश्चाताप न करना पड़े।

आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ, गड्ढिए लोए अणु-परियट्टमाणे, संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए, जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूइ देहंतराणि पासइ पुढो वि सवंताइं पंडिए पडिलेहाए॥ ९३ ॥

अन्वयार्थः—(आययचक्खू) दीर्घ दृष्टि वाला तथा (लोगविपस्सी) लोक को देखने वाला पुरुष (लोगस्स) लोक के (अहो भाग) अधोभाग को (जाणइ) जानता है, (उड्ढं भाग) ऊर्ध्व भाग को (जाणइ) जानता है और (तिरिय भाग) तिरछे भाग को (जाणइ) जानता है। (गड्ढिए) विषय भोग में आसक्त प्राणी (लोए) संसार में (अणुपरियट्टमाणे) परिभ्रमण करते हैं, यह वह जानता है। (इह) इस (मच्चिएहिं) मनुष्य जन्म में ही (संधि) सन्धि अर्थात् ज्ञानादिक की प्राप्ति होती है यह (विइत्ता) जान कर, जो विषय-कषायों को त्याग देता है, (एस) वही (वीरे) वीर है और वही (पसंसिए) प्रशंसनीय है (जे) जो वह, स्वयं कर्मों से मुक्त होकर (बद्धे) कर्मों से बन्धे हुए दूसरे जीवों को (पडिमोयए) मुक्त कराने में समर्थ होता है। वह पुरुष (जहा) जैसे (अंतो) अन्दर के बन्धनों को तोड़ता है (तहा) वैसे ही (बाहिं) बाहर के बन्धनों को भी तोड़ता है और (जहा) जैसे वह (बाहिं) बन्धु बान्धवों के सम्बन्ध रूप बाह्य

बन्धनों को तोड़ता है (तहा) वैसे ही (अंतो) कषायादि आन्तरिक बन्धनों को भी तोड़ता है। वह (अतो अंतो) शरीर के अन्दर के (पूइ देहतराणि) अपवित्र पदार्थों को तथा देह की अवस्थाओं को (पासइ) देखता है तथा (पुढो वि) अलग-अलग (सवंताइं) मलमूत्र आदि अपवित्र पदार्थों को बहाने वाली इन्द्रियों को देखता है। अत. (पडिए) पण्डित पुरुष (पडिलेहाए) इस शरीर के स्वरूप को अच्छी तरह जाने ॥ ६३ ॥

भावार्थः—जो दीर्घ दृष्टि और ससार के स्वरूप को जानने वाला पुरुष है वह इस बात को जानता है कि संसारी प्राणी कामभोग की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के सावद्य कार्य करके उनका फल भोगने के लिए सदा ससार चक्र मे घूमते रहते हैं।

ज्ञानादि भावसन्धियाँ मनुष्य भव मे ही पूर्ण रूप से प्राप्त होती है, दूसरे भवो मे नही होती हैं। अतः इस विषय को जान कर जो विवेकी मनुष्य विषय कषायो का त्याग कर देता है वही पुरुष इस जगत् मे वास्तविक वीर है तथा जो पुरुष द्रव्य और भाव दोनो प्रकार के बन्धनो से स्वय मुक्त होकर दूसरे जीवो को भी बन्धन से मुक्त होने का उपदेश करता है वही पुरुष वीर है।

इस शरीर के इन्द्रिय रूपी नौ दरवाजे हैं। उन मे से अलग-अलग अपवित्र और दुर्गन्ध पदार्थ ही निकलते रहते है। ऐसे अपवित्र पदार्थों से पूर्ण और नश्वर इस शरीर के तत्त्व को जान कर पण्डित पुरुष इसमे राग नही करता है किन्तु वह शरीरादि समस्त पदार्थों मे ममत्व त्याग कर शुद्ध सयम का पालन करता है।

से मइमं परिण्णाय मा य हु लालं पच्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावायए, कासंकसे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं वेरं वड्ढेइ अप्पणो, जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिवूहणयाए, अमरायइ महासड्ढी अट्टमेयं तु पेहाए अपरिण्णाए कंदइ ॥ ६४ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह उपरोक्त (महयं) बुद्धिमान् पुरुष (लालं) लाला यानी मुख के लार को (णा पच्चासी) न खावे अर्थात् त्यागे हुए कामभोगों की फिर अभिलाषा न करे। (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (तेणं) सम्यग्ज्ञानादि से (तिरिच्छं) प्रतिकूल (मा आवायए) न होने दे। (अयं) यह (पुरिसे) पुरुष अर्थात् सम्यग्ज्ञानादि से प्रतिकूल जाने वाला पुरुष (खलु) निश्चय ही (कासंकसे) संसार चक्र को बढ़ाता है तथा (बहुमाई) बहुत माया करता है और (कडेण मूढे) किंकर्तव्य मूढ होकर दुःख भोगता है। (पुणो) फिर (से) वह (लोहं करेइ) वारंवार विषयभोग का लोभ करता है और जीवों के साथ (अप्पणो) अपनी आत्मा का (वेरं) वैर (वड्ढेइ) बढ़ाता है। अज्ञानी जीव (इमस्स) इस नाशवान् शरीर की (परिवुड्ढणाए) वृद्धि के लिए प्राणातिपात आदि करता है (अमरायइ) वह देवता की तरह सदा जवान रहना चाहता है (महासड्ढी) विषय-भोग में महान् श्रद्धा रखने वाला अर्थात् विषयासक्त पुरुष (अट्टे) आर्त्त यानी दुःख को प्राप्त होता है (एयं तु) यह (पेहाए) देख कर बुद्धिमान् पुरुष भोग की इच्छा न करे (अपरिण्णाए) जो पुरुष विषय भोगों के परिणाम को न जान कर उनमें आसक्त रहता है वह (कंदइ) तज्जन्य दुःखों को प्राप्त कर रोता है। विषयभोगों के कटु-परिणाम को बतलाने के लिए (अमिणं) यह (परिकहिज्जइ) बारंबार कथन किया जाता है॥ ६४॥

भावार्थः—बुद्धिमान् पुरुष विषयभोगों के कटु परिणाम को जान कर उनका त्याग कर देवे और उन त्यागे हुए विषयों को फिर भोगने की इच्छा न करे। जैसे बालक अविवेकी होने के कारण अपने मुंह में निकल कर बाहर लटकते हुए लार को खा जाता है उसी तरह अविवेकी पुरुष विषय भोग को त्याग कर भी फिर उसे भोगने की इच्छा करता है। अतः शास्त्रकार उपदेश करते हैं कि—विषय भोग को त्याग कर फिर उसका उपार्जन मत करो, क्योंकि जो ऐसा करता है वह वमन को खाने वाला अतिघृणित पुरुष है। कामी पुरुष अपने आपको देवता के समान अजर अमर मानता हुआ विषयों में आसक्त रहता है किन्तु काम सेवन से उसके दुख की

वृद्धि ही होती है। अत विवेकी पुरुषों को कामभोगो का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

से तं जाणह जमहं बेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मरणमाणे, जस्स वि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, ण एवं अणगारस्स जायइ ॥ ९५ ॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार कहते है कि काम भोग दुःख के कारण हैं (से) इसलिए (त) इस बात को (जाणह) समझो (ज) जो (अह) मै (बेमि) कहता हूँ। (तेइच्छ) काम की चिकित्सा का (पवयमाणे) उपदेश देने वाला (पडिए) पण्डिताभिमानी—अपने आप को पण्डित मानने वाला अन्यतीर्थी (से) प्राणियो को (हता) हनन करता है (छित्ता) उनके कान नाक आदि का छेदन करता है (भित्ता) शूल आदि से उनके अगो को भेदन करता है (लुपइत्ता) उनकी गाठ काटता है (विलुपइत्ता) उनको बन्धन आदि के द्वारा रोकता है (उद्दवइत्ता) उनके प्राणों को हरण करता है। (अकड) जो कार्य दूसरों ने नही किया वह कार्य (करिस्समित्ति) मै करूँगा ऐसा (मरणमाणे) मानता हुआ अज्ञानी प्राणिघातादि क्रियाए करता है और (जस्सवि ण) जिसको वह ऐसा (करेइ) उपदेश देता है उसका भी अहित है। अत (बालस्स) अज्ञानी का (सगेण अल) संग भी न करना चाहिए। (वा) और (जे) जो (बाले) अज्ञानी (से) उन प्राणियो की हिसा द्वारा (कारइ) चिकित्सा कराता है, उसका कार्य भी बुरा है। (णव) इस प्रकार हिसा के द्वारा चिकित्सा करने का उपदेश या चिकित्सा कराना (अणगारस्स) साधु को (ण जायइ) नही कल्पता है ॥ ९५ ॥ (त्तिबेमि) ऐसा मै कहता हूँ।

भावार्थः—अज्ञानी जीव समझता है कि—"दूसरे ने जो कामभोगो की चिकित्सा या व्याधि की चिकित्सा अब तक नही

की है वह मैं करूँगा" यह समझ कर वह स्वयं प्राणिघात आदि पापकर्म करता है और दूसरों को भी वैसा ही उपदेश देता है किन्तु इससे उन दोनो का अहित ही होता है। ऐसे अज्ञानी जीवों का सग भी कर्मबन्धन का कारण होता है; अतः उनका सग भी न करना चाहिए। जो प्राणिघातादि रूप पापकारी चिकित्सा न तो स्वय करता है और न ऐसी चिकित्सा का उपदेश देता है वही ससार के स्वरूप को जानने वाला सच्चा साधु है। उनका सग हितकारी एव कल्याणकारी होता है॥

इति पांचवां उद्देशक समाप्त

दूसरे अध्ययन का छठा उद्देशक

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय तम्हा पावं कम्मं णेव कुज्जा ण कारवेज्जा ॥ ९६ ॥

अन्वयार्थः—(त) प्राणियो की हिंसा के द्वारा चिकित्सा का उपदेश देना अथवा चिकित्सा करना पाप का कारण है यह (संबुज्झमाणे) समझता हुआ (से) वह साधु (आयाणीयं) आदरणीय यानी ग्रहण करने योग्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र को (समुट्ठाय) ग्रहण करके (तम्हा) संयम सर्वसावद्य निवृत्ति रूप है इसलिए (पाव कम्म) पाप कर्म (णेव कुज्जा) स्वय न करे और (ण कारवेज्जा) अन्य से भी न करावे ॥ ९६ ॥

भावार्थः—सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष मार्ग मे रमण करने वाला अनगार स्वय सावद्य कार्य न करे, दूसरो से भी न करवावे और करते हुए को भला भी न जाने।

सिया तत्थ एगयरं विप्परामुसइ छसु अण्णयरम्मि, कप्पइ सुहट्ठी लालप्पमाणे, एएण दुक्खेण मूढे विप्परियास-मुवेइ, सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए णो णिकरणाए, एस परिण्णा पवुच्चइ, कम्मोवसंती ॥ ९७ ॥

अन्वयार्थः—(सिया) यदि (तत्थ) छ काय के प्राणियों में से (एगयर) किसी एक का भी (विप्परामुसइ) आरम्भ करता है वह (छसु अण्णयरम्मि) छः ही काय का आरम्भ करता है। (सुहट्ठी) सांसारिक विषय सुख की इच्छा करने वाला (लालप्पमाणे) मन, वचन काया से सावद्यक्रियाएँ करता हुआ (मूढे) अज्ञानी जीव (सएण) अपने किये हुए (दुक्खेण) दुःख फल देने वाले कर्मो द्वारा (विप्परि-

यामगुवेइ) दु:ख को प्राप्त करता है अज्ञानी जीव (गएग) अपने (विपमाएग) प्रमाद के कारण (पुढो) पृथक् २ रूप से (वयं पकुव्वइ) अपने संसार को बढाता है। (जसि) जिस संसार में (इमे) ये प्राणी (पव्वहिया) व्यथा—कष्ट को प्राप्त होते हैं (पडिलेहाए) ज्ञानवान् पुरुष यह जान कर (णो णिकरणयाए) जिनसे शारीरिक और मानसिक क्लेश होता है उन कर्मों को न करे। (एस) यही अर्थात् सावद्य कार्यों से निवृत्ति ही (परिण्णा) सच्चा ज्ञान (पवुच्चइ) कहा जाता है (कम्मोवसंती) सावद्य योग की निवृत्ति से ही कर्मों का क्षय रूप मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ६७ ॥

भावार्थः—जैसे कुम्हार की शाला मे जल डालने से केवल जल का ही आरम्भ नहीं होता किन्तु अग्नि का, पृथ्वी का, त्रस का, वनस्पति का और वायुकाय का भी आरम्भ होता है। इस तरह एक काय का आरम्भ करने से छः ही काय का आरम्भ होता है। जो पुरुष एक आश्रवद्वार को खोलता है वह सभी आश्रवों को खोलने वाला है। जैसे कि एक प्राणातिपात आश्रव को खोलने वाला पुरुष अपनी ली हुई प्रतिज्ञा लोप करके मिथ्या भाषण रूप दूसरे आश्रवद्वार को भी खोलता है तथा जिस प्राणी को वह मारता है उस प्राणी ने अपने प्राण हरण की अनुमति उसे नहीं दी है इसलिए उसके प्राणों का हरण करने से वह अदत्तादान का भी सेवन करता है। सावद्य को ग्रहण करने से वह परिग्रहसेवी भी बनता है। परिग्रही होने से वह मैथुन और रात्रिभोजन का भी सेवन करता है। इस प्रकार एक आश्रव के सेवन से समस्त आश्रवों का सेवन और एक काय के आरम्भ से सभी काय का आरम्भ होता है। अज्ञानी जीव विषयभोगों मे आसक्त होकर छः ही काया का आरम्भ करता है जिससे कर्मों का बन्ध कर वह दुःखों का भागी बनता है। विवेकी पुरुष इन विषयभोगों का त्याग कर शुद्ध संयम का पालन करता है वह समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त करता है फिर उसे कभी संसार मे आने का कारण नहीं रहता है।

जे (मू) ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं, से हु मुणी जस्स णत्थि ममाइयं, तं परिण्णाय मेहावी विइत्ता लोगं

वंता लोगसण्णं से मइमं परिक्कमिज्जासि त्ति बेमि ॥ ९८ ॥

णारइं सहई वीरे, वीरे ण सहई रइं। जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जइ ॥ १ ॥

अन्वयार्थ —(जे) जो पुरुष (ममाइयमइ) ममत्व बुद्धि को (जहाइ) त्याग देता है (से) वह (ममाइय) परिग्रह को (चयइ) त्याग देता है। (जस्स) जिसको (ममाइय) किसी वस्तु पर ममत्व (णत्थि) नहीं है (से हु) वही (मुणी) मुनि (दिट्ठपहे) मोक्ष के मार्ग को देखने वाला है। अत: (मेहावी) मेधावी (मइम) मतिमान् पुरुष (त) उसे (परिण्णाय) त्याग कर तथा (लोग) लोक के स्वरूप को (विइत्ता) जान कर एव (लोगसण्ण) लोक संज्ञा को (वंता) छोड़ कर (परिक्कमिज्जासि) संयम का पालन करे (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ (वीरे) वीर पुरुष (अरइ) संयम मे अरति को (ण सहइ) सहन नही करता है अर्थात् संयम में अरति नहीं करता है (वीरे) वीर पुरुष (रइ) असयम मे रति को (ण सहइ) नहीं सहता है अर्थात् असंयम मे रति नही करता है (जम्हा) क्योकि (वीरे) वीर पुरुष (अविमणे) रागी नहीं है (तम्हा) इसलिए (वीरे) वह वीर पुरुष (ण रज्जइ) शब्दादि विषयों में अनुरक्त नही होता है ॥ ९८ ॥

भावार्थः—जिसने आभ्यन्तर और बाह्य दोनो प्रकार के परिग्रह का और ममत्व बुद्धि का त्याग कर दिया है वही सम्यग् ज्ञानादि रूप मोक्षमार्ग का देखने वाला है। वही मेधावी और मतिमान् है वह कभी भी असयम मे रति और सयम मे अरति नहीं करता। ऐसा करने वाला पुरुष ही वीर है क्योंकि वही आठ प्रकार के कर्मों को क्षय करने मे समर्थ होता है।

सद्दे फासे अहियासमाणे, णिव्विद णंदि इह जीवियस्स। मुणी मोणं समायाय, धुणे कम्मसरीरगं ॥

पंतं लूहं सेवंति, वीरा सम्मत्तदंसिणो। एस ओहंतरे मुणी तिण्णे, मुत्ते विरए वियाहिए ॥

त्ति बेमि ॥ ९९ ॥

अन्वयार्थः—गुरु महाराज कहते हैं कि हे शिष्य ! (सद्दे) शब्दों को और (फासे) स्पर्शों को (अहियासमाणे) सहन करते हुए तुम (इह) इस लोक में (जीवियस्स) असंयम जीवन में (णंदिं) सन्तुष्टि को (निंदिज्ज) बुरा समझो अर्थात् असंयम जीवन में रमण मत करो। (मुणी) मुनि (मोणं) संयम को (समादाय) स्वीकार कर (कम्मसरीरगं) कर्म शरीर को (धुणे) झड़का देवे। (सम्मत्तदंसिणो) समत्वदर्शी (वीरा) वीर पुरुष (पंतं) नीरस और (लूहं) रूक्ष आहार का (सेवंति) सेवन करते हैं। (एस) ऐसा (मुणी) मुनि (ओहंतरे) संसार सागर को तिरने वाला (तिण्णे) तीर्ण (मुत्ते) मुक्त और (विरए) विरत (वियाहिए) कहा गया है (त्ति बेमि) यह मैं कहता हूँ ॥ ९९ ॥

भावार्थः—शास्त्रकार उपदेश देते हुए कहते हैं कि मुमुक्षु पुरुष को मनोज्ञ शब्दादि में राग और अमनोज्ञ शब्दादि में द्वेष न करना चाहिए किन्तु मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों प्रकार के विषयों में समभाव रखना चाहिए। ऐसा करने वाला पुरुष नीरस एवं रूक्ष आहार करता हुआ शुद्ध संयम का पालन करता है। जिससे अष्ट कर्मों का क्षय कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करता है।

दुव्वसु मुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस वीरे पसंसिए, अच्चेइ लोयसंजोगं, एस णाए पवुच्चइ ।१००।

अन्वयार्थः—(अणाणाए) जो भगवान् की आज्ञा में न रह कर स्वेच्छा से आचरण करता है वह (मुणी) मुनि (दुव्वसु) मोक्ष गमन के योग्य नहीं है। (तुच्छए) वह ज्ञानादि से रहित है। जब कोई श्रावक आदि उससे कुछ संशयात्मक बातें पूछता है तब वह अज्ञान के कारण (वत्तए) उत्तर देने में समर्थ नहीं होता है, इस कारण (गिलाइ) उसके मन में ग्लानि उत्पन्न होती है। (एस) वही पुरुष जो भगवान् की आज्ञा में रह कर यथावस्थित मार्ग की प्ररूपणा करने वाला और वैसा ही आचरण करने वाला है, (वीरे) कर्मों की विदारणा करने में समर्थ होता है और वही (पसंसिए) प्रशंसा के योग्य है। वह पुरुष (लोयसंजोग) लोक के संयोग

को (अच्चेइ) उल्लघन कर जाता है अर्थात् सांसारिक समस्त बन्धनो को तोड़ देता है। (एस) यही (णाए) न्याय मार्ग—सन्मार्ग (पवुच्चइ) कहा गया है ॥ १०० ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञा का आराधक पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है अनाराधक अर्थात् तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा की अवहेलना कर अपनी इच्छानुसार आचरण करने वाला पुरुष नही ॥

जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति, इइ कम्मं परिण्णाय सव्वसो जे अणण्ण-दंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी, जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ, जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥ १०१ ॥

अन्वयार्थः—(इह) इस ससार मे (माणवाण) मनुष्यों के (ज) जो (दुक्ख) दुःख (पवेइय) तीर्थंकर भगवान् ने बताये हैं (कुसला) कुशल पुरुष (तस्स) उस (दुक्खस्स) दु ख को (परिण्ण) जान कर उसको त्याग करने का (उदाहरति) उपदेश देते है (इइ) इस प्रकार विद्वान् पुरुष उनके कारण रूप (कम्म) कर्म का (परिण्णाय) जान कर (सव्वसो) सर्वथा अर्थात् तीन करण तीन योग से त्याग करे। (जे) जो पुरुष (अणण्णदसी) अनन्यदर्शी है यानी यथावस्थित वस्तु तत्त्व का जानता है (से) वह (अणण्णारामे) अनन्याराम होता है अर्थात् वह तीर्थंकरोक्त मोक्षमार्ग से अन्यत्र रमण नही करता है। (जे) जो पुरुष (अणण्णारामे) मोक्षमार्ग से अन्यत्र रमण नही करता है (से) वही (अणण्णदसी) यथार्थ वस्तु तत्त्व का देखने वाला है। मुनि (जहा) जैसे (पुण्णस्स) पुण्यवान्—भाग्यवान् को (कत्थइ) कहता है (तहा) वैसे ही (तुच्छस्स) तुच्छ का भी (कत्थइ) कहता है और (जहा) जैसे (तुच्छस्स) तुच्छ को (कत्थइ) कहता है (तहा)

वैसे ही (पुरणस्स) पुण्यवान् को भी (कत्थइ) कहता है ॥ १०१ ॥

भावार्थः—तीर्थंकर भगवान् ने प्राणियों के जो दुःख बताये हैं उनसे मुक्त होने के लिए कुशल पुरुष उपदेश देते हैं कि वह दुःख कर्मकृत है। अतः कर्मों के स्वरूप को तथा आश्रवद्वारों को समझ कर तीन योग तीन करण से उनका त्याग कर देना चाहिए।

जो पुरुष वस्तु स्वरूप को यथार्थ रूप से जानता है उसका चित्त मोक्षमार्ग से अन्य पदार्थ में नहीं लगता है वही पुरुष अनन्यदर्शी है अर्थात् वह तीर्थंकरोक्त शास्त्र के सिवाय दूसरे शास्त्रों में रत नहीं होता है।

जैसे मुनि, देवों के इन्द्र, चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा और जाति, कुल, बल, धनादि से सम्पन्न पुण्यवान् पुरुषों के लिए उपदेश देते हैं वैसे ही काष्ठ के ढोने वाले दरिद्र, कुरूप और धनादि से रहित तुच्छ पुरुषों के लिए भी उपदेश देते हैं क्योंकि मुनि तो सब जीवों का कल्याण एवं हित चाहते हैं। वे किसी से प्रत्युपकार की आशा नहीं रखते हैं। इसलिए वे सब जीवों को समान दृष्टि से देखते हुए उनके कल्याण के लिए उपदेश देते हैं॥

अवि य हणे अणाइयमाणे, इत्थं वि जाण सेयंति णत्थि, केयं पुरिसे कं च णए? एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्वपरिण्णाचारी, लिप्पइ छणपएण, वीरे, से मेहावी अणुग्घायणस्स खेयण्णे, जे य बंधपमुक्खमण्णेसी कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थः—(केयं पुरिसे) यह पुरुष कौन है (य) और (कं) किसको (णए) नमस्कार करने वाला है (इइ) इस प्रकार उपदेश देने वाले साधु को पहले (जाण) जानना चाहिए। (इत्थ वि) ऐसा जाने विना उपदेश देना (सेयं) श्रेयस्कर (णत्थि) नहीं है क्योंकि साधु द्वारा उपदेश दिया जाने पर (अवि य) यदि कदाचित् (अणाइयमाणे) अपने आपको अपमानित हुआ समझ कर राजा

आदि (हणे) उस साधु को मार सकता है। अत (जे) जो द्रव्य क्षेत्र काल भाव को देखकर उपदेश देता है, (एस) वही (वीरे) वीर पुरुष (पससिए) प्रशसनीय होता है और वही (उड्ड) ऊंची (अह) नीची और (तिरिय) तिरछी (दिसासु) दिशाओं में (वद्धे) कर्मबन्ध से बन्धे हुए प्राणियो को (मोयए) मुक्त करने में समर्थ होता है। (से) वह पुरुष (सव्वओ) सब काल मे सर्व प्रकार से (सव्व-परिण्णाचारी) सर्व सवर और सर्व चारित्र से युक्त होकर रहता है। वह पुरुष (छणपएण) हिसा से (णो लिप्पइ) लिप्त नही होता है। (से) वह (वीरे) वीर पुरुष (मेहावी) बुद्धिमान् है और (जे) जो (अणुग्घायणस्स) कर्मों का नाश करने मे (खेयण्णे) कुशल है (य) और (जे) जो पुरुष (बधपमुक्ख) वन्धन से मुक्त होने के उपाय का (अण्णेसी) अन्वेषण करता है (पुण) और अन्वेपण करके जिसने (कुसले) घाती कर्मों का क्षय कर दिया है ऐसा कुशल पुरुष (णे वद्धे) न तो वद्ध ही है और (णो मुक्के) न मुक्त ही है ॥ १०२ ॥

भावार्थः—धर्मोपदेश करने वाले साधु को पहले उपदेश देने की विधि सीखनी चाहिए पश्चात् धर्म का उपदेश करना चाहिए। इसके विपरीत जो साधु उपदेश की विधि को जाने विना धर्म का उपदेश करता है वह इस लोक मे हानि को प्राप्त करता है और पर-लोक मे भी कर्मबन्ध करके पाप का भागी बनता है। सभा में बैठे हुए पुरुषों की योग्यता को देख कर द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार उपदेश देना चाहिए। सभा मे यदि कोई राजा महाराजा बैठा हो और वह अन्यदर्शनी हो तो साधु उसके दर्शन का एकाएक खण्डन करना आरम्भ करदे क्योंकि ऐसा करना अविधि है। इससे वह राजा महाराजा कुपित होकर साधु को अपनी इच्छानुसार घोर दण्ड भी दे सकता है। इसलिए जो धर्मोपदेश की विधि को नहीं जानता है उसको मौन रहना ही अच्छा है।

धर्मोपदेश की विधि का वर्णन करते हुए श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है कि—धर्मोपदेश करने वाले साधु के पास आकर यदि कोई धर्म विषयक प्रश्न करे तो उसके विषय मे साधु को विचार करना चाहिए कि यह पुरुष कौन है। यह मिथ्यादृष्टि है या भद्र-

स्वभावी ? यह किस अभिप्राय से धर्म पूछ रहा है ? यह किस दर्शन और किस देवता को मानने वाला है ? इत्यादि बातों का निश्चय करके पश्चात् धर्म का उपदेश करना चाहिए। इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार कर जो साधु पुण्यवान् और तुच्छ को समान भाव से उपदेश देता है वह प्रशंसा का पात्र है। वह स्वयं कर्मों से मुक्त कराने में समर्थ होता है।

जो पुरुष कर्मों के घात के उपायों को जानता है और अन्वेषण करता है वह पुरुष कुशल है। ऐसा पुरुष छद्मस्थ और केवली दोनों तरह का हो सकता है क्योंकि जो छद्मस्थ पुरुष ज्ञान दर्शन चारित्र सम्पन्न है वह मिथ्यात्व और कषाय के उपशम हो जाने के कारण बद्ध नहीं है और वह कर्म से युक्त होने के कारण मुक्त भी नहीं है। अथवा ऐसा कुशल पुरुष केवली भी हो सकता है क्योंकि चार घाती कर्मों का नाश कर देने कारण वह बद्ध नहीं है और भवोपग्राही चार अघाती कर्मों के होने से वह मुक्त भी नहीं है। इसलिए ऐसा कुशल पुरुष न तो बद्ध है और न मुक्त है॥

से जं च आरभे जं च णारभे, अणारद्धं च ण आरभे, छणं छणं परिण्णाय लोगसण्णं च सव्वसो ॥ १०२ ॥

अन्वयार्थः--(से) वह उपरोक्त कुशल पुरुष (ज) जो कार्य करता है अथवा उसने जो किया है (आरभे) वह करना चाहिए (च) और (ज) जो कार्य नहीं किया है वह (ण आरभे) नहीं करना चाहिए। (च) और (अणारद्धं) केवलियों ने तथा विशिष्ट मुनियों ने जो आचरण नहीं किया है वह (ण आरभे) मोक्षार्थी को कदापि न करना चाहिए। (छणं छणं) जिन जिन कार्यों से हिंसा होती है उनको (परिण्णाय) जानकर उनका त्याग कर देना चाहिए (च) और (सव्वसो) तीनों योग और तीनों करणों से (लोगसण्णं) विषय सुख की इच्छा और परिग्रह को त्याग देना चाहिए॥ १०२॥

भावार्थः—केवलियों ने तथा विशिष्ट मुनियों ने मोक्ष प्राप्ति के लिए जो आचरण किया है मोक्षार्थी पुरुष को वैसा ही आच-

रण करना चाहिए। जिन कार्यों से हिंसा होती है तथा जिस कार्य का आचरण ज्ञानियो ने निषिद्ध बतलाया है उसका कदापि आच-रण न करे ॥

उद्देसो पासगस्स णत्थि, बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ ॥ १०४ ॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—(पासगस्स) जो मनुष्य ज्ञानवान् है उसके लिए (उद्देसो) उपदेश की आवश्यकता (णत्थि) नहीं है। (बाले) बाल-अज्ञानी (णिहे) राग द्वेष से मोहित और कषायों से पीड़ित (पुण) तथा (कामसमणुण्णे) विषयभोगों को मनोहर मान कर उनमें आसक्त रहने वाला पुरुष (असमियदुक्खे) विषयभोग और कषायों से उत्पन्न दुःख को शांत नहीं करता है इस प्रकार (दुक्खी) शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित वह (दुक्खाणमेव) दुःखों के (आवट्टं) चक्र में ही (अणुपरियट्टइ) सदा घूमता रहता है ॥ १०४ ॥ (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ।

भावार्थः—जो वस्तुस्वरूप को देखने वाला है उसे पश्यक कहते है अथवा केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानने वाले तीर्थंकर भगवान् और उनकी आज्ञा मे चलने वाले पुरुष पश्यक कहलाते हैं। इन सब के लिए उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं है। वे स्वत ही अहित से निवृत्ति और हित मे प्रवृत्ति करते है।

रागादि से मोहित और विषयो मे आसक्त अज्ञानी पुरुष शारीरिक और मानसिक दुःखो से सदा पीड़ित होता हुआ संसारचक्र मे परिभ्रमण करता है। इसलिए विवेकी पुरुष को रागादि का तथा विषयभोगो का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

॥ इति लोकविजय नामक द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

शीतोष्णीय नामक तृतीय अध्ययन

प्रथम उद्देशक

अब तीसरे अध्ययन में यह बतलाया जायगा कि साधु को शीत और उष्ण एवं अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए। प्रथम अध्ययन में बताये हुए महाव्रतों से युक्त और दूसरे अध्ययन में वर्णित संयम में स्थित तथा कषाय आदि का विजय किये हुए मोक्षार्थी मुनि को यदि कभी अनुकूल और प्रतिकूल परीषह उत्पन्न हों तो वह समभाव से उनको सहन करे यह उपदेश करने के लिए इस अध्ययन का आरम्भ हुआ है इसलिए इसे शीतोष्णीय अध्ययन कहते हैं।

सुत्ता अमुणी सया मुणिणो सययं जागरंति ॥ १०५ ॥

अन्वयार्थः—(अमुणी) अमुनि यानी अज्ञानी पुरुष (सया) सदा (सुत्ता) सोये हुए हैं परन्तु (मुणिणो) मुनि (सययं–सदा) सदा (जागरति) जागते हैं ॥ १०५ ॥

भावार्थः—शयन यानी सोना दो प्रकार का है—एक द्रव्यशयन और दूसरा भावशयन। इनमें निद्रा रूप शयन द्रव्यशयन है और मिथ्यात्व तथा अज्ञानमय शयन भाव शयन है। भाव शयन समस्त दुःखों का कारण है। जो जीव अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं वे द्रव्य से जागते हुए भी भाव से सोये हुए हैं क्योंकि वे उत्तम ज्ञान के अनुष्ठान से रहित हैं। जो उत्तम ज्ञान से सम्पन्न और मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति करने वाले मुनि हैं वे द्रव्य से सोते हुए भी भाव से सदा जागते हैं ॥

लोयंसि जाण अहियाय, दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्थ सत्थोवरए, जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमण्णागया भवंति ॥ १०६ ॥

अन्वयार्थः—(लोयंसि) छः काय के जीवों से परिपूर्ण इस लोक में (दुक्ख) अज्ञान ही (अहियाय) अहित के लिए है यह (जाण) जानो। (लोगस्स) लोक के (समय) आचार को या समता को (जाणित्ता) जानकर किसी भी प्राणी की घात न करे। (इत्थ) इस छः काय के लोक में (सत्थोवरए) शस्त्र का प्रयोग न करते हुए धर्म जागरणा का आश्रय लेना चाहिए। (इमे) ये (सद्दा) शब्द (रूवा) रूप (रसा) रस (गंधा) गन्ध (य) और (फासा) स्पर्श (जस्स) जिस पुरुष को (अभिसमण्णागया) पूर्ण रूप से ज्ञात (भवति) हो जाते है वही पुरुष लोक को जानने वाला है ॥ १०६ ॥

भावार्थः—छः काय के जीवो से परिपूर्ण इस लोक मे अज्ञान ही दुःख का कारण है। इसी से प्राणी इस लोक और परलोक में नानाविध दुःखो को प्राप्त होता है। इसलिए अज्ञान के उन्मूलन के लिए प्रयत्न करना चाहिए। अज्ञान के वशीभूत होकर जीव प्राणियों की हिंसा करता है एवं विविध पाप उपार्जन करता है उनका फल भोगने के लिए नरकादि गतियो मे जाता है। आर्यक्षेत्र, मनुष्यभव आदि का मिलना बडा कठिन है। इसे प्राप्त कर अज्ञान के नाश के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अज्ञानी जीव मनोज्ञ रूप रसादि मे राग और अमनोज्ञ मे द्वेष करते हैं किन्तु विवेकी पुरुष दोनो मे समभाव रखते है क्योंकि राग-द्वेष कर्मबन्ध के कारण हैं ॥

से आयवं णायवं वेयवं धम्मवं बंभवं पण्णाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वच्चे, धम्मविऊत्ति अंजू आवट्टसोए संगमभिजाणइ ॥ १०७ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह पुरुष (आयव) आत्मवान् है (णाणवं) ज्ञानवान् है (वेयवं) वेद अर्थात् आचारांगादि सूत्रों को जानने वाला है (धम्मव) धर्मज्ञ है (बंभव) ब्रह्मज्ञ है। वह (पण्णाणेहिं) मति आदि ज्ञानों के द्वारा (लोग) लोक को (परियाणइ) जानता है, वही (मुणी त्ति) मुनि (वच्चे) कहलाने के योग्य है। (धम्मविऊत्ति) वह धर्मवेत्ता है (अजू) सरल है। वह (आवट्टसोए संगं) संसार रूप आवर्त्त और स्रोत के संग को (अभिजाणइ) जानता है ॥ १०७ ॥

भावार्थः—जो आत्मवान् ज्ञानवान् आदि उपरोक्त विशेषणों वाला मुनि है वह संसार के मूल कारण रागद्वेष को जान कर उन्हें छोड़ देता है। अतः वास्तव में वही विद्वान् और धर्मज्ञ है ॥

सीउसिणच्चाई से णिग्गंथे अरइरइसहे, फरुसयं णो वेएइ, जागरवेरोवरए, वीरे एव दुक्खा पमुक्खसि, जरामच्चु-वसोवणीए णरे सययं मूढे धम्मं णाभिजाणइ ॥ १०८ ॥

अन्वयार्थः—(सीउसिणच्चाई) शीत और उष्ण को त्यागने वाला यानी शीत और उष्ण के कष्ट को सहन करने वाला (अरइरइसहे) असंयम में अरति और संयम में रति रखने वाला (से) वह (णिग्गंथे) निर्ग्रन्थ (फरुसयं) परीषह और उपसर्गों को पीड़ाकारी (णो वेएइ) नहीं समझता है। (जागर) वह पुरुष असंयम जीवन रूप भावनिद्रा को त्याग कर सदा जागृत रहता है। (वेरोवरए) वह वैरभाव से सदा निवृत्त रहता है। (एव) इस तरह (वीरे) वीर पुरुष (दुक्खा) दुःखों से (पमुक्खसि) छूट जाता है। (जरामच्चुवसोवणीए) जरा और मृत्यु के वश में जाने वाला (णरे) पुरुष (सययं) सदा (मूढे) मूढ़ है। वह (धम्मं) धर्म को (णाभिजाणइ) नहीं जानता है ॥ १०८ ॥

भावार्थः— जिसने आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार की ग्रन्थियों को तोड दिया है ऐसा निर्ग्रन्थ न तो सासारिक सुख की इच्छा करता है और न दु खो से घबराता है किन्तु वह अनुकूल और प्रतिकूल सब परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता है। ऐसा वीर पुरुष भावनिद्रा का त्याग कर सयम मे निरन्तर रत रहता है। वह समस्त दु खो से छूट जाता है ॥

पासिय आउरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता एय मइमं पास आरंभजं दुक्खमिणं त्ति णच्चा, माई पमाई पुण एइ गब्भं, उवेहमाणो सद्दरूवेसु अंजू माराभिसंकी मरणा पमुच्चइ, अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आय-- गुत्ते जे खेयण्णे, जे पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजायसत्थस्स खेयण्णे, अकम्मस्स ववहारो ण विज्जइ, कम्मुणा उवाही जायइ, कम्मं य पडिलेहाए ॥ १०९ ॥

अन्वयार्थः—भाव से जागता हुआ पुरुष (आउरे) आतुर अर्थात् शारीरिक और मानसिक दु ख पाते हुए (पाणे) प्राणियों को (पासिय) देख कर (अप्पमत्तो) प्रमाद रहित वन कर (परिव्वए) संयम का अनुष्ठान करे। शास्त्रकार कहते हैं कि (मइमं) हे मति-मन्! (पास) भाव से सोये हुए जीवों की दुर्दशा को देखो। (एय) यह (मंता) मान कर भाव से सोने का विचार मत करो। (इणं) यह जो प्राणियों मे नाना प्रकार का (दुक्ख) दुःख देखा जाता है वह (आरंभजं) आरम्भ जनित है (इइ) ऐसा (णच्चा) समझ कर, आरम्भ रहित बनने का प्रयत्न करो। (माई) मायावी और (पमाई) प्रमादी पुरुष (पुण) वारवार (गब्भ) गर्भवास को (एइ) प्राप्त होता है। (सद्दरूवेसु) शब्द और रूपादि विषयों मे (उवेहमाणो) रागद्वेष न करने वाला जीव ही (अंजू) वास्तव में सरल है तथा (माराभिसंकी) मृत्यु से शंका रखने वाला पुरुष ऐसा प्रयत्न करता है, कि (पमुच्चइ) वह मृत्यु से ही छूट जाता है। (कामेहिं) जो

कामभोगों में न फँस कर (अप्पमत्तो) प्रमाद नहीं करता है किन्तु (पावकम्मेहिं) पापकर्मों से (उवरए) उपरत हो गया है। (वीरे) वह पुरुष वीर है और (आयगुत्ते) वह अपनी आत्मा की रक्षा करने वाला है। (जे) जो पुरुष (खेयण्णे) संयम पालन और तप आदि के कष्टों को सहन करना जानता है वही पुरुष अपनी आत्मा की रक्षा को भी जानता है। (जो) जो पुरुष (पज्जवजायसत्थस्स) शब्दादि विषयों की प्राप्ति के लिए प्राणियों द्वारा किये जाने वाले घातक कर्मों के अनुष्ठान को (खेयण्णे) जानता है (से) वही (असत्थस्स) अशस्त्र अर्थात् निरवद्यानुष्ठान रूप संयम पालन के कष्टों को भी (खेयण्णे) जानता है। (जे) जो पुरुष (असत्थस्स) संयम पालन के कष्टों को (खेयण्णे) जानता है (से) वही (पज्जवजायसत्थस्स) शब्दादि विषयों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले सावद्यानुष्ठानों को भी (खेयण्णे) जानता है (अकम्मस्स) जो पुरुष कर्मों से रहित हो जाता है उसका (ववहारो) इस संसार में व्यवहार (ण विज्जइ) नहीं होता है अर्थात् वह फिर संसार में नहीं आता है। (कम्मुणा) कर्मों से ही (उवाही) उपाधियां (जायइ) प्राप्त होती हैं अतः (कम्म) कर्म को ही संसार का कारण (पडिलेहाए) जान कर उसके क्षय के लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥ १०९ ॥

भावार्थः—भावनिद्रा अति दुःखदायिनी है अतः उसका त्याग कर अप्रमत्त भाव से विचरना चाहिए। शब्दादि विषयों में प्रमत्त न होने वाला पुरुष ही सच्चा वीर है। सावद्य अर्थात् पापकारी अनुष्ठानों से निवृत्त होकर शुद्ध संयम का पालन करने वाला पुरुष शीघ्र ही समस्त कर्मों से मुक्त हो जाता है। वह फिर कभी संसार में नहीं आता क्योंकि जब तक कर्म है तब तक ही सांसारिक उपाधियाँ हैं। कर्मों का क्षय हो जाने पर जीव निरुपाधिक होकर अनन्त सुखों में विराजमान हो जाता है ॥

कम्ममूलं च जं छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे तं परिण्णाय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसण्णं से मेहावी परक्कमिज्जासि ॥ ११० ॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—(जं) जो (कम्ममूल) कर्म का मूल कारण है उसे (य) और (छण) हिंसा को (पडिलेहिय) जान कर त्याग देवे। (सव्व) पूर्वोक्त समस्त उपदेशो को (समायाय) ग्रहण करके (अंतेहिं) राग और द्वेष (दोहिं) दोनों के साथ (अदिस्समाणे) दिखाई न देता हुआ अर्थात् राग द्वेष से लिप्त न होता हुआ (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (त) कर्म और रागद्वेष को (परिण्णाय) त्याग कर तथा (लोग) रागद्वेष मे फँसे हुए लोक को (विइत्ता) जान कर एव (लोगसण्ण) लोक संज्ञा को अर्थात् विषयभोग तथा कषायों को (वंता) छोड़ कर (परक्कमिज्जासि) संयम का अनुष्ठान करे। (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ॥ ११० ॥

नोट.—"कम्ममूल य ज छण पडिलेहिय" के स्थान पर "कम्ममाहूय ज छण य" ऐसा पाठान्तर भी देखा जाता है। जिसका अर्थ इस प्रकार है —

(जं) जिस (छण) क्षण मे (कम्म) कर्मबन्ध हो उसी क्षण मे (आहूय) उसकी निवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् अज्ञान और प्रमादवश जिस क्षण मे कर्मबन्धनकारक कार्य हो जावे उसी क्षण मे सावधान होकर कर्म के कारणों की निवृत्ति कर देनी चाहिए।

भावार्थः—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये कर्म के मूल कारण हैं। इन्हे जान कर विवेकी पुरुष इनका त्याग कर देवे और शुद्ध सयम के अनुष्ठान मे प्रयत्न करे॥

॥ इति शीतोष्णीय अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

तीसरे अध्ययन का दूसरा उद्देशक

जाइं च वुड्ढिं च इहज्ज पास, भूएहिं सायं पडिलेह जाणे ।
तम्हा अइ विज्जे परमं त्ति णच्चा, सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार कहते हैं कि हे आर्य (अज्ज) आज ही यानी एक क्षण भर का भी विलम्ब किये बिना (इह) इस जगत् में (जाइं) जन्म (च) और (वुड्ढिं) वृद्धि को अर्थात् जन्म मरण के दु खों को (पास) देखो। (सायं) अपने सुख को (भूएहिं) प्राणियों के साथ समान रूप से (पडिलेह) विचार कर (जाणे) जानो (तम्हा) इसलिए (अइविज्जे) विद्वान् पुरुष (परमं ति) मोक्ष मार्ग को (णच्चा) जान कर और (सम्मत्तदंसी) सम्यक्त्वदर्शी बन कर (पावं) पाप (ण करेइ) नहीं करता है ॥

भावार्थः—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी गौतम स्वामी को सम्बोधित कर कहते हैं कि हे आर्य! तुम जन्म और मरण के दु:खों को देखो। जिस प्रकार तुम को सुख प्रिय है उसी प्रकार संसार के समस्त जीवों को सुख प्रिय है ऐसा समझ कर ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे दूसरे प्राणियों को दु ख उत्पन्न हो। ऐसा करने वाला पंडित सम्यक्त्वदर्शी पुरुष जन्म और मरण के दु खों से मुक्त हो जाता है।

उम्मुंच पासं इह मच्चिएहिं, आरंभजीवी उभयाणुपस्सी ।
कामेसु गिद्धा णिचयं करंति, संसिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—गुरु कहते हैं कि हे शिष्य! (इह) इस मनुष्य लोक में (मच्चिएहिं) प्राणियों के साथ (पासं) पाश को यानी

पाश के समान बन्धन करने वाले हिंसादि पापों को (उम्मुंच) त्याग दो। (आरंभजीवी) जो पुरुष आरम्भ से जीवन व्यतीत करता है वह (उभयाणुपस्सी) उभयानुदर्शी अर्थात् शारीरिक और मानसिक दुःखों का भागी होता है। (कामेसु) कामभोगो मे (गिद्धा) आसक्त जीव (णिचय) कर्मों का सञ्चय (करति) करते है। इस प्रकार (ससिच्चमाणा) कर्मों के संचय से भारी बने हुए प्राणी (पुणो) बार २ (गब्भ) गर्भवास को (इति) प्राप्त होते है ॥ २ ॥

भावार्थः—कामभोगो मे आसक्त बने हुए जीव हिंसा आदि नाना प्रकार का पापाचरण करते है जिससे बारबार गर्भवास को प्राप्त होते हैं और शारीरिक और मानसिक दुःखो से दुःखित होते रहते है। अत बुद्धिमान् पुरुषो को विषयभोगो मे आसक्त न होना चाहिए ॥

अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मण्णई। अलं बालस्स संगेण, वेरं वड्ढई अप्पणो ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह विषयी जीव (हासमासज्ज) हास्य के लिए (हंता अवि) जीवो को मार कर भी (णंदीति) उसे एक क्रीड़ा (मण्णई) मानता है। ऐसा करके वह अज्ञानी जीव प्राणियों के साथ व्यर्थ ही (अप्पणो) अपना (वेर) वैर (वड्ढई) बढ़ाता है। अतः (बालस्स) ऐसे बाल अज्ञानी जीव का (संगेण अलं) संग भी न करना चाहिए ॥ ३ ॥

भावार्थः—बहुत से कामासक्त जीव अपने हास्य क्रीडार्थ एव मनोविनोदार्थ जीवो की हिंसा करते हैं। वे अज्ञानी व्यर्थ ही उन प्राणियो के साथ अनेक जन्म के लिए अपना वैर बढाते हैं। अतः विवेकी पुरुषो को ऐसा कदापि न करना चाहिए।

तम्हा अइविज्जो परमंति णच्चा, आयंकदंसी ण करेइ पावं।
अग्गं य मूलं य विगिंच धीरे, पलिच्छिंदिया णं णिक्कम्मदंसी ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(तम्हा) इसलिए (अइविज्जो) अतिशय विद्वान् पुरुष (परम ति) मोक्ष को सब से श्रेष्ठ (णच्चा) जान कर एव (आयकदसी) आतकदर्शी अर्थात् नरक आदि से भय करता हुआ (पाव) पापकर्म (ण करेइ) नही करता है। (धीरे) हे धीर! तुम (अग्गं) अग्र यानी भव को ग्रहण कराने वाले चार कर्मों को (य) और (मूल) मूल यानी चार घाती कर्मों को (विगिंच) अपने से अलग करो। क्योकि (पलिच्छिंदिया) कर्मबन्धनों को काट कर (ण) ही पुरुष (णिक्कम्मदसी) आत्मदर्शी होता है। ४॥

भावार्थः—विषयभोगो को दुःख रूप जानने वाले पण्डित पुरुष विषयो मे आसक्त नही होते। वे समस्त कर्मो का क्षय करके अनन्त सुखमय मोक्ष मे चले जाते है॥

एस मरणा पमुच्चइ से हु दिट्ठभए मुणी, लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सया जए काल-कंखी परिव्वए, बहुं य खलु पावं कम्मं पगडं ॥ १११ ॥

अन्वयार्थ—(एस) यह पुरुष अर्थात् चार मूल यानी घाती और चार अग्र यानी अघाती कर्मो को अपनी आत्मा से पृथक् करने वाला पुरुष (मरणा) मरण से (पमुच्चइ) मुक्त हो जाता है। (से हु) वह (मुणी) मुनि (दिट्ठभए) संसार के सातों भयो को देखने वाला है। वह (लोगसि) लोक मे (परमदसी) सब से श्रेष्ठ मोक्ष या संयम को देखने वाला (विवित्तजीवी) भाव से रागद्वेष रहित और द्रव्य से स्त्री पशु नपुसक रहित स्थान मे जीवन व्यतीत करने वाला (उवसते) उपशान्त (समिए) समितियो से युक्त (सहिए) ज्ञानादि सहित (सया) सदा (जए) यत्नवान् रहता है। ऐसा साधु (कालकंखी) काल की अपेक्षा करता हुआ (परिव्वए) शुद्ध संयम का पालन करे। (खलु) निश्चय ही इस जीव ने (बहु) बहुत (पाव) पाप (कम्मं) कर्म (पगडं) किये है॥ १११॥

भावार्थः—परमदर्शी मुमुक्षु पुरुष अपनी इन्द्रियों को वश मे रखता हुआ शुद्ध संयम का पालन करता है और ज्ञान आदि से युक्त रहता हुआ कभी भी प्रमाद नहीं करता है। वह पुरुष मृत्युकाल तक पूर्वोक्त गुणो का पालन करता रहता है और मृत्युकाल आने पर वह पण्डितमरण से मरता है। अत. विवेकी पुरुष को पूर्वोक्त गुणो से युक्त होकर मरण पर्यन्त सयम का पालन करना चाहिए। यदि कोई कहे कि मरण पर्यन्त सयम का पालन करनेकी क्या आवश्यकता है? तो इसका समाधान यह है कि जीव के साथ इतने कर्म बन्धे हुए हैं कि थोडे काल मे उनका चय होना सम्भव नही है। अतः मरण पर्यन्त सयमपालन की आवशगकता है॥

सच्चम्मि धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं झोसेइ ॥ ११२ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार कहते है कि हे प्राणियो! (सच्चम्मि) सत्य यानी संयम में (धिइ) धीरता (कुव्वहा) रखो (एत्थोवरए) इस संयम मे स्थित (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (सव्व) समस्त (पाव) पाप (कम्म) कर्मों को (झोसेइ) चय कर देता है॥ ११२॥

भावार्थः—सयम मे धीरता रखने वाला पुरुष समस्त कर्मों का चय कर देता है॥

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहइ पूरइत्तए, से अण्णवहाए अण्णपरियावाए अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरियावाए जणवयपरिग्गहाए ॥ ११३ ॥

अन्वयार्थः—(खलु) निश्चय ही (अय) यह (पुरिसे) पुरुष (अणेगचित्ते) अनेक चित्त वाला होता है। (से) वह (केयण) केतन अर्थात् अपनी लोभेच्छा एवं तृष्णा को (पूरइत्तए) पूरा करने का (अरिहइ) प्रयत्न करता है। (से) उसकी वह तृष्णा (अण्णवहाए) दूसरे प्राणियों के वध के लिए (अण्णपरियावाए) उनको परिताप अर्थात् शारीरिक और मानसिक कष्ट देने के लिए और (अण्ण-

परिग्गहाए) अन्य पदार्थों के परिग्रह के लिए होती है तथा (जणवयवहाए) जनपद के वध के लिए (जणवयपरियावाए) जनपद को परिताप पहुँचाने के लिए एव (जणवयपरिग्गहाए) जनपद के परिग्रह के लिए होती है ॥ ११३ ॥

भावार्थः—कामासक्त पुरुष अपनी भोगलालसा और तृष्णा को पूरा करने के लिए नाना प्रकार से जीवो का वध करते हैं किन्तु यह लालसा कभी पूरी नही होती है। अब तक जितने जीव उत्पन्न हुए हैं किसी की भी यह भोगलालसा पूरी नही हुई और न किसी की होगी ॥

आसेवित्ता एयं अट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं णो सेवे, णिस्सारं पासिय णाणी, उववायं चवणं णच्चा, अणण्णं चर माहणे, से ण छणे ण छणावए छणंतं णाणुजाणए, णिव्विद णंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी, णिसण्णे पावेहिं कम्मेहिं ॥ ११४ ॥

अन्वयार्थः— (एगे) कितनेक पुरुष (एयं) इस (अट्ठं) अर्थ को (आसेवित्ता) सेवन करके (समुट्ठिया) संयम मे स्थित होते हैं (तम्हा) इसलिए उन्हें (बिइयं) फिर असंयम अथवा मृपावाद का (णो सेवे) सेवन नही करना चाहिए। (णाणी) ज्ञानी पुरुष (णिस्सार) विषयसेवन को सार रहित (पासिय) जानकर उसकी इच्छा न करे। (माहणे) "जीवों को मत मारो" इस प्रकार उपदेश देने वाला मुनि (उववाय) जन्म और (चवणं) मरण को (णच्चा) जान कर (अणण्णं) संयम का (चर) पालन करे। (से) वह पुरुष (ण छणे) किसी प्राणी की हिंसा न करे, (ण छणावए) हिंसा न करावे और (छणंत) हिंसा करने वाले की (ण अणुजाणए) अनुमोदना भी न करे। गुरु महाराज शिष्य को उपदेश करते हुए कहते हैं कि हे शिष्य! तुम (णंदिं) विषयानन्द से (णिव्विद) घृणा करो (पयासु) स्त्रियों मे

(अरए) अनुरक्त मत बनो तथा (अणोमदसी) सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्रवान् बनो। जो उक्त गुणों वाला पुरुष होता है वह (पावेहिं कम्मेहिं) पाप कर्मों से (णिसरणे) निवृत्त हो जाता है ॥ ११४ ॥

भावार्थः—पूर्वकाल मे भरत चक्रवर्ती आदि अनेक राजा लोगो ने परिग्रह का खूब उपार्जन किया था किन्तु उससे भी तृष्णा की तृप्ति न हुई तब उन्होने तृष्णा का त्याग कर सयम धारण किया और उसका विधिवत् पालन कर मोक्ष प्राप्त किया। अत. मुमुक्षु पुरुषों को तृष्णा का त्याग कर सयम का पालन करना चाहिए। माहन अर्थात् 'मा–मत' हन–मारो" इस प्रकार उपदेश देने वाला मुनि तीन करण तीन योग से हिसा का त्याग कर दे ॥

कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं ।
तम्हा य वीरे विरए वहाओ, छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(वीरे) वीर पुरुष (कोहाइमाण) क्रोध, मान (य) और माया को (हणिया) हनन करे तथा (लोभस्स) लोभ का फल (महत) महान् (णिरय) नरक है ऐसा (पासे) देखे—विचार करे। (तम्हा) इसलिए (वीरे) वीर पुरुष (वहाओ) प्राणिवध से (विरए) निवृत्त हो जाय (य) और (लहुभूयगामी) द्रव्य और भाव से लघुभूत बन कर संयम का पालन करता हुआ (सोय) शोक या भाव स्रोत का (छिंदिज्ज) छेदन करे ॥ १ ॥

भावार्थः—शास्त्रकार फरमाते है कि क्रोधादि कषाय का विनाश कर डालो जिसमें भी लोभ का फल तो महा दु खदायी है। लोभी पुरुष प्राणिवधादि पाप कर्मों मे प्रवृत्ति करके सातवे नरक तक जाता है। अत मुमुक्षु पुरुष को क्रोधादि कषायो का छेदन करके संसार का छेदन कर देना चाहिए ॥

गंथं परिण्णाय इह अज्ज ! धीरे, सोयं परिण्णाय चरिज्ज दंते ।
उम्मज्ज लद्धुं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारभिज्जा ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार उपदेश करते हुए फरमाते हैं कि (अज्ज) हे आर्यो ! आज ही (धीरे) धैर्यवान् बन कर (इह) इन (गंथ) बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों को (परिण्णाय) जान कर त्याग दो। (दंते) इन्द्रिय तथा मन का दमन करके और (सोय) विषय संग रूप संसार के स्रोतों का (परिण्णाय) त्याग करके (चरिज्ज) संयम का पालन करो। (इह) इस संसार में (उम्मज्ज) उन्मज्जन अर्थात् मनुष्य भव, धर्मश्रवण, शुद्ध श्रद्धा आदि सुअवसर को (लद्धुं) प्राप्त करके (माणवेहिं) मनुष्यों को (पाणिणं) प्राणियों के (पाणे) प्राणों का (णो समारभिज्जा) आरम्भ न करना चाहिए अर्थात् प्राणिवध नहीं करना चाहिए ॥ २ ॥

भावार्थः—मोक्षार्थी पुरुष को चाहिए कि बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों को तोड़ कर विषयासक्ति का त्याग कर दे। यह संसार एक महान् समुद्र है। मनुष्य भव को प्राप्त कर जो पुरुष शुद्ध श्रद्धा को ग्रहण कर संयम का पालन करता है वह संसार समुद्र तिर जाता है। अतः मनुष्य भव को प्राप्त कर इस संसार सागर से निकलने का प्रयत्न करना चाहिए ॥

॥ इति द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तीसरे अध्ययन का तीसरा उद्देशक

संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा ण हंता ण विघायए, जमिणं अण्णमण्णवितिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ मुणी कारणं सिया ? ॥ ११५ ॥

अन्वयार्थः—(लोयस्स) लोक की (संधि) संधि को यानी अवसर को (जाणित्ता) जानकर प्रमाद न करना चाहिए। (बहिया) अपने से भिन्न प्राणियों को भी (आयओ) अपने समान ही सुख प्रिय है ऐसा (पास) समझना चाहिए। (तम्हा) इसलिए (ण हंता) किसी भी प्राणी को न मारना चाहिए और (ण विघायए) दूसरों के द्वारा भी प्राणियों का घात न करना चाहिए (ज) जो (अण्णमण्णवितिगिच्छाए) परस्पर की आशंका से (इण पाव कम्म) ऐसा पाप कार्य (ण करेइ) नहीं करता है अपितु (पडिलेहाए) प्रतिलेखनादि क्रियाएं करता है (किं) क्या (तत्थ) उसमें (मुणी) मुनि होना (कारण सिया) कारण है ? ॥ ११५ ॥

भावार्थः—मनुष्य भव, उत्तमकुल, धर्मश्रवण आदि दुर्लभ अङ्गों को प्राप्त करके विवेकी पुरुष को आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्ति करने में किञ्चिन्मात्र भी प्रमाद न करना चाहिए। सभी प्राणी सुख के अभिलाषी हैं अतः किसी भी प्राणी का वध न करना चाहिए और न दुःख देना चाहिए। जो भावपूर्वक संयम का पालन करता है वही सच्चा मुनि है ॥

समयं तत्थ उवेहाए अप्पाणं विप्पसायए। अणण्णपरमं णाणी, णो पमाए कयाइवि। आयगुत्ते सया वीरे जायामायाइ जावए ॥ १ ॥

विरागं रूवेसु गच्छिज्जा महया खुड्डएहि वा, आगइं गइं परिण्णाय दोहिवि अंतेहि अदिस्समाणेहि से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण डज्झइ ण हम्मइ कं य णं सव्वलोए ॥ ११६ ॥

अन्वयार्थः--(तत्थ) वहां (समयं) समभाव को या आगम को (उवेहाए) सोच कर (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (विप्पसायए) संयमानुष्ठान में सावधान रखे। (अणण्णपरमं) समस्त पदार्थों से मोक्ष को श्रेष्ठ (णाणी) जानने वाला पुरुष (कयाइ वि) कभी भी (णो पमायए) प्रमाद न करे। (वीरे) वीर पुरुष (सया) सदा (आयगुत्ते) आत्मगुप्त अर्थात् अपनी आत्मा की पाप से रक्षा करता हुआ (जायामायाइ) संयम के निर्वाह मात्र आहार से (जावए) अपना निर्वाह करे। (महया) महान् यानी दिव्य (वा) अथवा (खुड्डएहि) क्षुद्र-तुच्छ (रूवेसु) रूपों में (विरागं) वैराग्य को (गच्छिज्जा) प्राप्त करे। (आगइं) आगति और (गइं) गति को (परिण्णाय) जान कर (दोहिवि अंतेहिं) राग और द्वेष दोनों को (अदिस्समाणेहि) त्याग देने वाला पुरुष (सव्वलोए) सम्पूर्ण लोक में (कं य णं) किसी के द्वारा (ण छिज्जइ) छेदन नहीं किया जाता (ण भिज्जइ) भेदन नहीं किया जाता (ण डज्झइ) अग्नि आदि से जलाया नहीं जाता और (ण हम्मइ) हनन नहीं किया जाता है ॥ ११६ ॥

भावार्थः—इस संसार में संयम से बढ़ कर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। अतः संयम के अनुष्ठान में मुनि को प्रमाद न करना चाहिए। साधु इन्द्रिय और मन को पाप में न जाने देकर अपनी आत्मा की रक्षा करे और जितना आहार करने से संयम के आधार-भूत शरीर का निर्वाह हो सके उतने से ही अपना निर्वाह करे परन्तु अधिक आहार का सेवन न करे। मनोज्ञ रूप रसादि में आसक्त न होवे और अमनोज्ञ से द्वेष न करे किन्तु समभाव रखे। इस प्रकार शुद्ध संयम का पालन करने वाला मुनि स्वल्प काल में ही समस्त कर्मों का क्षय कर मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

अवरेण पुव्विं ण सरंति एगे, किमस्स तीयं किं वाऽऽगमिस्सं ।
भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्स तीयं तमाऽऽगमिस्सं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(एगे) कोई अज्ञानी (अवरेण) पीछे होने वाली बात के साथ (पुव्विं) बीती हुई बात को (ण सरंति) याद नहीं करते है। (अस्स) इस जीव की (किं) क्या क्या अवस्थाएँ (तीय) बीत चुकी है (वा) और (किं) क्या २ (आगमिस्स) बीतेगी ? (इह) इस संसार मे (एगे) कितनेक (माणवाओ) मनुष्य (भासंति) इस प्रकार कहते है कि (अस्स) इस जीव का (ज) जो स्त्रीत्व, पुरुषत्व और नपुंसकत्व आदि (तीय) प्राप्त हो चुका है (त) वही (आगमिस्स) आगे के भवों में भी प्राप्त होगा ॥ १ ॥

भावार्थः—इस जगत् में बहुत से पुरुष वर्तमान को ही देखते है, भूत और भविष्यत् का विचार नही करते । वे यह नहीं जानते है कि—हम कहाँ से आये है और कहाँ जायेंगे तथा हमारी क्या दशा होने वाली है ? ऐसा विचार वे नही करते है इसलिए वे भ्रमण करते रहते है । कितनेक अज्ञानी तो यह कहते हैं कि—यह जीव पूर्व भव मे स्त्री, पुरुष, नपु सक आदि भेदों मे जैसा भेद वाला था वह आगामी भव मे भी वैसा ही होगा ।

णाईयमट्ठं ण य आगमिस्सं, अट्ठं णियच्छंति तहागया उ ।
विहूयकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवए तवस्सी ॥ २ ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थः—(तहागया) तथागत अर्थात् जो फिर ससार में नही आते ऐसे सिद्ध भगवान् (ण) न तो (अईय) अतीत काल के सुख को (णियच्छंति) स्मरण करते है (य) और (न) (ण आगमिस्स) न आगामी काल के सुख की इच्छा करते हैं (उ) इसी प्रकार (विहूयकप्पे) कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यत बना हुआ (तवस्सी–महेसी) तपस्वी महर्षि साधु भी (एयाणुपस्सी) इसी मार्ग का अनु–

सरण करता हैं अर्थात् अतीत सुख का स्मरण नहीं करता और भविष्य में स्वर्गादि सुख पाने की इच्छा नहीं करता है किन्तु (णिज्झोसइत्ता खवग) पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करता है और मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ २ ॥ ११७ ॥

भावार्थः—आठों कर्मों का क्षय करके जो जीव मोक्ष मे चले जाते हैं वे 'सिद्ध' कहलाते हैं। वे फिर कभी ससार मे नहीं आते हैं। वे सिद्ध भगवान और उनके मार्ग का अनुसरण करने वाले पुरुष गत काल के सुखों का स्मरण नहीं करते और आगामी काल के सुखों की चाह नहीं करते हैं ॥

का अरई के आणंदे ? इत्थं वि अग्गहे चरे, सव्वं हासं परिच्चज्ज अलीणगुत्तो परिव्वए, पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि ? ॥ ११७ ॥

अन्वयार्थः—योगी के लिए (अरई) अरति (का) क्या है और (आणंदे) आनन्द (के) क्या है। (इत्थ वि) इन अरति और आनन्द के विषय में (अग्गहे) आसक्ति भाव न रखता हुआ (चरे) विचरे। (सव्वं) समस्त (हास) हास्य को (अलीणगुत्तो) त्याग कर जितेन्द्रिय एवं मन वचन काया से गुप्त होकर (परिव्वए) संयम का पालन करे। (पुरिसा) हे पुरुष ! —हे आत्मन् ! (तुममेव) तू ही (तुम) तेरा (मित्त) मित्र है (बहिया) बाह्य (मित्तं) मित्र की (किं इच्छसि) इच्छा क्यों करता है।

भावार्थः—रति और अरति अर्थात् हर्ष और विषाद अज्ञानियों को हुआ करते हैं, ज्ञानी पुरुष त सभी अवस्थाओं मे सम-भाव रखते हैं और शुद्ध सयम का पालन करते हैं।

शास्त्रकार फरमाते है कि—हे आत्मन ! तू ही तेरा मित्र है। बाह्य मित्र की तू क्यों इच्छा करता है ? कुमार्ग पर चलता हुआ यह आत्मा ही आत्मा का शत्रु है और सुमार्ग पर चलता हुआ आत्मा ही आत्मा का मित्र है ॥

जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं, पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ, सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ ॥ ११८ ॥

अन्वयार्थः—(ज) जिस पुरुष को (उच्चालइय) विषय के संग को दूर करने वाला (जाणिज्जा) जानो (त) उसको (दूरालइय) मोक्ष मार्ग का पथिक (जाणिज्जा) समझो और (ज) जिसको (दूरालइय) मोक्ष मार्ग का पथिक (जाणिज्जा) समझो (त) उसको (उच्चालइय) विषय के संग को दूर करने वाला (जाणिज्जा) समझो। (पुरिसा) हे पुरुष ! —हे आत्मन् ! तू (अत्ताणमेव) अपनी आत्मा को ही (अभिणिगिज्झ) विषय संग से दूर रख। (एवं) ऐसा करने से यह आत्मा (दुक्खा) दुःखों से (पमुच्चसि) छूट जाता है। (पुरिसा) हे पुरुष ! हे आत्मन् ! (सच्चमेव) सत्य को ही वास्तविक तत्त्व (समभिजाणाहि) जानो अर्थात् समस्त व्यापारों को त्याग कर संयम की ही आराधना करो क्योंकि (सच्चस्स) सत्य की (आणाए) आज्ञा यानी आराधना करने में (उवट्ठिए) उद्यमवान् (से) वह (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (मार) मृत्यु को अर्थात् जन्म मरण के कारणभूत संसार को (तरइ) तिर जाता है। (सहिओ) ज्ञान दर्शन और चारित्र से युक्त पुरुष (धम्म) श्रुत और चारित्र रूप धर्म को (आयाय) स्वीकार करके (सेय) यथार्थ कल्याण को (समणुपस्सइ) देखता है ॥ ११८ ॥

भावार्थः—विषयों से विरक्त पुरुष ही मोक्षमार्ग का आराधक है किन्तु विषयो में आसक्ति रखने वाला नहीं। इसलिए शास्त्रकार फरमाते हैं कि हे आत्मन् ! सुमार्ग पर चलता हुआ आत्मा ही अपना मित्र है। तुझे बाह्य मित्र ढूंढने की क्या आवश्यकता है ? सयम का पालन करो। शुद्ध सयम का पालन करता हुआ आत्मा ससार सागर को तिर जाता है ॥

दुहओ जीवियस्स परिवंदण माणणपूयणाए, जंसि एगे पमायंति ॥ ११६ ॥

अन्वयार्थः—(दुहओ) दोनों प्रकार से अर्थात् राग और द्वेष से अज्ञानी जीव (जीवियस्स) इस जीवन को (परिवंदणमाणण-पूयणाए) वन्दनीय माननीय और पूजनीय बनाने के लिए चेष्टा करते हैं। (जंसि) जिस में अर्थात् इन वन्दन आदि के लिए (एगे) कितनेक अज्ञानी (पमायंति) प्रमाद का सेवन करते हैं ॥ ११९ ॥

भावार्थः—अज्ञानी मनुष्य अपने इस क्षणभङ्गुर जीवन को वन्दनीय माननीय और पूजनीय बनाने के लिए नाना प्रकार से पापाचरण करते हैं ॥

सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो झंझाए, पासिमं दविए लोए लोयालोयपवंचाओ मुच्चइ ॥ १२० ॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—(सहिओ) ज्ञानादि से सहित पुरुष (दुक्खमत्ताए) दुःख की मात्रा से (पुट्ठो) स्पृष्ट होकर अर्थात् परीषह उपसर्गादि जनित दुःखों के आने पर (णो झंझाए) द्वेष न करे। (इम) यह (पास) देखो कि (दविए) द्रव्यभूत अर्थात् शुद्ध संयम का पालन करने वाला मुनि (लोयालोयपवंचाओ) लोकालोक के प्रपञ्च यानी विस्तार से (मुच्चइ) मुक्त हो जाता है ॥ (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ। ॥ १२० ॥

भावार्थः—इष्ट विषय की प्राप्ति होने पर जो राग नहीं करता और अनिष्ट की प्राप्ति में जो द्वेष नहीं करता किन्तु समभाव रखता है ऐसा समभावी शुद्ध संयम का पालन करने वाला मुनि सांसारिक समस्त बन्धनों से छूट कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥

॥ इति तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

तीसरे अध्ययन का चौथा उद्देशक

से वंता कोहं य माणं य मायं य लोभं य, एयं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्भि।

अन्वयार्थः—जो पुरुष शास्त्रोक्त रीति से संयम का अनुष्ठान करता है (से) वह (कोहं) क्रोध (माण) मान (माय) माया (य) और (लोभ) लोभ को (वंता) शीघ्र ही नष्ट कर देता है (एय) यह (दंसण) उपदेश (उवरयसत्थस्स) शस्त्र से निवृत्त और (पलियतकरस्स) कर्म एवं संसार का अन्त करने वाले (पासगस्स) सर्वज्ञ तीर्थकरों का है। (आयाण) आदान अर्थात् हिंसा आदि आस्रवों का त्याग करने वाला पुरुष (सगडब्भि) अपने कर्मों का नाश कर देता है ॥ १२१ ॥

भावार्थः—"जो पुरुष सम्यग्ज्ञानादि सहित होकर संयम का पालन करता है वह क्रोध मान माया लोभ का क्षय करके एवं आठो कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो जाता है" ऐसा केवलज्ञान केवलदर्शन के धारक तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर स्वामी ने फरमाया है ॥

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥ १२२ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (एग) परमाणु आदि द्रव्यों में से किसी एक को (जाणइ) जानता है (से) वह (सव्वं) संसार के समस्त पदार्थों को (जाणइ) जानता है। (जे) जो (सव्व) संसार के समस्त पदार्थों को (जाणइ) जानता है (से) वह (एगं) एक पदार्थ

को (जाणइ) जानता है ॥ १२२ ॥

भावार्थः—भूतकाल और भविष्यत् काल की अपेक्षा एक पदार्थ की अनन्त पर्यायें होती हैं। उन्हें समस्त रूप से सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान ही जान सकते हैं। इस प्रकार यह बात सिद्ध होती है कि—जो अनन्त पर्यायों सहित एक पदार्थ को जानता है वह समस्त पदार्थों को जानता है और जो समस्त पदार्थों को जानता है वही अनन्त पर्यायों सहित एक पदार्थ को सम्पूर्ण रूप से जानता है।

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अप्पमत्तस्स णत्थि भयं, जे एगं णामे से वहुं णामे, जे वहुं णामे से एगं णामे, दुक्खं लोगस्स जाणित्ता वंता लोगस्स संजोगं जंति धीरा महाजाणं, परेण परं जंति, णावकंखंति जीवियं ॥ १२३ ॥

अन्वयार्थः—(पमत्तस्स) प्रमाद करने वाले पुरुष को (सव्वओ) सब जगह (भय) भय है और (अप्पमत्तस्स) प्रमाद न करने वाले पुरुष को (सव्वओ) सर्वत्र (भय) भय (णत्थि) नहीं है। (जे) जो पुरुष (एग) एक कषाय का (णामे) क्षय करता है (से) वह (वहुं) वहुत का (णामे) क्षय करता है और (जे) जो (वहु) वहुत का (णामे) क्षय करता है (से) वह (एगं) एक का (णामे) क्षय करता है। (लोगस्स) लोक के अर्थात् संसारी प्राणियों के (दुक्ख) दुःख को तथा दुःख के कारणभूत कर्मों को (जाणित्ता) जान कर उन्हें त्याग देना चाहिए और (लोगस्स) लोक के अर्थात् संसारी प्राणियों के (सजोगं) धन पुत्र आदि में ममत्वकृत सम्बन्ध को (वंता) त्याग कर (धीरा-वीरा) धीर पुरुष (महाजाण) महायान अर्थात् मोक्ष को (जति) प्राप्त करते हैं। वे पुरुष (परेण) उत्कृष्ट पद को प्राप्त करके फिर (पर) परमपद अर्थात् मोक्ष को (जति) प्राप्त करते हैं। वे पुरुष (जीविय) असंयम जीवन की (णावकखति) इच्छा नहीं करते हैं ॥ १२३ ॥

भावार्थः—जो पुरुष प्रमाद करता है यानी आत्मोद्धार के मार्ग को छोड़ कर अवनति के मार्ग मे जाता हुआ मद्यपान आदि निंदित कर्म करता है उसको इस लोक और परलोक दोनो मे ही भय होता है। जो पुरुष अपने कल्याण मे सदा सावधान रहता है उसको संसार से अथवा कर्मों से भय नहीं होता है क्योंकि समस्त अनर्थों के मूलभूत कषाय का वह विनाश कर चुका है।

सासारिक प्राणियो को शारीरिक या मानसिक जो दुःख उत्पन्न होता है उसका मूल करण धन और पुत्र आदि मे ममत्वपूर्वक सम्बन्ध है और ममत्वपूर्वक सम्बन्ध ही कर्मबन्ध का कारण है। अतः विवेकी पुरुष इनका त्याग करके चारित्र का अनुष्ठान करते है। उनमे से कितनेक जीव तो उसी भव मे मोक्ष प्राप्त कर लेते है और कितनेक जीव अनुत्तरविमान पर्यन्त स्वर्ग लोक को प्राप्त करते हैं और बाद मे समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं॥

एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढो विगिंचमाणे एगं विगिंचइ, सड्ढी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं ॥ १२४ ॥

अन्वयार्थः—क्षपक श्रेणी पर चढ़ा हुआ पुरुष (एगं) एक अनन्तानुबन्धी कषाय का (विगिंचमाणे) क्षय करता हुआ (पुढो) दूसरों का भी (विगिंचइ) क्षय करता है और (पुढो) दूसरों का (विगिंचमाणे) क्षय करता हुआ पुरुष (एगं) एक अनन्तानुबन्धी का (विगिंचइ) क्षय करता है। (सड्ढी) मोक्षमार्ग के आराधन में श्रद्धा वाला तथा (आणाए) तीर्थंकर भगवान् के फरमाये हुए आगम के अनुसार आचरण करने वाला (मेहावी) बुद्धिमान् मुनि ही क्षपक श्रेणी के योग्य होता है (च) और वह (लोगं) छः काय के जीव रूप लोक को (आणाए) सर्वज्ञ भगवान् के फरमाये हुए आगम के उपदेश से (अभिसमिच्चा) जान कर (अकुओभयं) किसी भी प्राणी को भय नहीं देता। (सत्थं) शस्त्र (परेण परं) तीक्ष्ण से भी तीक्ष्ण (अत्थि) होता है परन्तु (असत्थं) अशस्त्र यानी संयम से (परेण

पर) उत्कृष्ट (णत्थि) कुछ नही है ॥ १२४ ॥

भावार्थः—क्षपक श्रेणी पर चढ़ा हुआ साधु एक अनन्तानुबन्धी क्रोध का क्षय करता हुआ दूसरे भी दर्शनमोह आदि का क्षय करता है। जो साधु कपायो का क्षय कर देता है उसको किसी से भी भय नहीं होता है।

शस्त्र के द्वारा प्राणियो को भय उत्पन्न होता है। वह शस्त्र दो प्रकार का है। एक द्रव्य शस्त्र और दूसरा भाव शस्त्र। द्रव्य शस्त्र एक दूसरे से तीक्ष्ण से तीक्ष्ण होता है। संयम से किसी भी प्राणी को भय नहीं होता। संयम सब प्राणियो को अभय देने वाला है। वह एक ही प्रकार का है। उसकी भिन्न भिन्न कक्षाए नहीं है क्योकि संयमधारी पुरुष पृथ्वी आदि समस्त प्राणियो मे समभाव रखता है। उसका किसी के साथ द्वेप नही होता। अथवा शैलेशी अवस्था वाले सयम से बढ़ कर दूसरा सयम नही है क्योकि उससे ऊपर कोई गुणस्थान नहीं है॥

जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से णरयदंसी, जे णरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी। से मेहावी अभिणिव-ट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च णरयं च तिरियं च दुक्खं च। एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं णिसिद्धा सगडब्भि, किमत्थि ओवाही पासगस्स? ण विज्जइ?, णत्थि ॥ १२५ ॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (कोहदसी) क्रोध को अनर्थकारी देखता है (से) वह (माणदसी) मान को अनर्थकारी देखता है। (जे) जो पुरुष (माणदसी) मान को अनर्थकारी देखता है (से) वह (मायादसी) माया को अनर्थकारी देखता है। (जे) जो पुरुष (मायादसी) माया को अनर्थकारी देखता है (से) वह (लोभदसी) लोभ को अनर्थकारी देखता है। (जे) जो पुरुष (लोभदसी) लोभ को अनर्थकारी देखता है। (से) वह (पेज्जदसी) राग को अनर्थकारी देखता है। (जे) जो पुरुष (पेज्जदंसी) राग को अनर्थकारी देखता है (से) वह (दोसदसी) द्वेष को अनर्थकारी देखता है। (जे) जो पुरुष (दोसदसी) द्वेष को अनर्थकारी देखता है (से) वह (मोहदसी) मोह को अनर्थकारी देखता है (जे) जो पुरुष (मोहदसी) मोह को अनर्थकारी देखता है (से) वह (गब्भदंसी) गर्भावास के दुःखों को देखता है। (जे) जो पुरुष (गब्भदसी) गर्भावास के दुःखों को देखता है (से) वह (जम्मदसी) जन्म के दुःखों को देखता है। (जे) जो पुरुष जन्म के दुःखों को देखता है (से) वह (मारदसी) मरण के दुःखों को देखता है। (जे) जो पुरुष मरण के दुःखों को देखता है। (से) वह (नरयदसी) नरक के दुःखों को देखता है। (जे) जो पुरुष (णरयदसी) नरक के दुःखों को देखता है (से) वह (तिरियदसी) तिर्यग्-योनि के दुःखों को देखता है। (जे) जो पुरुष (तिरियदसी) तिर्यग्योनि के दुःखों को देखता है (से) वह (दुक्खदसी) उपरोक्त सभी दुःखों को देखता है अर्थात् उपरोक्त सभी दुःखों को अनर्थकारी समझ कर उनसे छूटने का प्रयत्न करता है अथवा पूर्वोक्त सभी ...यों का इस प्रकार अर्थ करना चाहिए।

(जे) जो पुरुष (कोहदसी) क्रोध करता है (से) वह (माणदंसी) मान भी करता है। इस प्रकार "दुःखदंसी" तक सभी वाक्यों का अर्थ करना चाहिए। इसलिए (से) वह (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (कोहं) क्रोध (माणं) मान (मायं) माया (लोभं) लोभ (पिज्ज)

राग (दोस) द्वेष (मोह) मोह (गब्भ) गर्भ (जम्म) जन्म (मार) मरण (णरय) नरक (तिरियं) तिर्यग्योनि (य) और (दुक्ख) दु:ख इन सब को (अभिणिवट्टेज्जा) त्याग दे। (एयं) यह (दमण) उपदेश (उवरयसत्थस्स) सभी प्रकार के शस्त्रों से निवृत्त (पलियतकरस्स) कर्मों का अन्त करने वाले (पासगस्स) सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर भगवान् का है। वे तीर्थङ्कर भगवान् (आयाण) कर्म के उपादान रूप हिंसादि को (णिसिद्धा) त्याग कर (सगडब्भि) अपने कर्मों का नाश करने वाले हैं। (किं) क्या (पासगस्स) सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् के (ओवाही) किसी प्रकार की उपाधि (अत्थि) होती है या (ण विज्जइ) नहीं होती? (अत्थि) नहीं होती है (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १२५ ॥

भावार्थ:—सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् ने फरमाया है कि—बुद्धिमान् पुरुष को क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के स्वरूप को अच्छी तरह जान कर उनका त्याग कर देना चाहिए ॥

॥ इति शीतोष्णीय नामक तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

सम्यक्त्व नामक चौथा अध्ययन

प्रथम उद्देशक

शस्त्रपरिज्ञा नामक पहले अध्ययन मे छः काय के जीवो का वर्णन करके जीव और अजीव पदार्थों का वर्णन किया गया है। जीवों के वध से कर्मबन्ध और उनका वध न करने से तथा उनकी रक्षा करने से कल्याण होना बताकर आश्रव और सवर नामक दो पदार्थ कहे गये हैं। इस प्रकार प्रथम अध्ययन मे जीव, अजीव, आश्रव और सवर ये चार पदार्थ कहे गये हैं। लोक विजय नामक दूसरे अध्ययन मे जिस प्रकार प्राणियो के कर्मबन्ध होता है और जिस प्रकार उनकी कर्मों से मुक्ति होती है यह बताकर बन्ध और निर्जरा नामक पदार्थ कहे गये हैं। शीतोष्णीय नामक तीसरे अध्ययन मे साधु को शीत और उष्ण परीषहो को सहन करना चाहिए यह कह कर उनके फलरूप मोक्ष का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इन तीन अध्ययनो मे जीव, अजीव, आश्रव, सवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ कहे गये हैं परन्तु इन अध्ययनो मे सम्यक्त्व का वर्णन नहीं आया है। इसलिए अब चौथे अध्ययन मे सम्यक्त्व का वर्णन किया जाता है.—

से बेमि जे य अईया जे य पडुप्पएणा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पएणवेंति एवं परूविंति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परियावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयएणेहिं पवेइए, तंजहा—उट्ठिएसु वा अणु-ट्ठिएसु वा उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा उवरयदंडेसु वा अणुवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणुवहिएसु वा संजोगरएसु

वा असंजोगरएसु वा, तच्चं चेयं तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ ॥ १२६ ॥

अन्वयार्थः—(से वेमि) मै कहता हूँ (जे) जो (अरहंता) अरिहन्त (भगवतो) भगवान् (अईया) पूर्वकाल में हो चुके हैं (य) और (जे) जो (पडुप्पण्णा) वर्तमान काल में होंगे (य) तथा (जे) जो (आगमिस्सा) भविष्यत् काल में विद्यमान हैं (ते) वे (सव्वे) सब (एव) इस प्रकार (आइक्खति) कहते हैं (एवं) इस प्रकार (भासंति) भाषण करते हैं (एव) इस प्रकार (पएणविंति) उपदेश करते हैं (एव) इस प्रकार (परूविंति) प्ररूपणा करते हैं— (सव्वे) सब (पाणा) प्राणी—वेइन्द्रिय तेइन्द्रिय, और चौइन्द्रिय (सव्वे) सब (भूया) भूत—वनस्पति-काय के जीव (सव्वे) सब (जीवा) जीव—पचेन्द्रिय और (सव्वे) सब (सत्ता) सत्त्व—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय, इन एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक सभी जीवों को (ण हतव्वा) न मारना चाहिए (ण अज्जावेयव्वा) उन्हे आज्ञा न देनी चाहिए (ण परिघेतव्वा) उन्हे दास दासी आदि के रूप मे रख कर दुःख न देना चाहिए (ण परियावेयव्वा) उन्हे परिताप न देना चाहिए (ण उद्दवेयव्वा) उन्हे उपद्रव न पहुँचाना चाहिए। (एस) यही (धम्मे) धर्म (सुद्धे) शुद्ध है (णिइए) नित्य है (सासए) शाश्वत है। (लोग) समस्त लोक को (समिच्च) केवलज्ञान के द्वारा देख कर (खेयण्णेहिं) तीर्थकरों के द्वारा (पवेइए) यह कहा गया है (तजहा) जैसे कि (उट्ठिएसु) धर्म का आचरण करने में प्रवृत्त (वा) अथवा (अणुट्ठिएसु) अप्रवृत्त पुरुषों के लिए (उवट्ठिएसु) धर्म सुनने के लिए उपस्थित (वा) अथवा (अणुवट्ठिएसु) अनुपस्थित पुरुषों के लिए, (उवरयदंडेसु) प्राणियों को दण्ड देने से निवृत्त (वा) अथवा (अणुवरयदंडेसु) अनि-वृत्त पुरुषों के लिए (सोवहिएसु) सोपधिक यानी हिरण्य आदि द्रव्य उपधि और माया रूप भाव उपधि से युक्त (वा) अथवा (अणो-वहिएसु) उपधि से रहित पुरुषों के लिए (संजोगरएसु) स्त्री, पुत्र, मित्र आदि के संयोग में रत (वा) अथवा (असंजोगरएसु) इनके संयोग

में रति न रखने वाले पुरुषों के लिए अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों के लिए भगवान् ने उपदेश दिया है। भगवान् ने जो उपदेश दिया है (एय) वह (तच्च) सत्य है (य) और (एय) वह (तहा) वैसा ही है (य) और (अस्सिं) इस जैनदर्शन में ही (एयं) यह धर्म (पवुच्चइ) कहा जाता है, अन्यत्र नहीं ॥ १२६ ॥

नोट —किसी किसी प्रति में 'न परियावेयव्वा' के आगे 'न किलामेयव्वा' ऐसा पाठ है। जिसका अर्थ है — किलामना न उपजानी चाहिए यानी कष्ट न देना चाहिए।

भावार्थः—गत काल मे अनन्त तीर्थंकर हो चुके है और भविष्यत् काल मे अनन्त तीर्थंकर होंगे तथा वर्तमान काल मे पाच महाविदेह क्षेत्र मे जघन्य २० उत्कृष्ट १६० तीर्थङ्कर विद्यमान है उन सब का यही फरमान है कि एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक किसी भी प्राणी की हिसा न करनी चाहिए, उन्हे शारीरिक या मानसिक कष्ट न देना चाहिए तथा उनके प्राणो का नाश नहीं करना चाहिए। यह अहिंसा धर्म नित्य है, शाश्वत है। ससार सागर मे डूबते हुए प्राणियो पर अनुकम्पा करके उनके उद्धार के लिए तीर्थङ्कर भगवान् ने यह अहिसात्मक धर्म फरमाया है। भगवान् ने जगत्जीवो के कल्याणार्थ जो धर्मोपदेश दिया है सर्वथा सत्य है। वस्तु का जैसा स्वरूप है वैसा ही भगवान् ने फरमाया है, उसमे किञ्चिन्मात्र भी अन्यथा नही है। इस प्रकार पदार्थ का यथार्थ वर्णन इस जैनदर्शन में ही पाया जाता है, अन्य दर्शनो मे नहीं क्योकि उनमे पूर्वापर विरुद्ध बातें पाई जाती हैं ॥

तं आइत्तु ण णिहेण णिक्खिवे जाणित्तु धम्मं जहा तहा, दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छिज्जा, णो लोगस्सेसणं चरे ।१२७।

अन्वयार्थः—(त) उस सम्यग्दर्शन को (आइत्तु) प्राप्त करके उसके अनुसार कार्य न करके (ण णिहे) उसका गोपन न करे तथा (ण णिक्खिवे) उसका त्याग न करे। (धम्म) धर्म के स्वरूप को (जहातहा) यथार्थ (जाणित्तु) जान कर (दिट्ठेहि) इष्ट विषयों

से (णिव्वेयं गच्छेज्जा) विरक्त हो जाय। (लोगस्सेसणं) लोकैषणा (णो चरे) न करे ॥ १२७ ॥

भावार्थः—सम्यग् दर्शन को प्राप्त करके उसके अनुकूल कार्य न करना उस सम्यग्दर्शन को छिपाना है अतः विवेकी पुरुष ऐसा न करे तथा मिथ्यादृष्टियों के संसर्ग से उसका त्याग भी न करे। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जान कर मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दादि विषयों में रागद्वेष न करे किन्तु समस्त पदार्थों मे समभाव रखे।

जस्स णत्थि इमा णाई, अण्णा तस्स कओ सिया? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पकप्पंति ॥ १२८ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स) जिस मोक्षार्थी पुरुष की (इमा) यह पूर्वोक्त लोकैषणा (णाई) ज्ञाति-बुद्धि (णत्थि) नही है (तस्स) उसकी (अण्णा) दूसरी सावद्य आरम्भ मे प्रवृत्ति (कओ) कैसे (सिया) हो सकती है? (एयं) यह (जं) जो (परिकहिज्जइ) मेरे द्वारा कहा जा रहा है वह (दिट्ठं) सर्वज्ञ के द्वारा देखा गया है और (सुयं) श्रवणार्थियों द्वारा सुना गया है तथा (मयं) भव्य जीवों द्वारा मनन किया गया है और (विण्णायं) विशेष रूप से जाना गया है। (समेमाणा) जो पुरुष मनुष्य आदि जन्मों में अत्यन्त आसक्त हैं और (पलेमाणा) मनोज्ञ इन्द्रियसुख में तल्लीन हो रहे हैं वे (पुणो पुणो) बारबार (जाइं) एकेन्द्रिय आदि जाति को (पकप्पंति) प्राप्त करते हैं॥ १२८ ॥

भावार्थः—मनोज्ञ विषयो मे राग और अमनोज्ञ मे द्वेष करना लोकैषणा कहलाती है। इस लोकैषणा के द्वारा जीव मोहित हो रहे हैं और इसी से प्रेरित होकर प्राणी नाना प्रकार के कार्यों मे प्रवृत्त होते हैं किन्तु जिस ज्ञानी मोक्षार्थी पुरुष ने इस लोकैषणा को संसारभ्रमण का कारण जान कर त्याग दिया है उसकी सावद्य कर्मों मे कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती है।

गुरु शिष्य से कहते हैं कि हे शिष्य ! मैं जो कुछ यह कह रहा हूँ यह सर्वथा सत्य है क्योकि केवलज्ञानियो ने केवलज्ञान के द्वारा इसे देखा हैं और उनके शिष्यो ने इसे श्रवण कर मनन किया है। अत' इस विषय मे किसी प्रकार का सशय न करते हुए इसका यथार्थ रूप से पालन करना चाहिए।

अहो य राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपएणाणे पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परक्कमिज्जासि त्ति बेमि

अन्वयार्थः—गुरु कहते है कि हे शिष्य! तुम (अहो य राओ य) दिन रात (जयमाणे) मोक्ष का प्रयत्न करते हुए (सया) सदा (धीरे) धैर्यवान् और (आगयपएणाणे) विवेकवान् बनो। (पमत्ते) प्रमादी पुरुष को अथवा परतीर्थियों को (बहिया) धर्म से बाहर (पास) समझो और तुम (अप्पमत्ते) प्रमाद रहित होकर (सया) सदा (परक्कमिज्जा) मोक्ष मार्ग में ही पराक्रम करो (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १२६ ॥

भावार्थः—जो लोग प्रमादी हैं यानी धर्माचरण से विमुख है उनका अनुकरण न करते हुए मुमुक्षु पुरुष को चाहिए कि निद्रा विकथा आदि प्रमादो से रहित होकर निरन्तर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे ॥

॥ इति प्रथम उद्देशक समाप्त

चौथे अध्ययन का दूसरा उद्देशक

पहले उद्देशक में सम्यक्त्व का वर्णन किया गया है। इस दूसरे उद्देशक मे आस्रव और निर्जरा का वर्णन किया जाता है —

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा, एए पए संबुज्झमाणे लोयं य णाए अभिसमिच्चा पुढो पवेइयं ॥ १३० ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (आसवा) आस्रव हैं (ते) वे (परिस्सवा) परिश्रव यानी निर्जरा के स्थान हो सकते है। (जे) जो (परिस्सवा) परिश्रव यानी निर्जरा के स्थान हैं (ते) वे ही (आसवा) आश्रव के स्थान हो सकते हैं। (जे) जो (अणासवा) अनाश्रव यानी व्रत-विशेष है (ते) वे भी (अपरिस्सवा) कर्मबन्ध के कारण हो सकते हैं और (जे) जो (अपरिस्सवा) कर्मबन्ध के कारण हैं (ते) वे (अणासवा) अनाश्रव यानी कर्मबन्ध के कारण नही हो सकते हैं (एए) इन (पए) पदों को (संबुज्झमाणे) समझ कर (य) और (लोग) लोक को (आणाए) तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा से (अभिसमिच्चा) जानकर और (पुढो) अलग-अलग (पवेइय) कहे हुए पदार्थों को जानकर कौन मनुष्य धर्माचरण न करेगा ? ॥ १३० ॥

भावार्थः—विषयलोलुप जीव अज्ञानवश जिन फूलमाला और सुन्दरी स्त्रियों को सुख का कारण समझते हैं वे उनके कर्मबन्ध के कारण होने से आश्रव हैं और तत्त्वदर्शी पुरुषो के लिए वे ही फूलमाला और स्त्री आदि परिश्रव यानी कर्मनिर्जरा के कारण हैं क्योंकि वे इन्हे निःसार जान कर त्याग देते हैं। अत तत्त्वदर्शी पुरुषो को वैराग्य उत्पन्न करने के कारण वे पदार्थ कर्मनिर्जरा के कारण हो जाते है। इस प्रकार संसार के जितने पदार्थ हैं वे सभी अनेकान्त हैं यह दिखाते हुए इसी बात को उलट कर शास्त्रकार कहते हैं—

कि जो परिश्रव हैं वे ही आश्रव हो सकते हैं, अर्थात् सम्यग्दृष्टि तत्त्वदर्शी पुरुष के लिए जो कर्मनिर्जरा के स्थान हैं वे ही विपरीत बुद्धि मिथ्यादृष्टियों के लिए पाप के कारण हो जाते हैं।

इसी विषय का निषेधदृष्टि से वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि 'जो अनाश्रव हैं वे अपरिश्रव हैं अर्थात अनाश्रव यानी व्रत आदि यद्यपि कर्मनिर्जरा के कारण माने जाते है किन्तु कर्म के उदय से जिनका अध्यवसाय अशुभ है ऐसे लोगों के लिए अपरिश्रव यानी कर्मनिर्जरा के कारण नहीं होते हैं तथा जो परिश्रव यानी पापबन्ध के कारण माने जाते हैं वे कार्य सम्यग्दृष्टि पुरुषो के लिए निर्जरा के कारण हो सकते हैं। इस प्रकार ससार के जितने भी पदार्थ हैं वे सभी अनेक धर्मात्मक हैं।

आघाइ णाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुज्झमाणाणं विण्णाणपत्ताणं, अट्टा वि संता अदुवा पमत्ता अहा सच्चमिणं त्ति बेमि, णाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छापणीया वंकाणिकेया कालगहिया णिचयणिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति ॥ १३१ ॥

अन्वयार्थः—(इह) इस जैन शासन में (संसारपडिवण्णाणं) संसार को प्राप्त (सबुज्झमाणाणं) धर्मोपदेश को समझ सकने वाले (विण्णाणपत्ताणं) विज्ञान को प्राप्त यानी पूर्ण पर्याप्तियों से युक्त (माणवाणं) मनुष्यों के लिए (णाणी) सर्वज्ञ पुरुष (आघाइ) धर्म का कथन करते है। हिताहित का विवेक रखने वाले पुरुष यदि किसी कारणवश (अट्टा वि सता) आर्त्त हो गये हों (अदुवा) अथवा (पमत्ता) विषयासक्ति के कारण प्रमत्त हो गये हों तो जिस प्रकार वे समझ सकें उसी तरह ज्ञानी पुरुष उपदेश देते हैं। श्री सुधर्मा-स्वामी फरमाते है कि (त्ति बेमि) मै जो कह रहा हूँ या जो कहा है (इणं) यह सब (अहासच्च) यथातथ्य-सत्य है। (मच्चुमुहस्स) मृत्यु का (अणागमो) न आना (ण अत्थि) नही हो सकता है अर्थात् मृत्यु न आयेगी ऐसा कभी नही हो सकता। (इच्छापणीया) इच्छा

नुसार विषय में प्रवृत्ति करने वाले पुरुष (वंकाणिकेया) असमय के घर हैं। (कालगहिया) वे बार बार काल के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। (णिचयणिविट्ठा) वे कर्मों का संग्रह करने में दत्तचित्त हैं। वे (पुढो पुढो जाइ) एकेन्द्रिय आदि अलग-अलग जन्मों को (पकप्पयंति) धारण करते रहते हैं ॥ १३१ ॥

भावार्थः—सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवान् ससार के समस्त पदार्थों को जानते और देखते हैं। वे ससार के प्राणियो को इस तरह उपदेश देते हैं जिससे वे हित की प्राप्ति और अहित का त्याग करने मे समर्थ हो सकते है। शास्त्रकार फरमाते हैं कि मृत्यु के आने का कोई समय निश्चित नहीं है अत' धर्म कार्य करने मे क्षण भर का भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो हवइ, अहोववाइए फासे पडिसंवेयंति, चिट्ठं कूरेहि कम्मेहि, चिट्ठं परिचिट्ठेइ, अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं, णो चिट्ठं परिचिट्ठइ, एगे वयंति अदुवावि णाणी, णाणी वयंति अदुवा वि एगे ॥ १३२ ॥

अन्वयार्थः—(इह) इस ससार में (एगेसिं) किन्ही जीवों का (तत्थ तत्थ) उन उन स्थानों मे (संथवो) परिचय (हवइ) होता है। वे (अहोववाइए) नरकादि दुःखो के (फासे) स्पर्श का (पडिसवेयंति) अनुभव करते है। (चिट्ठ) अत्यन्त (कूरेहिं) क्रूर (कम्मेहिं) कर्म करने वाला पुरुष (चिट्ठं) अत्यन्त पीड़ाकारी स्थानो में (परिचिट्ठइ) निवास करता है। जो पुरुष (अचिट्ठं कूरेहिं कम्मेहिं) अत्यन्त क्रूर कर्म नही करता वह। (णो चिट्ठं परिचिट्ठइ) नरकादि स्थानों मे निवास नहीं करता है। (एगे) चौदह पूर्वधारी (वयंति) ऐसा कहते हैं। (अदुवावि) अथवा (णाणी) केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं। (अदुवावि) अथवा (णाणी) केवलज्ञानी (वयंति) जैसा कहते हैं वैसा ही (एगे) श्रुतकेवली भी कहते हैं ॥ १३२ ॥

भावार्थः—केवलज्ञानी भगवान अथवा चौदह पूर्वधारी श्रुतकेवली फरमाते है कि इन्द्रियों के वशीभूत पुरुष पापकर्मों का फल

भोगने के लिए नरकादि नीच गतियो मे बार बार जन्म धारण करते है और अत्यन्त दु ख भोगते हैं।

आवंती केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति, से दिट्ठं य णे सुयं य णे मयं य णे विण्णायं य णे उड्ढ अहे तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं य णे, सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे भूया, सव्वे सत्ता, हंतव्वा अज्जावेयव्वा परियावेयव्वा परिघेत्तव्वा उद्दवेयव्वा, इत्थवि जाणह णत्थित्थ दोसो अणारियवयणमेयं, तत्थ जे ते आरिया ते एवं वयासी, से दुद्दिट्ठं य भे, दुस्सुयं य भे, दुम्मयं य भे, दुव्विण्णायं य भे, उड्ढं अहे तिरियं दिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं य भे, जं णं तुब्भे एवमाइक्खह, एवं भासह, एवं पण्णवेह, एवं परूवेह—सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे भूया, सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परियावेयव्वा परिघेत्तव्वा उद्दवेयव्वा, इत्थवि जाणह णत्थित्थ अणारियवयणमेयं। वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं पण्णवेमो एवं परूवेमो—सव्वे पाणा, सव्वे जीवा, सव्वे भूया, सव्वे सत्ता, ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परियावेयव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण उद्दवेयव्वा, इत्थवि जाणह णत्थित्थ दोसो आरियवयणमेयं; पुव्वं णिकायसमयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हं भो पावादुया किं भे सायं दुक्खं उदाहु असायं ? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया—सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्ति मि ॥ १३३ ॥

अन्वयार्थः—(लोगंसि) इस जगत् में (आवती) जितने (केयावंती) कितनेक (समणा) श्रमण (य) और (माहणा) ब्राह्मण हैं वे (पुढो) अलग अलग (विवाय) विवाद अर्थात् परस्पर विरुद्ध अपना सिद्धान्त (वयंति) बतलाते है। (से) वे कहते है कि—(णे) हमने

या हमारे आचार्यों ने (दिट्ठं) यह मत दिव्यज्ञान के द्वारा देखा है (य) तथा (णे) हमने (सुयं) गुरु से सुना है (णे) हमारा यह सिद्धांत (मय) मनन किया हुआ है यानी युक्तियुक्त है। यह सिद्धान्त (णे) हमारे और हमारे गुरुओं द्वारा (विण्णायं) जाना हुआ है। (उड्ढं) ऊपर (अहे) नीचे (य) और (तिरियं) तिरछी (दिसासु) दिशाओं में (सव्वओ) सब प्रकार से (सुपडिलेहिय) विचारा हुआ है कि (सव्वे) सब (पाणा) प्राणी (सव्वे) सब (जीवा) जीव (सव्वे) सब (भूया) भूत और (सव्वे) सब (सत्ता) सत्त्वों का (हतव्वा) हनन करना चाहिए (अज्जावेयव्वा) उन पर अनुशासन करना चाहिए (परियावेयव्वा) उन्हें परिताप देना चाहिए (परिघेतव्वा) कष्ट देना चाहिए, दास, दासी आदि रूप से रखना चाहिए (उद्दवेयव्वा) उन पर उपद्रव करना चाहिए (इत्थवि) इस विषय मे (अत्थ) ऐसा (जाणह) जानना चाहिए कि धर्म के लिए की जाने वाली हिंसा मे (दोसो) कोई दोष (णत्थि) नही है परन्तु (एय) यह (अणारियवयण) अनार्यों का सिद्धान्त है। (तत्थ) इस विषय मे (ते) वे (जे) जो (आरिया) आर्य पुरुष हैं (ते) उन्होंने (एव) इस तरह (वयासी) कहा है कि (से) यह (भे) आप लोगों का सिद्धान्त (दुद्दिट्ठं) बुरी तरह से देखा हुआ है (दुस्सुयं) बुरी तरह से सुना गया है (दुम्मय) बुरी तरह से मनन किया हुआ है (य) और (दुव्विण्णायं) बुरी तरह से जाना हुआ है (उड्ढ) ऊपर (अहे) नीचे (य) और (तिरियं) तिर्छी (दिसासु) दिशाओं मे (सव्वओ) सब प्रकार से (दुप्पडिलेहिय) बुरी तरह से देखा हुआ है (ज) जो (तुब्भे) तुम लोग (एव) इस प्रकार (आइक्खह) कहते हो (एव) इस प्रकार (भासह) भाषण करते हो (एवं) इस प्रकार (परूवेह) प्ररूपणा करते हो और (एव) इस प्रकार (पण्णवेह) विज्ञापन करते हो कि (सव्वे) सब (पाणा) प्राणी (सव्वे) सब (जीवा) जीव (सव्वे) सब (भूया) भूत और (सव्वे) सब (सत्ता) सत्त्वों का (हतव्वा) हनन करना चाहिए (अज्जावेयव्वा) उन पर अनुशासन करना चाहिए (परियावेयव्वा) उन्हें परिताप देना चाहिए (परिघेतव्वा) कष्ट देना चाहिए,

दास दासी आदि रूप से रखना चाहिए (उद्दवेयव्वा) उन पर उपद्रव करना चाहिए क्योंकि (इत्थ वि) इस विषय में (अत्थ) ऐसा (जाणह) जानना चाहिए कि धर्म के लिए की जाने वाली हिंसा में (दोसो) कोई दोष (णत्थि) नही है सो (एव) यह आपका कथन (अणारियवयण) अनार्यों का वचन है। (पुण) परन्तु (वय) हम लोग तो (एव) इस प्रकार (आइक्खामो) कहते है (एव) इस प्रकार (भासामो) भाषण करते हैं एवं इस प्रकार (परूवेमो) प्ररूपणा करते हैं (एव) इस प्रकार (पएणवेमो) विज्ञापन करते है कि (सव्वे) सब (पाणा) प्राणी (सव्वे) सब (जीवा) जीव (सव्वे) सब (भूया) भूत और (सव्वे) सब (सत्ता) सत्त्वों का (ण हतव्वा) हनन न करना चाहिए (ण अज्जावेयव्वा) उन पर अनुशासन न करना चाहिए (ण परियावेयव्वा) उन्हे परिताप न देना चाहिए, (ण परिघेतव्वा) उन्हे कष्ट न देना चाहिए और न दास दासी के रूप में रखना चाहिए (ण उद्दवेयव्वा) उन पर उपद्रव न करना चाहिए (इत्थवि) इस अहिंसा रूप वचन मे (दोसो) कोई दोष (णत्थि) नही है (अत्थ) ऐसा (जाणह) जानना चाहिए (एय) यह (आरियवयण) आर्य पुरुषों का वचन है। (पुव्व) पहले (समय) उन परमतावलम्बियों के सिद्धात की (णिकाय) व्यवस्था करके अर्थात् उनका सिद्धान्त बतला कर (पत्तेयं पत्तेय) प्रत्येक के लिए (पुच्छिस्सामि) प्रश्न करूँगा। (हभो ! पवादुया) हे प्रवादुको ! (किं) क्या (दुक्ख) दुःख (भे) आप लोगों के (साय) मन को प्रसन्न करने वाला है (उदाहु) अथवा (असायं) मन के प्रतिकूल है ? (समिया पडिवएणे यावि) जब वे सम्यक् बात को स्वीकार करें अर्थात् यह कहे कि दुःख हमारे मन के प्रतिकूल है, दुःख हमे अभीष्ट नहीं है तब उन लोगों को (एव) इस प्रकार (बूया) कहना चाहिए कि जिस प्रकार आपको दुःख अप्रिय है उसी प्रकार (सव्वेसि) सब (पाणाणं) प्राणी (सव्वेसिं) सब (भूयाण) भूत (सव्वेसिं) सब (जीवाण) जीव और (सव्वेसिं) सब (सत्ताणं) सत्वों के लिए (दुक्ख) दुःख (असाय) मन के प्रतिकूल है, अप्रिय है (अपरिणिव्वाण) आनन्द रहित है और (महब्भय) महान् भयकारी है। (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १३३ ॥

नोट:—किसी किसी प्रति में 'ण परियावेयव्वा' के आगे 'ण किलामेयव्वा' ऐसा पाठ है जिसका अर्थ है — किलामना न उपजानी चाहिए यानी कष्ट न देना चाहिए।

भावार्थः—इस लोक मे जितने दार्शनिक है वे सभी अपने-अपने दर्शन के अनुराग से भिन्न भिन्न मतो की स्थापना करते हैं। वे कहते हैं कि हमारे आगमो को बनाने वाले आचार्यों ने दिव्य ज्ञान के द्वारा इस धर्म को देखा है और युक्तिपूर्वक विचार एव मनन किया है और अच्छी तरह जाना है कि धर्म के लिए जो हिंसा की जाती है उसमे कोई दोष नही है, उससे कोई पापबन्ध नहीं होता है।

शास्त्रकार फरमाते हैं कि हे अन्यतीर्थियो! तुम्हारा उपरोक्त वचन हिंसा का समर्थक होने के कारण पापानुबन्धी और अनार्य-प्रणीत है। हमारा धर्मानुकूल सिद्धान्त यह है कि—किसी भी प्राणी को हनन न करना चाहिए यावत् किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना चाहिए। आर्य पुरुषो ने हिंसा का प्रतिषेध किया है अत हिंसा मे धर्म नही है। जिस प्रकार अपने को सुख अभीष्ट है, दुःख नही, उसी प्रकार जगत् के समस्त प्राणियो को सुख अभीष्ट है दुःख नहीं। अत किसी भी प्राणी का हनन न करना चाहिए। प्राणी का हनन करने से पापबन्ध होता है। ऐसी दशा मे प्राणी के वध का समर्थन करने वाला वचन अनार्यों का ही है, आर्य पुरुषो का नही है। अतः किसी भी प्राणी का हनन न करना चाहिए।

॥ इति चौथे अध्ययन का दूसरा उद्देशक समाप्त ॥

चौथे अध्ययन का तीसरा उद्देशक

पहले के उद्देशो मे सम्यक्त्व, ज्ञान और विरति का कथन किया है। अब इस उद्देशे में तप का वर्णन किया जाता है —

उवेहए णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगम्मि जे केइ विराणू , अणुवीइ पास णिक्खित्तदंडा, ने केइ सत्ता पलियं चयंति, णरा मुयच्चा धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणं त्ति णच्चा, एवमाहु सम्मत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया दुक्खस्स कुसला परिणमुदाहरंति इय कम्मं परिणाय सव्वसो ॥ १३४ ॥

अन्वयार्थः—(बहिया लोग) जो लोग धर्म से बहिर्भूत है उन अन्यतीर्थियों की (उवेहए) उपेक्षा करो । (जे केइ) जो धार्मिक अन्यतीर्थियो की उपेक्षा करता है (से) वह (सव्वलोगम्मि—सव्वलोगसि) समस्त लोक में (विराणू) सब विद्वानों मे उत्तम है । (णिक्खित्तदंडा) जो मन, वचन, काया से प्राणियों को दण्ड नही देते है वे ही जगत् में विद्वान् हैं (अणुवीइ) ऐसा विचार कर (पास) देखो । (जे केइ सत्ता) प्राणियों को दण्ड देने से निवृत्त हुए जो पुरुष (पलियं) अष्ट प्रकार के कर्मों का (चयति) त्याग करते है वे विद्वान् है । (मुयच्चा) मृतक शरीर की तरह जो अपने शरीर का संस्कार नही करते हैं (णरा) वे मनुष्य (धम्मविउत्ति) धर्म के ज्ञाता और (अजू) सरल हैं । (इणं) यह (दुक्ख) दुःख (आरंभज) आरम्भ से उत्पन्न होता है ऐसा (णच्चा) जान कर विवेकी पुरुष शरीर का संस्कार नही करते है (सम्मत्तदसिणो) सम्यक्त्वदर्शी पुरुष (एव) ऐसा (आहु) कहते है । (दुक्खस्स कुसला) दुःख का नाश करने मे कुशल (ते) वे (सव्वे) सब (पावाइया) उत्कृष्ट वक्ता पुरुष (परिणं) सावद्य कर्मों के प्रत्याख्यान की शिक्षा (उदाहरति) देते हैं । (इय) इस तरह

(सव्वश्रो) सब प्रकार से (कम्म) कर्म को (परिणाय) जान कर विद्वान् पुरुष उसके प्रत्याख्यान का उपदेश करते हैं ॥ १३४ ॥

भावार्थः—शास्त्रकार कहते हैं कि जिन परपाखण्डियों का वर्णन पहले किया जा चुका है उनके साथ परिचय आदि भी न करना चाहिए। जो पुरुष परपाखण्डियों की और अनार्यों के पूर्वोक्त वचनों को जान कर उनकी उपेक्षा करता है वह विद्वानो मे श्रेष्ठ गिना जाता हैं। जो पुरुष मन, वचन और काया से किसी प्राणी को दण्ड नहीं देता और शरीरसस्कार से भी निवृत्त हो जाता है वह विद्वान् पुरुष आठ कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त करता है॥

इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं, जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ एवं अत्तसमाहिए अणिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे ॥ १३५ ॥

अन्वयार्थः—(इह) इस जैन शासन में (आणाकखी) जो पुरुष तीर्थंकर की आज्ञा का अनुसरण करता है वह (पडिए) पण्डित है और वह (अणिहे) कर्मों से लिप्त नही होता है। शास्त्रकार फरमाते हैं कि (अप्पाण) आत्मा को (एग) अकेला (सपेहाए) जान कर (सरीर) शरीर को (धुणे) धुन डालो (अप्पाण) अपने शरीर को (कसेहि) कृश करो (अप्पाण) अपने शरीर को (जरेहि) जीर्ण करो। (जहा) जिस प्रकार (जुण्णाइ) जीर्ण (कट्ठाइ) काष्ठ को (हव्वाहो) अग्नि (पमत्थइ) जला डालती है (एव) उसी प्रकार (अत्तसमाहिए) आत्मसमाधि वाला अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र में सदा उपयोग रखने वाला (अणिहे) रागद्वेष रहित पुरुष (अविकपमाणे) कम्प रहित होकर और (कोह) क्रोध कषाय को (विगिंच) नष्ट करके कर्मरूपी काष्ठ को जला डालता है॥ १३५ ॥

भावार्थः—जो पुरुष तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार आचरण करता है वह पण्डित है और वह कर्मों से लिप्त नहीं

मै सदा ही अकेला हूँ, मेरा कोई भी
होता है। शास्त्रकार फरमाते है कि यह आत्मा अकेला है। इसे ऐसा विचार करना चाहिए कि—मै सदा ही अकेला हूँ, मेरा कोई भी नहीं है और मै भी किसी का नहीं हूँ। इस जगत् मे प्राणी अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोगता है। अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है तथा अकेला ही परलोक मे जाता है। इसलिए तप के द्वारा इस शरीर को कृश एव जीर्ण कर डालो। जिस प्रकार सूखे हुए काठ को अग्नि शीघ्र ही जला डालती है इसी तरह जो पुरुष ज्ञान दर्शन चारित्र मे सदा उपयोग रखता है तथा रागद्वेप को त्याग देता है वह तप रूपी अग्नि के द्वारा शीघ्र ही कर्म रूपी काष्ठ को जला देता है॥

इमं णिरुद्धाउयं संपेहाए, दुक्खं य जाण अदु आगमेस्सं, पुढो फासाइं य फासे, लोयं य पास विफंदमाणं, जे णिव्वुडा पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया, तम्हा अइविज्जो णो पडिसंजलिज्जासि त्ति बेमि ॥ १३६ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार फरमाते है कि (णिरुद्धाउय) क्रोध मनुष्य की आयु का नाश करता है (इम) यह (सपेहाए) जानकर उसका त्याग करो। (य) और क्रोध करने से मनुष्य को जो (दुक्ख) मानसिक दु:ख उत्पन्न होता है उसको भी (जाण) जानो (अदु) और (आगमेस्सं) क्रोध करने से जो आगामी काल मे दुःख उत्पन्न होता है उसे जान कर क्रोध का त्याग करो। क्रोध करने से जीव (पुढो) भिन्न भिन्न (फासाइ) स्पर्शों को यानी दुःखों को (फासे) प्राप्त करता है। क्रोध के कारण शारीरिक और मानसिक दु खों से पीड़ित होकर उसका प्रतीकार करने के लिए (विफंदमाण) इधर उधर दौडते हुए (लोय) लोगों को (पास) देखो (जे) जो (पावेहिं) पाप (कम्मेहिं) कर्मों से (णिव्वुडा) निवृत्त हैं (य) और तीर्थंकर भगवान् के उपदेश से शान्त हैं (ते) वे (अणियाण) नियाणा रहित परम-सुखी (वियाहिया) कहे गये है (तम्हा) इसलिए (अइविज्जो) शास्त्र के रहस्य को जानने वाला होकर (णो पडिसंजलिज्जासि) क्रोध से

(आयाणिज्जे) आदेय यानी ग्रहण करने योग्य वचन वाला (वियाहिए) कहा गया है और (जे) जो (बंभचेरंसि) ब्रह्मचर्य में (वसित्ता) निवास करता हुआ (समुस्सयं) शरीर को (धुणाइ) कृश कर डालता है, वह पुरुष ग्राह्य वचन वाला होता है ॥ १३७ ॥

भावार्थः—धन धान्य तथा कलत्रादि के पूर्व संयोग को एव असयम को त्याग कर और सयम को स्वीकार करके नवदीक्षित मुनि पहले तपस्या द्वारा शरीर को थोड़ा पीडित करे, फिर विशेष पीड़ित करे और अन्तिम समय में शरीर को त्यागने की इच्छा करता हुआ साधु मासक्षपण और अर्द्धमासक्षपण आदि के द्वारा शरीर को निश्चय ही पीड़ित करे। सासारिक भोग विलासों से तथा अरति से संयम को हटा कर कर्मों का विनाश करने में समर्थ धीर बने और जीवन पर्यन्त शुद्ध सयम के पालन में रत रहे तथा ब्रह्मचर्य व्रत में सम्यक् निवास करता हुआ तपस्वी मुनि अपने शरीर और कर्मों को कृश करे ॥

णेत्तेहि पलिच्छिएणेहिं आयाणसोयगढिए बाले, अव्वोच्छिएणबंधणे अणभिक्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ आणाए लंभो णत्थि त्ति बेमि ॥ १३८ ॥

अन्वयार्थः—(बाले) अज्ञानी जीव (णेत्तेहिं) नेत्र आदि इन्द्रियों को (पलिच्छिएणेहिं) अपने अपने विषयों से रोक कर भी (आयाणसोयगढिए) फिर विषयभोग में आसक्त हो जाता है। (अव्वोच्छिएणबंधणे) वह कर्मबन्धन का छेदन नही कर सकता है तथा (अणभिक्कंतसंजोए) संयोगों का उल्लघन भी नही कर सकता है। (तमंसि) मोह रूपी अन्धकार में पड़े हुए और (अवियाणओ) कल्याण के मार्ग को न जानने वाले उस पुरुष को (आणाए) तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा का (लंभो) लाभ (णत्थि) नहीं होता है (त्तिबेमि) यह मै कहता हूँ ॥ १३८ ॥

भावार्थः—कितनेक अज्ञानी जीव इन्द्रियों का निरोध करके भी मोह के उदय से फिर विषयभोग में आसक्त बन जाते हैं। वे

कर्मबन्धन का छेदन करने वाले और असयम तथा धन, धान्य, पुत्र कलत्रादि के सम्बन्ध को त्यागने वाले नही होते हैं। वे अपने कल्याण को अथवा मोक्ष के उपाय को नहीं जानते है। अतः ऐसे पुरुषो को तीर्थंकर भगवान की आज्ञा का तथा बोधि का लाभ नही होता है ॥

जस्स णत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ? से हु पण्णाणमंते बुद्धे आरंभोवरए, सम्ममेयंति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परियावं य दारुणं पलिछिंदिय बाहिरगं य सोयं णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहिं, कम्माणं सफलं दट्ठूण तओ णिज्जाइ वेयवी ॥ १३९ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स) जिसको (पुरा) पूर्वभव में बोधि का लाभ नही हुआ है और (पच्छा) आगामी काल में भी होने वाला नही है (तस्स) उसको (मज्झे) मध्य मे अर्थात् वर्तमान मे (कुओ) कहा से (सिया) हो सकता है ? (आरंभोवरए) जो पुरुष सावद्य आरम्भ से निवृत्त हो गया है (से) वही (हु) वास्तव में (पण्णाणमंते) उत्तम ज्ञानी है और (बुद्धे) तत्त्व को जानने वाला है (एयं) यह (सम्म) सत्य है (इह) ऐसा (पासह) देखो यानी जानो। (जेण) क्योंकि सावद्य आरम्भ करने वाला पुरुष (बंधं) बन्ध (वहं) वध (घोरं) घोर (परियावं) परिताप (य) और (दारुणं) दारुण दुःखों को प्राप्त करता है। (इह) इस संसार में (मच्चिएसु) मनुष्यों के मध्य मे (बाहिरगं) बाह्य (य) और आभ्यन्तर (सोयं) स्रोत का (पलिछिंदिय) छेदन करके विचरता है वह (णिक्कम्मदंसी) मोक्षदर्शी है। (कम्माणं) कर्मों की (सफलं) सफलता को (दट्ठूण) देख कर (वेयवी) वेदज्ञ यानी आगमों के रहस्य को जानने वाला पुरुष (तओ) आश्रवों से (णिज्जाइ) बाहर निकल जाता है अर्थात् आश्रवो का त्याग कर देता है ॥ १३९ ॥

भावार्थः—मिथ्यात्व, प्रमाद, अविरति आदि के कारण जिस पुरुष को पूर्वभव मे सम्यक्त्व की प्राप्ति नही हुई है तथा

आगामी काल में भी होने वाली नहीं है उसको वर्तमान में भी सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् जिस जीव को पूर्वभव मे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है या आगामी जन्म मे होने वाली है उसी को वर्तमान समय में सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है। जिसने सम्यक्त्व की प्राप्ति कर ली है किन्तु फिर मिथ्यात्व के उदय से सम्यक्त्व से पतित हो गया है उसको अर्द्धपुद्गल परावर्तन मे फिर सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य हो जानी है।

अथवा—जो पुरुष विषयभोग के कडुवे परिणाम को जान कर पहले भोगे हुए कामभोगों का स्मरण नहीं करता तथा भविष्य मे भी विषयभोग की इच्छा नहीं रखता उसको वर्तमान काल में भी भोगों की इच्छा कैसे हो सकती है ? अर्थात नहीं होती।

जो पुरुष सावद्य आरम्भ का त्याग कर देता है वह उत्तम ज्ञानी है क्योंकि सावद्य आरम्भ करने वाला जीव नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीडित होता है। जो कर्म किये जाते हैं उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है ऐसा जान कर विवेकी पुरुष कर्मबन्ध के कारणभूत आश्रवों से सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं॥

जे खलु भो ! वीरा ते समिया सहिया सया जया संघडदंसिणो आओवरया अहातहा लोयं उवेहमाणा पाईणं पडीणं दाहिणं उईणं इय सच्चंसि परिचिट्ठिसु, साहिस्सामो णाणं वीराणं समियाणं सहियाणं सयाजयाणं संघडदंसीणं आओवरयाणं अहातहा लोयं समुवेहमाणाणं, किमत्थि उवाही पासगस्स ण विज्जइ ? णत्थि त्ति बेमि॥ १४०॥

अन्वयार्थः—गुरु महाराज कहते हैं कि (भो) हे शिष्य ! (खलु) निश्चय ही (जे) जो (ते) वे (समिया) समिति युक्त (सहिया) ज्ञानादि सहित (सया) सदा (जया) यतना वाले (संघडदंसिणो) निरन्तर शुभ और अशुभ को देखने वाले (आओवरया) पाप कर्म से निवृत्त तथा (वीरा) कर्मों को विदारण करने में समर्थ (लोयं) लोक के (अहातहा) यथार्थ स्वरूप को (उवेहमाणा) देखने वाले (पाईणं)

पूर्व (पडीण) पश्चिम (दाहिण) दक्षिण और (उईण) उत्तर दिशा में (इय सच्चसि परिचिट्ठिसु) निवास करते हुए संयम में स्थित रहते थे। (समियाण) उन समिति युक्त (सहियाण) ज्ञानादि सहित (सया) सदा (जयाण) यतना पूर्वक रहने वाले (सघडदसीण) निरन्तर शुभा-शुभ को देखने वाले (आओवरयाण) पाप कर्म से निवृत्त (लोय) लोक के (अहातहा) यथार्थ स्वरूप को (समुवेहमाणाण-समुप्पेहमाणाण) देखने वाले (वीराण) कर्मों को विदारण करने में समर्थ वीर, पुरुषों के (णाण) ज्ञान को (साहिस्सामो) कहूँगा, सो तुम सुनो। (किं) क्या (पासगस्स) सम्यक् अर्थ को जानने वाले ज्ञानवान् पुरुष को (उवाही) कर्मजनित उपाधि (अत्थि) प्राप्त होती है या (णत्थि) नहीं होती ? (ण विज्जइ) नहीं होती है (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १४० ॥

भावार्थः—तीर्थकर भगवान् की आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाले, पाच समिति तीन गुप्ति से युक्त, ज्ञानादि गुणों सहित, पापकर्म से निवृत्त, सदा यतना पूर्वक आहार विहारादि क्रिया करने वाले मुनीश्वर अतीत काल मे अनन्त हो चुके हैं और भविष्यत् काल मे भी अनन्त होगे तथा वर्तमान काल मे पन्द्रह कर्मभूमियो मे सख्येय विद्यमान हैं उन पुरुषो के ज्ञान को मै कहता हूँ कि ऐसे निरवद्य तप और चारित्र का पालन करने वाले मुनियो को कर्मजनित उपाधि प्राप्त नहीं होती है किन्तु वे तो अपने समस्त कर्मों का क्षय करके मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं ॥

॥ इति चौथे अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

लोकसार नामक पांचवां अध्ययन

पांचवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक

चौथे अध्ययन मे सम्यक्त्व और उसके अन्तर्गत ज्ञान का कथन किया गया है। सम्यक्त्व और ज्ञान का फल चारित्र है और चारित्र ही मोक्ष का प्रधान कारण है और लोक में सारभूत है। अतएव इस पांचवें अध्ययन का नाम लोकसार है और इसमें चारित्र का वर्णन किया गया है:—

आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए, एएसु चेव विप्परामुसंति, गुरू से कामा, तओ से मारस्स अंतो, जओ से मारस्स अंतो तओ से दूरे, णेव स अंतो णेव से दूरे ॥ १४१ ॥

अन्वयार्थः—(लोयंसि) इस लोक में (आवंती-यावती) जो (केआवंती) कोई मनुष्य (अट्ठाए) अर्थ से यानी प्रयोजन से या (अणट्ठाए) अनर्थ से यानी विना प्रयोजन से (विप्परामुसंति) प्राणियों की घात करते हैं। (एएसु चेव) वे उन्हीं प्राणियों मे (विप्परामुसंति) जन्म धारण करते है अर्थात् उन्ही योनियों में उत्पन्न होते हैं। (से) उन अज्ञानी जीवों के लिए (कामा) कामभोगों का त्याग करना (गुरू) बड़ा कठिन है। (तओ) इस कारण (से) वह (मारस्स अंतो-मारतो) मृत्यु के अन्दर हैं (जओ) जब कि (से) वह (मारस्स अंतो-मारतो) मृत्यु के अन्दर है (तओ) इसलिए (से) वह (दूरे) मोक्ष के उपाय से दूर है। (से) वह (अंतो) विषय सुख के अन्दर भी (णेव) नहीं है और (से) वह (दूरे) विषय सुख से दूर भी (णेव) नही है ॥ १४१ ॥

भावार्थः—इस ससार मे अज्ञानी जीव अपने प्रयोजन के लिए अथवा निष्प्रयोजन ही नाना प्रकार से हिसा करते हैं और उस पाप कर्म का फल भोगने के लिए छः जीवनिकाय की नाना योनियो मे उत्पन्न होते रहते हैं। अज्ञानी जीव कामभोगो को नहीं छोडता है और जब तक कामभोगो को नही छोडता है तब तक वह जन्म, जरा, मरण और रोग शोक से पीडित होकर सुख से सदा दूर रहता है। वह पूर्ण रूप से विषयसुख को भी नही भोग सकता है और विषयभोग की इच्छा बनी रहने के कारण वह विषयो का त्यागी नही कहा जा सकता है ॥

से पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुरणं णिवइयं वाएरियं, एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अवियाणओ, कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो पुणो ॥ १४२ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह पुरुष (कुसग्गे) कुश के अग्रभाग मे (पणुरण) हिलते हुए (वाएरिय) पवन से प्रेरित (णिवइयं) पतित होते हुए (फुसियमिव) जल बिन्दु के सदृश (मदस्स) मन्द (अवियाणओ) अज्ञानी (बालस्स) बाल के (जीविय) जीवन को (पासइ) देखता है। (मूढे) मूर्ख (बाले) बाल जीव (कूराइं) क्रूर (कम्माइ) कर्म (पकुव्वमाणे) करता हुआ (तेण) उस (दुक्खेण) दु ख से (विप्परियास) विपर्यास यानी दु ख को (उवेइ) प्राप्त करता है (मोहेण) मोह से (गब्भ) गर्भ और (मरणाइ) मरण आदि को (एइ) प्राप्त करता है। वह (पुणो पुणो) बार बार (एत्थ मोहे) इस मोहमय अनादि अनन्त संसार में परिभ्रमण करता रहता है ॥ १४२ ॥

भावार्थः—जिसका मिथ्यात्व हट गया है और सम्यक्त्व की प्राप्ति से जिसने ससार के सार को जान लिया है वह ज्ञानी पुरुष मनुष्य के जीवन को कुश के अग्रभाग मे लटकते हुए पवन से कम्पित जलबिन्दु की तरह समझता है किन्तु वास्तविक ज्ञान से

रहित बाल अज्ञानी जीव ऐसा नहीं जानते हैं। वे इस अल्प एव तुच्छ जीवन के लिए नाना प्रकार से पाप कर्म का बन्ध कर इस अनादि अनन्त ससार मे परिभ्रमण करते रहते हैं ॥

संसयं परियाणओ संसारे परिण्णाए भवइ, संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिण्णाए भवइ ॥ १४३ ॥

अन्वयार्थः—(ससय) संशय को (परियाणओ) जानने वाले पुरुष के द्वारा (ससारे) संसार (परिण्णाए भवइ) जाना जाता है और (ससयं) संशय को (अपरियाणओ) न जानने वाले पुरुष के द्वारा (ससारे) संसार (अपरिण्णाए भवइ) ज्ञात नहीं होता है ॥ १४३ ॥

भावार्थः—सशय दो प्रकार का है, अर्थसशय और अनर्थसशय। मोक्ष और मोक्ष का उपाय अर्थ है। मोक्ष परमपद कहा गया है अत. उसमे सशय नहीं हो सकता। मोक्ष के उपाय मे सशय हो सकता है फिर भी मनुष्य की उसमें प्रवृत्ति होती है क्योंकि पदार्थ का सशय भी प्रवृत्ति का कारण होता है। ससार और उसका कारण अनर्थ है उनके सशय से भी उनसे निवृत्ति होती है क्योंकि अनर्थ का सशय भी निवृत्ति का कारण होता है। अत. जो मनुष्य अर्थ और अनर्थ के सशय को जानता है उसकी हेय यानी त्यागने योग्य पदार्थ से निवृत्ति और उपादेय यानी ग्रहण करने योग्य पदार्थ मे प्रवृत्ति हो सकती है और जिसको अर्थ अनर्थ का सशय नहीं होता उसकी हेय और उपादेय मे निवृत्ति और प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ॥

जे छेए से सागारियं ण सेवए, कट्टु एवमवियाणओ बिइया मंदस्स बालया, लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणयाए त्ति बेमि ॥ १४४ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (छेए) निपुण-विद्वान् है (से) वह (सागारिय) मैथुन (ण सेवए) सेवन नहीं करता है। जो अज्ञानी (एव कट्टु) मैथुन सेवन करके (अवियाणओ) गुरु के सामने अपने कुकृत्य का निवेदन नहीं करता है (मदस्स) उस मूर्ख की

(विइया) दूसरी (बालया) मूर्खता है । (हु) निश्चय ही (लद्धा) प्राप्त हुए (अत्था) कामभोगों की भी (पडिलेहाए) उनके फल को सोच कर और (आगमित्ता) उन्हे दु:खदायी जान कर (अणासेवणयाए—अणासेवणाए) स्वयं उनका सेवन न करे और (आणविज्जा) दूसरों को भी सेवन करने की आज्ञा न देवे (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १४४ ॥

भावार्थः—पुण्य पापादि के स्वरूप को जानने वाला विद्वान पुरुष मैथुन का सेवन नही करता है । जो पासत्था आदि मोहनीय कर्म के उदय से मैथुन सेवन करता है और अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए गुरु के पूछने पर झूठ बोलता है एवं अपने कुकृत्य को छिपाता है वह मूर्ख यह दूसरी मूर्खता करता है क्योंकि मैथुन सेवन करना पहली मूर्खता है और झूठ बोलना दूसरी मूर्खता है । अत: विवेकी पुरुष को चाहिए कि कामभोगो के बुरे फल को विचार कर प्राप्त हुए कामभोगो का भी सेवन न करे और दूसरो को भी सेवन करने की आज्ञा न देवे ।

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणिज्जमाणे, एत्थ फासे पुणो पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, एत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमइ पावेहि कम्मेहिं, असरणे सरणंति मरणमाणे, इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए बहुलोभे बहुरए बहुणडे बहुसढे बहुसंकप्पे आसवसक्की पलिउच्छण्णे उट्ठियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू अण्णाणपमायदोसेणं, सययं मूढे धम्मं णाभिजाणइ, अट्टा पया माणव ! कम्मकोविया जे अणुवरया अविज्जाए पलिमुक्खमाहु आवट्टमेव अणुपरियट्टंति त्ति बेमि ॥ १४५ ॥

अन्वयार्थः—(रूवेसु) रूप आदि विषयों में (गिद्धे) आसक्त पुरुषों को (परिणिज्जमाणे) नरक आदि यातना स्थानों में जाते हुए (पासह) देखो । इन्द्रियवशीभूत वे पुरुष (पुणो पुणो) वारवार (इत्थ) इस संसार मे (फासे) स्पर्शों का अनुभव करते हैं यानी

दुःख भोगते हैं। (लोगंसि) इस लोक में (आवंती) जितने (केयावंती) कोई (आरंभजीवी) आरम्भ से जीने वाले प्राणी हैं वे सभी दुःख के भागी होते हैं (चेव) और (एएसु) सावद्य आरम्भ करने में प्रवृत्त इन गृहस्थों में शरीरनिर्वाह के लिए रहने वाले (आरंभजीवी) आरभ से जीने वाले अन्यतीर्थिक और पार्श्वस्थ आदि भी पूर्वोक्त दुःख के भागी होते हैं। (इत्थ वि) इस आर्हतमतोक्त संयम को स्वीकार करके भी (बाले) रागद्वेष से कलुषित चित्त वाला बाल अज्ञानी (परिपच्चमाणे) विषय तृष्णा से सन्तप्त होता हुआ (पावेहिं) पाप (कम्मेहिं) कर्मों में (रमइ) रमण करता है। (असरणे) अशरण को यानी सावद्य आरभ शरण रूप नहीं है फिर भी उसको (सरणं-ति) शरण (मण्णमाणे) मानता हुआ अज्ञानी उसका सेवन करता है। (इह) इस जगत् में (एगेसिं) कोई (एगचरिया भवइ) अकेले विचरते हैं परन्तु (से) वे (बहुकोहे) बहुत क्रोधी (बहुमाणे) बहुत मानी (बहुमाए) बहुत मायी (बहुलोभे) बहुत लोभी (बहुरए) पाप कर्म में बहुत रत रहने वाले अथवा बहुत रज यानी पाप वाले (बहुनडे) जगत् को ठगने के लिए नट की तरह अनेक रूप धारण करने वाले (बहुसढे) अत्यन्त शठ (बहुसंकप्पे) बहुत संकल्प वाले (आसवसक्की—आसवसत्ता) हिंसादि आश्रवों में आसक्त और (पलिउच्छण्णे) कर्मों से ढके हुए होते हैं। (उट्ठियवायं) वे अपने आपको प्रव्रज्याधारी (पवयमाणे) कहते हुए भी पापकर्म करते हैं। (अण्णाणपमाय-दोसेणं) अज्ञान और प्रमाद के दोष से (मे) मुझको (केइ) कोई (मा अदक्खू) देख न लेवे इस शंका से छिप कर पाप कर्म करते हैं (सययं मूढे) वे अत्यन्त मूढ (धम्मं) धर्म को (णाभिजाणइ) नहीं जानते हैं। (माणवा) हे मनुष्यो! (पया) प्रजा वर्ग यानी सब प्राणी (अट्टा) विषय और कषायों में आर्त्त-दुःखी हैं। (कम्मकोविया) वे कर्म बांधने में निपुण हैं यानी गाढ कर्मबन्ध करते हैं। (जे) जो पुरुष (अणुवरया) पाप से निवृत्त न होकर (अविज्जाए) अविद्या से (पलिमोक्खं) मोक्ष (आहु) बतलाते हैं। वे (आवट्टमेव) संसार रूपी भँवर में ही (अणुपरियट्टंति) भ्रमण करते रहते हैं। (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १४७ ॥

नोट —किसी किसी प्रति में 'इत्थ फासे पुणो पुणो' के स्थान पर 'इत्थ मोहे पुणो पुणो' ऐसा पाठ है। जिसका अर्थ है —विषयासक्त पुरुष इस मोहमय ससार में अथवा चारित्रमोह में बारबार पड़ा रहता है।

भावार्थः—आरम्भ से जीवननिर्वाह करने वाले विषयलोलुपी पुरुष विषयो मे आसक्त होकर नाना प्रकार से शारीरिक और मानसिक दु.ख उठाते हैं और नरकादि गतियो मे जाते हैं। कितनेक पुरुष सयम स्वीकार करके भी फिर मोहोदय से विषय पिपासा से आकुल चित्त वाले होकर सावद्य कर्मों में प्रवृत्ति करते हैं और कितनेक पुरुष उन सावद्य अनुष्ठानो को ही अपना शरण मानते हैं किन्तु यह उनकी अज्ञानता है। कितनेक पाखण्डी लोग अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए साधु का वेष पहन कर अकेले विचरते हैं। वे अत्यन्त क्रोधी, मानी, मायी और लोभी होते हैं। वे सदा शकित रहते हैं कि—मुझको पाप कर्म करते हुए कोई देख न ले। वे अज्ञान और प्रमाद के वशीभूत होकर छिप कर पाप कर्म करते हैं जिससे कर्मबन्ध कर वे कर्मों से भारी होते हैं। ऐसे पुरुष बारबार संसारचक्र में घूमते हुए नरकादि गतियो को प्राप्त करते है ॥

॥ इति पाँचवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक में जिनाज्ञा से विरुद्ध अकेला विचरने वाला मुनि नहीं है यह बतलाया गया है। "जिस तरह मुनिभाव प्राप्त किया जाता है" वह इस उद्देशक मे बतलाया जाता है —

आवंती केयावंती लोयंसि अणारंभजीविणो एएसु चेव अणारंभजीविणो, एत्थोवरए तं झोसमाणे, अयं संधीत्ति अदक्खू, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणे त्ति अण्णेसी एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उट्ठिए णो पमायए, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं पुढो छंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थः—(लोयंसि-लोए) लोक में (आवंती) जितने (केयावंती) कोई (अणारंभजीविणो) अनारम्भजीवी अर्थात् आरम्भ के त्यागी पुरुष हैं वे (एएसु चेव) गृहस्थों के घर से निर्दोष आहारादि लेकर (अणारंभजीविणो) अनारम्भ से ही अपने शरीर का निर्वाह करते हुए संयमजीवन से जीते हैं। (एत्थोवरए) सावद्य आरम्भ से निवृत्त और (तं) कर्मों का (झोसमाणे) क्षय करता हुआ पुरुष मुनिभाव को प्राप्त होता है। (अयं) यही (संधी त्ति) अवसर है ऐसा (अदक्खू) विद्वानों ने देखा है। (जे) जो पुरुष (इमस्स) इस (विग्गहस्स) शरीर का (अयं) यही (खणे त्ति) क्षण—अवसर है ऐसा (अण्णेसी-मण्णेसी) अन्वेषण करता है एवं मानता है वह प्रमाद नहीं करता है (एस) यह (मग्गे) मार्ग (आरिएहिं) आर्य पुरुषों ने (पवेइए) कहा है। (उट्ठिए) धर्माचरण करने के लिए तत्पर पुरुष (पत्तेयं) प्रत्येक प्राणियों के (सायं) सुख (दुक्खं) दुःख को (जाणित्तु) अलग अलग जान कर (णो पमायए) प्रमाद न करे। (इह) इस जगत् में

(माणवा) मनुष्यों के (पुढो) भिन्न भिन्न (छदा) अभिप्राय होते हैं और (दुक्ख) उनका दुःख भी (पुढो) भिन्न भिन्न (पवेइय) कहा गया है। (से) वह अनारम्भजीवी पुरुष (अविहिंसमाणे) प्राणियों की हिंसा न करता हुआ और (अणवयमाणे) झूठ न बोलता हुआ (फासे) शीत उष्ण आदि परीषहों का (पुट्ठो) स्पर्श पाकर अर्थात् परीषहो के आने पर (विप्पणोल्लए–विप्पणुएणाए) उन्हे समभावपूर्वक सहन करे ॥ १४६ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार जल मे रहता हुआ भी कमल जल से लिप्त नही होता है उसी प्रकार सावद्य आरम्भ मे प्रवृत्त गृहस्थो के आश्रय में रह कर देह की रक्षा के लिए आरम्भ न करते हुए पञ्चमहाव्रतधारी साधु पाप मे लिप्त नहीं होते है।

विवेकी पुरुष को विचारना चाहिए कि—आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल मे उत्पत्ति, सम्पूर्ण इन्द्रियो से सम्पन्नता, श्रद्धा और सवेगरूप अवसर प्राप्त होना बडा ही दुर्लभ है। अतः इन्हे प्राप्त करके क्षण भर भी प्रमाद नही करना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी के सुख दुःख और अभिप्राय भिन्न भिन्न है यह जानने वाला और विना आरम्भ के जीविका करने वाला विवेकी पुरुष प्राणियो की हिसा न करता हुआ और मिथ्याभाषण तथा अदत्तादान आदि का त्याग करता हुआ पञ्चमहाव्रतो का पालन करे और पञ्चमहाव्रतो का पालन करते हुए जो परीषह उपसर्ग आवे उन्हे समभाव पूर्वक सहन करे॥

एस समिया परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इइ उदाहु धीरे ते फासे पुट्ठो अहियासए, से पुव्विपेयं पच्छापेयं, भेउरधम्मं विद्धंसणधम्ममधुवं अणिइयं असासयं, चयावचइयं विप्परिणामधम्मं, पासह एयं रूवसंधिं ॥ १४७ ॥

अन्वयार्थः—(एस) यह पुरुष (समिया परियाए) सम्यक् पर्याय वाला (वियाहिए) कहा गया है। (जे) जो पुरुष (पावेहि कम्मेहि) पाप कर्मों से (असत्ता) आसक्त नहीं हैं (उदाहु) यदि कदाचित् (ते) उनको (आयंका) रोग (फुसंति) स्पर्श करें तो (धीरे) धीर पुरुषों ने (इइ) ऐसा (उदाहु) कहा है कि (ते) उन (फासे) रोगों के (पुट्ठो) स्पर्श करने पर उस कष्ट को (अहियासए) समभाव पूर्वक सहन करे। (से) वह यह सोचे कि (पुव्विपेयं) पहले भी यह मुझको ही भोगना होगा और (पच्छापेयं) पीछे भी मुझे ही भोगना पड़ेगा। (भेउर-धम्मं) यह औदारिक शरीर स्वयमेव निर्दीर्ण होने वाला है (विद्धंसणधम्मं) विध्वंस होने वाला है (अधुवं) यह ध्रुव नहीं है (अणितियं) यह नित्य नहीं है (असासयं) यह शाश्वत नहीं है (चयावचइयं) यह चय और अपचय वाला है (विपरिणामधम्मं) यह विविध परिणाम वाला है। अतः (एयं) इस (समासं) पूर्वोक्त अवसर को (पासह) देखो ॥ १४७ ॥

भावार्थः—जो पुरुष परीषह और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करता है वही सम्यक् प्रव्रज्या वाला है। ऐसे पुरुष को यदि कदाचित् कोई रोग उत्पन्न हो तो उसे कभी भी चिन्ता न करनी चाहिए क्योंकि यह शरीर तो कच्चे घड़े की तरह विनष्ट हो जाने वाला है। अतएव अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसे सफल बनाने के लिए शुभ अनुष्ठान करना ही विवेकी पुरुषों का कर्तव्य है। अतएव शास्त्रकार फरमाते हैं कि—पांच इन्द्रियों से परिपूर्ण शरीर की जो प्राप्ति हुई है यह धर्माचरण करने का बड़ा भारी अवसर है। ऐसे सुअवसर को पाकर विषयसुख में आसक्त मत बनो। किन्तु धर्माचरण करो और धर्माचरण करने में एक क्षण भर भी प्रमाद मत करो ॥

समुप्पेहमाणस्स इक्कायथणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गो विरयस्स त्ति बेमि ॥ १४८ ॥

अन्वयार्थः—(समुप्पेहमाणस्स) यह शरीर अनित्य है ऐसा निश्चय करने वाले तथा (इक्कायय‌णरयस्स) ज्ञान, दर्शन और चारित्र में रत (विप्पमुक्कस्स) शरीरादि के ममत्व से रहित (विरयस्स) विरतियुक्त पुरुष के लिए (मग्गो) नरक तिर्यञ्चादि गति में जाने का मार्ग (णत्थि) नही है (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १४८ ॥

भावार्थः—शरीर की अनित्यता को भलीभाँति जान कर शरीर के ममत्व से निवृत्त, ज्ञान, दर्शन, चारित्र मे रमण करने वाला और हिंसादि आश्रवो से निवृत्त पुरुष नरक तिर्यञ्चादि गति में नही जाता है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान् महावीर स्वामी ने फरमाया है।

आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं य णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ ॥ १४६ ॥

अन्वयार्थः—(लोगसि) लोक में (आवती) जितने भी (केयावती) कोई (परिग्गहावती) परिग्रह वाले है। (से) उनका वह परिग्रह (अप्पं) अल्प हो (वा) या (बहु) बहुत, (अणु) अणु हो (वा) या (थूल) स्थूल, (चितमत) चेतनावान् हो (वा) या (अचित्तमतं) अचित्त हो (एएसु चेव) उन परिग्रहों के कारण वे (परिग्गहावती) परिग्रह वाले गृहस्थ ही हैं। (एतदेव-एवमेव) थोड़ा या बहुत परिग्रह रखना ही (एगेसिं) उन परिग्रह रखने वालों को (महब्भय) महान् भयदायक (भवइ) होता है। (लोगवित्तं) असंयमी पुरुषों का परिग्रह महान् भयदायक होता है अत' (उवेहाए) ज्ञ परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग दे। जो पुरुप (एए) इन (सगे) परिग्रहों को (अनिजाणए) सेवन नही करता है अर्थात् परिग्रह का त्याग कर देता है उसको भय नहीं होता है ॥ १४६ ॥

भावार्थः—इस जगत् मे जो थोडा धन रखता है और जो धन, धान्य, हिरण्य, ग्राम और जनपद आदि बहुत धन रखता है

तथा जो तृण काष्ठ आदि अथवा हाथी घोड़ा आदि महान् वस्तु रखता है एव जो चित्तवान वस्तु रखता है अथवा अचित्त पदार्थ रखता है वे सभी परिग्रही हैं। वे चाहे अपने को व्रतधारी ही क्यों न कहते हैं किन्तु वास्तव मे वे व्रतधारी नहीं हैं उन्हे गृहस्थ ही मानना चाहिए। परिग्रह महान् भय का कारण है। जो पुरुष उसका त्याग कर देता है उसे परिग्रहजनित भय नहीं होता है। अत विवेकी पुरुषों को परिग्रह का त्याग कर देना चाहिए॥

से सुपडिबद्धं सूवणीयंति णच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरक्कम, एएसु चेव बंभचेरं त्ति बेमि, से सुयं य मे अज्झत्थयं य मे बंधपमुक्खो अज्झत्थेव, इत्थ विरए अणगारे दीहरायं तितिक्खए, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए, एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि त्ति बेमि ॥ १५० ॥

अन्वयार्थः—(से) परिग्रह त्यागने वाले पुरुष के ही ज्ञानादि (सुपडिबद्ध) अच्छी तरह से स्थित और (सूवणीय ति) प्राप्त हैं यह (णच्चा) जान कर (पुरिसा) हे पुरुष ! (परमचक्खू) ज्ञान एव मोक्ष में दृष्टि रखते हुए (विपरक्कम-विपरिक्कम) संयम पालन करने में पराक्रम करो। (एएसु चेव) जो परिग्रह से रहित हैं और ज्ञान एवं मोक्ष में दृष्टि रखने वाले हैं उन्हीं में (बंभचेर) ब्रह्मचर्य है अथवा ब्रह्मचर्य नामक इस प्रथम श्रुतस्कन्ध में बतलाये गये गुण उन्हीं में होते हैं। (त्ति बेमि) ऐसा मे कहता हूँ। (से) वह (मे) मैंने (सुयं) सुना है (य) और (मे) मेरे (अज्झत्थयं) चित्त में भी स्थित है अर्थात् मैंने अनुभव किया है कि (बंधपमुक्खो) बन्ध से छुटकारा (अज्झत्थेव) अध्यात्म अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही होता है। (इत्थ) अत. (विरए) परिग्रह से रहित (अणगारे) साधु (दीहराय) जीवन भर (तितिक्खए) समभाव पूर्वक कष्ट सहन करे। शास्त्रकार कहते हैं कि (पमत्ते) विषय सेवन रूप प्रमाद में पड़े हुए पुरुषों को (बहिया) धर्म से बाहर (पास) देखो—जानो और (अप्पमत्तो) स्वय प्रमाद रहित होकर (परिव्वए) संयम का पालन करो। (एयं) इस (मोणं) मुनिव्रत

का (सम्म) भलीभांति (अणुवासिज्जासि) पालन करो (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १५० ॥

भावार्थः—जिसने परिग्रह का त्याग कर दिया है उसी का ज्ञान उत्तम है। जो परिग्रह रहित नहीं है तथा विषय और कषायों मे आसक्त है वह धर्म से बहिर्भूत है। इस बात को जान कर विवेकी पुरुष को चाहिए कि प्रमाद का त्याग कर शुद्ध संयम का पालन करे ॥

॥ इति पाँचवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक मे अविरत पुरुप को परिग्रही कहा है। अब इस तीसरे उद्देशक में अपरिग्रही पुरुप का वर्णन किया जाता है:—

आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव अपरिग्गहावंती, सुच्चा वई मेहावी पंडियाण णिसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए जहित्थ मए संधी झोसिए एवमण्णत्थ संधी दुज्झोसए भवइ, तम्हा बेमि णो णिण्हवेज्ज वीरियं ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थः—(लोयंसि) लोक में (आवंती) जितने (केयावंती) कोई (अपरिग्गहावंती) परिग्रह रहित हैं (एएसु चेव) अल्प, बहुत आदि सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देने से तथा इन छः कार्यों में ममता के अभाव से ही (अपरिग्गहावंती) अपरिग्रही होते हैं। इसलिए (मेहावी) मर्यादा में स्थित बुद्धिमान् पुरुष (वई) तीर्थंकर भगवान् के वचनों को (सोच्चा) सुन कर तथा (पंडियाण) पण्डित अर्थात् गणधरों और आचार्यों के वचनों को (णिसामिया) सुन कर अपरिग्रही होते हैं। (आरिएहिं) आर्य पुरुषों ने (समियाए) समभाव से (धम्मे) धर्म (पवेइए) कहा है। भगवान् ने फरमाया है कि (जहा) जिस प्रकार (इत्थ) इस धर्म में (मए) मैंने (संधी) कर्म-सन्तति का (झोसिए) क्षय किया है (एवं) वैसा (अण्णत्थ) अन्यधर्म में (दुज्झोसए भवइ) क्षय किया जाना सम्भव नहीं है। (तम्हा) इसलिए (बेमि) मैं कहता हूँ कि (वीरियं) तप में वीर्य—पराक्रम को (णो णिण्हवेज्ज) छिपाना न चाहिए ॥ १५१ ॥

भावार्थः—तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को सुन कर एव तीर्थङ्करोक्त आगम के रहस्य को जान कर जो पुरुष अल्प या बहुत सब प्रकार के परिग्रह का त्याग कर देते हैं वे अपरिग्रही होते है। जो अपरिग्रही हैं उन्हे तप सयम मे पराक्रम करना चाहिए। स्वयतीर्थंकर भ० फरमाते हैं कि यह आर्हतदर्शन ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप तथा समभावमय है। इसमें मन और इन्द्रियों का विजय मोक्षार्थियो का कर्तव्य बताया गया है। ऐसे इस वीतराग प्रतिपादित धर्म मे स्थित होकर जिस प्रकार कर्मों का क्षय किया जाता है वैसा अन्य धर्मों मे नही क्योंकि अन्यधर्मों मे कर्मक्षपण का सम्यक् उपाय नहीं बतलाया गया है। अतः साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान् फरमाते हैं कि मैंने भी इसी धर्म मे स्थित होकर विशिष्ट तप के द्वारा कर्मों का क्षय किया है। इसलिए दूसरे मोक्षार्थियो को भी ऐसा ही करना चाहिए। संयम के अनुष्ठान और तपस्या मे अपने पराक्रम को नहीं छिपाना चाहिए॥

जे पुव्वुट्ठाई णो पच्छाणिवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छाणिवाई, जे णो पुव्वुट्ठाई णो पच्छाणिवाई, सेवि तारिसिए सिया, जे परिण्णाय लोगमणेसयंति ॥ १५२ ॥

अन्वयार्थः—(जे) कोई पुरुष (पुव्वुट्ठाई) **पहले संयम को अङ्गीकार करके** (णो पच्छाणिवाई) **पीछे संयम से गिरता नहीं है।** (जे) कोई पुरुष (पुव्वुट्ठाई) **पहले संयम को अङ्गीकार करके** (पच्छाणिवाई) **पीछे पतित हो जाता है।** (जे) कोई (णो पुव्वुट्ठाई) **पहले संयम स्वीकार भी नही करता और** (णो पच्छाणिवाई) **पीछे पतित भी नही होता है।** (सेवि) **वे भी** (तारिसिए-तारिसए) **वैसे ही** (सिया) **है** (जे) **जो** (परिण्णाय) **त्याग कर फिर** (लोग) **लोक का** (अणेसयति-अणुस्सिता) **अन्वेषण करते हैं॥ १५२॥**

भावार्थः—कोई मनुष्य ससार के स्वरूप को भली प्रकार जान कर सिंह के समान वीरतापूर्वक घर को छोड कर दीक्षा लेते

हैं और सिंह के समान ही सयम का पालन करते हैं वे प्रथम भङ्ग के स्वामी उत्तम कोटि के महात्मा हैं। कोई पुरुष संयम स्वीकार करके फिर सयम से गिर जाते हैं। ऐसे पुरुष दूसरे भङ्ग के स्वामी हैं। जो पहले सयम ग्रहण नहीं करता है और पीछे पतित हो जाता है यह तीसरा भग है किन्तु यह शून्य है इसलिए तीसरा भग इस सूत्र मे नहीं लिखा गया है। कोई ऐसे पुरुष होते हैं जो न तो दीक्षा ग्रहण करते हैं और पीछे गिरते भी नहीं। इस भग के स्वामी गृहस्थ हैं और शाक्य आदि भी उसी भग मे हैं क्योंकि वे सावद्य योग का त्याग नहीं करते हैं अतः वे गृहस्थ के तुल्य ही हैं।

एयं णियाय मुणिणा पवेइयं, इह आणाकंखी पंडिए अणिहे पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे, इमेणचेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण वज्झओ ॥ १५३ ॥

अन्वयार्थः—(एय) इस विषय को (णियाय) केवलज्ञान के द्वारा जान कर (मुणिणा) मुनि ने अर्थात् तीर्थंकर भगवान् ने (पवेइयं) कहा है। (इह) इस जैन शासन में स्थित पुरुष (आणाकंखी) तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा की इच्छा करे तथा (पंडिए) पण्डित अर्थात् सत् और असत् का विवेक रखने वाला बने एवं (अणिहे) स्नेह रहित हो तथा (पुव्वावररायं) पूर्व रात्रि और अपर रात्रि में (जयमाणे) यत्नपूर्वक सदाचार का पालन करे और (सया) सदा (सीलं) शील एवं संयम को (संपेहाए) भली प्रकार जान कर उसका पालन करे। (सुणिया) शील एवं संयम पालन के फल को सुन कर (अकामे) काम रहित और (अझंझे) माया रहित बनो (चेव) और (इमेण) अपनी कषाय आत्मा के साथ (जुज्झाहि) युद्ध करो। (वज्झओ) बाहर के (जुज्झेण) युद्ध से (ते) तुम को (किं) क्या प्रयोजन है? ॥ १५३ ॥

भावार्थः—पूर्व सूत्र में जो चतुर्भङ्गी कही गई है वह अपनी बुद्धि से कल्पित नहीं किन्तु केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को देख कर श्री वीतराग देव द्वारा कही गई है। श्री तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाला पुरुष रात दिन यत्न पूर्वक सदाचार का पालन करे और एक क्षण भर भी प्रमाद न करे। शास्त्रकार फरमाते हैं कि विषय कषाय में प्रवृत्त होती हुई इन्द्रियो और मन के साथ युद्ध करके इन्हे वश में करो। जब तक तुम इन दुर्जय शत्रुओ को वश मे न करोगे तब तक तुम्हारा कल्याण नही हो सकता है इनको जीत लेने पर ही आत्मा का कल्याण हो सकता है॥

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं, जहित्थ कुसलेहि परिण्णाविवेगे भासिए, चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ, अस्सिं चेयं पवुच्चइ, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से ण हिंसइ, संजमई णो पगब्भइ, उवेहमाणो पत्तेयं सायं वण्णाएसी णारंभे कंचणं सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसपइण्णे णिविण्णचारी अरए पयासु ॥ १५४ ॥

अन्वयार्थः—(जुद्धारिहं–जुद्धारिय) भाव युद्ध के योग्य औदारिक शरीर प्राप्त करना (खलु) निश्चय ही (दुल्लह) बड़ा दुर्लभ है। (कुसलेहिं) कुशल पुरुषों ने (इत्थ) इस जगत् में (जहा) जिस प्रकार (परिण्णाविवेगे–पण्णाविवेगे) ज्ञान (भासिए) बताया है बुद्धिमान् को वैसा ही मानना चाहिए। (चुए) धर्म से भ्रष्ट (बाले) अज्ञानी जीव (हु) निश्चय ही (गब्भाइसु) गर्भ आदि मे (रज्जइ) अनुरक्त होता (अस्सिं) इस आर्हत प्रवचन मे (इय) यह बात (पवुच्चइ) भलीभाति बतलाई जाती है। (रूवसि) रूप आदि भोगों मे आसक्त जीव (खणसि) हिंसा जूठ आदि मे प्रवृत्त होता है। (हु) निश्चय से (से) वह (एगे) एक मुनि ही (सविद्धपहे–सविद्धभये) मोक्ष मार्ग ने वाला है। (लोग) लोक को (अण्णहा) अन्यथा यानी विषय और कषाय मे आसक्त (उवेहमाणो) देख कर मुनि मोक्ष मार्ग

का पथिक बने। (इय) इन पूर्वोक्त कारणों से (कम्म) बंधे हुए कर्मों को (परिण्णाय) ज्ञ परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर (से) वह मुनि (सव्वसो) सब प्रकार से (ण हिंसइ) प्राणियों की हिंसा नहीं करता है। (संजमई) मुनि संयम का पालन करता है (णो पगब्भइ) किन्तु धृष्टता नहीं करता है। (पत्तेय) प्रत्येक प्राणियों के (सायं) सुख को (उवेहमाणो) अलग अलग देखता हुआ प्राणियों की हिंसा न करे। (वण्णाएसी) अपने शरीर का सुन्दर वर्ण बनाने के लिए अथवा यश आदि की इच्छा से (सव्वलोए) समस्त लोक में (कचणं) किसी भी सावद्य कार्य का (ण आरभे) आरम्भ न करे। (विदिसप्पइण्णो) संयम विरोधी मार्गों को पार करके (एगप्पमुहे) एक मोक्ष में दृष्टि रखता हुआ और (णिविण्णचारी) विरक्त पुरुष के आचरण का सेवन करता हुआ मुनि (पयासु) स्त्रियों में (अरत्ते) रत न होवे अथवा प्राणियों के आरम्भ में प्रवृत्त न होवे॥ १५४॥

भावार्थः—इस जगत् में प्राणियों की हानि करने वाले जैसे आन्तरिक शत्रु क्रोध मान माया और लोभ हैं वैसा बाहर का शत्रु नहीं है। जब तक जीव इन शत्रुओं का नाश नहीं करता तब तक उसको शान्ति प्राप्त होना अति दुर्लभ है। वे शत्रु तप संयम द्वारा जीते जा सकते हैं। तप संयम का आचरण इस औदारिक शरीर द्वारा ही किया जा सकता है किन्तु इस मनुष्य सम्बन्धी औदारिक शरीर की प्राप्ति होना बड़ा ही दुर्लभ है। अत्यन्त शुभ कर्मों के उदय से यह जीव को प्राप्त होता है। ऐसे दुर्लभ शरीर को प्राप्त कर विवेकी पुरुष को चाहिए कि मोक्ष प्राप्ति के साधनभूत तप संयम में इसका उपयोग करे। जो अज्ञानी जीव इसे विषयभोगों में लगा कर व्यर्थ खो देता है वह जन्म मरण के चक्कर में नहीं छूट सकता है।

जो ज्ञानवान पुरुष विषयभोगों में आसक्त नहीं होता है वह इन्द्रियों को जीतने वाला और तीनों जगत् के यथार्थ स्वरूप का मनन करने वाला मुनि ही ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्ष के मार्ग पर जाने वाला होता है और वही संसार को भयदायक देखने वाला

... मार्ग से जा रहे हैं यह जान कर मुनि कर्मबन्ध के कारणभूत आस्रवों का त्याग कर देता है।

होता है। सांसारिक मनुष्य और पाखण्डी लोग मोक्ष से विपरीत मार्ग से जा रहे हैं यह जान कर मुनि कर्मबन्ध के कारणभूत आस्रवों का त्याग कर देता है।

संसार के सभी प्राणी पृथक् २ अपना सुख दुःख भोगते हैं। सभी प्राणीयों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है यह विचार कर किसी प्राणी को दुःख न देना चाहिए, किसी भी प्राणी की हिंसा न करनी चाहिए और किसी भी सावद्य कार्य का आरम्भ न करना चाहिए ॥

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं तं णो अण्णेसी, जं सम्मं ति पासह तं मोणं ति पासह, जं मोणं ति पासह तं सम्मं ति पासह, ण इमं सक्कं सिढिलेहिं आइज्जमाणेहिं, गुणासाएहिं वंकसमायरेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं, मुणी मोणं समायाए धुणे कम्मसरीरगं, पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो, एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ॥ १५५ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह (वसुम) संयमी पुरुष (सव्वसमण्णागयपण्णाणेण) समस्त पदार्थों का ज्ञान रखने वाले (अप्पाणेणं) अपनी आत्मा के द्वारा (अकरणिज्ज) न करने योग्य (त) उस (पाव) पाप (कम्म) कर्म का (णो अण्णेसी) अन्वेषण न करे अर्थात् आचरण न करे। (ज) जिसको (सम्म ति) सम्यक् ज्ञान या सम्यक् रूप (पासह) देखो (त) उसी को (मोण ति) संयम रूप (पासह) देखो और (ज) जिसको (मोण ति) संयम रूप (पासह) देखो (त) उसी को (सम्म ति) सम्यक् रूप (पासह) देखो। (सिढिलेहिं) शिथिल अर्थात् संयम और तप मे जो दृढ नहीं हैं (आइज्जमाणेहिं-अद्दिज्जमाणेहिं) जो पुत्र कलत्रादि के अनुराग से अनुरक्त हैं (गुणासाएहिं) जो शब्दादि विषयों के स्वाद मे आसक्त हैं (वकसमायरेहिं) जो मायावी और (पमत्तेहिं) प्रमादी हैं (गारमावसतेहिं) जो गृहस्थावास में रहते हैं उनसे

(इम) इसका अर्थात् संयम का (ण सक्क) पालन किया जाना शक्य नहीं है। (मुणी) मुनि (मोण) संयम को (समायाए) स्वीकार करके (कम्मसरीरग) कर्म शरीर का यानी कर्मों का (धुणे) विनाश करे। (सम्मत्तदंसिणो) सम्यक्त्वदर्शी (वीरा) वीर पुरुष (पंत) अन्तप्रान्त और (लूह) रूक्ष (सेवंति) आहार का सेवन करते हैं। (एस) यह (मुणी) मुनि (ओहंतरे) संसार रूप समुद्र को तिरने वाला (तिण्णे) तरा हुआ (मुत्ते) मुक्त और (विरए) विरत (वियाहिए) कहा गया है (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १५५ ॥

भावार्थः—पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला मुनि सावद्य कर्म का अनुष्ठान न करे। सम्यग्ज्ञान होने पर पाप कर्म का त्याग और सयम का अनुष्ठान होता है इसलिए कारण और कार्य को अभिन्न मान कर शास्त्रकार फरमाते है कि—जो सम्यग्ज्ञान है वही सयम का अनुष्ठान है और जो सयम का अनुष्ठान है वही सम्यग्ज्ञान है।

सयम का पालन करना सरल नहीं है। हर एक प्राणी सयम का पालन नहीं कर सकता है। तप सयम में शिथिल, स्त्री पुत्रादि मे ममत्व रखने वाला, शब्दादि विषयों मे गृद्ध, मायावी, और प्रमादी पुरुषों से समस्त पापों के त्याग रूप सयम का पालन नहीं हो सकता है किन्तु ससार के स्वरूप को भली भांति जान कर उसका त्याग करने वाले और कर्म विदारण में निपुण मुनि ही सयम का पालन कर सकते हैं। वे अन्तप्रान्त और रूक्ष आहार का सेवन कर सयमयात्रा का निर्वाह करते हैं और तप द्वारा कर्मों का क्षय करके सिद्ध बुद्ध यावत मुक्त हो जाते हैं॥

॥ इति पाँचवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का चौथा उद्देशक

तीसरे उद्देशक में बतलाया गया है कि हिंसा, विषयभोग और परिग्रह मे महान् दोष हे अत इनसे जो विरत है वही मुनि है। अब चौथे उद्देशक मे अकेले विचरने वाले के दोषो को बता कर उसके मुनि न होने का कारण बताया जाता है. —

गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परक्कंतं भवइ अवियत्तस्स भिक्खुणो ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः—(गामाणुगाम) एक ग्राम से दूसरे ग्राम को (दुइज्जमाणस्स) जाते हुए यानी विचरते हुए (अवियत्तस्स) शास्त्र और अवस्था मे अपरिपक्व (भिक्खुणो) साधु का (दुज्जाय दुप्परक्कत भवइ) गमन और व्यवहार बुरा होता है ॥ १५६ ॥

भावार्थः—जो साधु शास्त्र में और अवस्था मे परिपक्व नही है अर्थात् जो आचारकल्प का अर्थ नही जानता है और अवस्था मे भी अल्प है वह यदि गच्छ से निकल कर अकेला ग्रामानुग्राम विहार करे तो उसका विहार दोषयुक्त होना संभव है क्योकि मार्ग मे अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गों के आने से उसकी सयम से भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है। और जिस स्थान पर वह ठहरता है वहाँ पर भी अनेक दोष होने की सम्भावना रहती है। इसलिए शास्त्रकार एकल विहार का निषेध करते है। इसी बात को चतुर्भङ्गी के द्वारा बताया जाता है —

जो साधु शास्त्र और अवस्था दोनों से अपरिपक्व है उसको अकेला विचरना उचित नही है क्योकि उसके सयम और शरीर की हानि सम्भव है। जो साधु शास्त्रो मे तो प्रवीण नही है किन्तु अवस्था मे परिपक्व है उसको भी अकेला विचरना ठीक नहीं है क्योकि गीतार्थ न होने के कारण उसके भी संयम और शरीर की विराधना सम्भव है। जो साधु शास्त्र मे तो प्रवीण है परन्तु अवस्था मे अप-

रिपक्व है उसको भी अकेला विचरना उचित नहीं है क्योंकि अवस्था में छोटा होने के कारण वह सब के अपमान का पात्र होता है विशेषतः चोर और अन्यतीर्थिकों से उसको विशेष भय है। जो शास्त्र और अवस्था दोनों में परिपक्व है वह भी बिना कारण अकेला विहार न करे। अकेला विहार करने में गुप्ति, ईर्या और भाषा आदि में बहुत से दोष सम्भव हैं। इसलिए शास्त्रकार एकल विहार का निषेध करते हैं।

वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा, उन्नयमाणे य णरे महया मोहेण मुज्झइ, संबाहा बहवे भुज्जो भुज्जो दुरइक्कमा अजाणओ अपासओ, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेसणे, जयं विहारी चित्तणिवाई पंथणिज्झाई पलिबाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा ॥ १५७ ॥

अन्वयार्थः—(एगे) कोई (माणवा) मनुष्य (वयसा) वचन से (बुइया-चोइया) कहे हुए भी (कुप्पंति) कुपित हो जाते हैं (य) और (उन्नयमाणे) अत्यन्त मान करने वाला (णरे) मनुष्य (महया) महान् (मोहेण) मोह से (मुज्झइ) मोहित होता है। (अजाणओ) दुःखों की निवृत्ति के उपायों को न जानने वाले और (अपासओ) उन कष्टों को सहन करने के फल को न देखने वाले उक्त साधु को (भुज्जो भुज्जो) बारबार (बहवे) बहुत सी (संबाहा) बाधाएँ होती हैं (दुरइक्कमा) जिनका उल्लंघन करना उनके लिए कठिन हो जाता है। (ते) तुम को (एयं) ये बाधाएँ (मा होउ) न होवें (एयं) यह (कुसलस्स) कुशल पुरुषों का अर्थात् तीर्थंकर भगवान् का (दंसणं) दर्शन यानी अभिप्राय है। अतः (तद्दिट्ठीए) सदा आचार्य की दृष्टि में रहना चाहिए (तम्मुत्तीए) सदा विरति के साथ रहना चाहिए (तप्पुरक्कारे) आचार्य को आगे करके रहना चाहिए (तस्सण्णी) आचार्य की इच्छानुसार कार्य करना चाहिए और (तन्निवेसणे) आचार्य की

आचार्य के निकट रहना चाहिए अर्थात् सदा उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। उसे चाहिए कि (जय विहारी) यतना पूर्वक विहार करे (चित्तणिवाई) गुरु के चित्त के अनुसार क्रिया करे (पथणिज्जाई) गुरु के मार्ग को देखे अर्थात् सम्यक् प्रकार से गुरु की आराधना करे (पलिबाहिरे) गुरु की आज्ञा में रहे और (पाणे) प्राणियों को (पासिय) देखता हुआ (गच्छिज्जा) चले ॥ १५७ ॥

भावार्थः—जो पुरुष धर्म मे निपुण नहीं हैं तथा सत्य वस्तु को नही जानते है वे पुरुष तप या मयम के अनुष्ठान में भूल करने पर जब गुरु के द्वारा शिक्षा दिये जाते है तो वे गुरु के उस धर्ममय वचन से कुपित हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि—गुरु महाराज ने हमारा अपमान कर दिया। ऐसे क्रोधी और अभिमानी पुरुष गच्छ को छोड कर बाहर चले जाते हैं। जब उनके मार्ग में अनेक बाधाए उपस्थित होती हैं और परीषह उपसर्ग आते हैं तब वे घबरा जाते हैं, सयम से गिर जाते हैं और उनके शरीर की हानि की भी सभावना रहती है। इसलिए अपना आत्मकल्याण चाहने वाले साधु को चाहिए कि वह सदा आचार्य की आज्ञा में ही विचरे। उनकी आज्ञानुसार प्रवृत्ति करे। इस प्रकार गच्छ में रह कर आचार्य की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला मुनि आत्मकल्याण का भागी होता है ॥

से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विणियट्टमाणे संपलिमज्जमाणे एगया गुणसमियस्स रीयओ कायसंफासमणुचिण्णा एगइया पाणा उद्दायंति, इहलोगवेयणवेज्जावडियं, जं आउट्टीकयं कम्मं तं परिण्णाय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाएण विवेगं किट्टइ वेयवी ॥ १५८ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह साधु (अभिक्कममाणे) जाता हुआ (पडिक्कममाणे) लौटता हुआ (संकुचमाणे) अगों का संकोच करता

हुआ (पसारेमाणे) अगों को फैलाता हुआ (विणिवट्टमाणे) पापों से निवृत्त होता हुआ (संपलिमज्जमाणे) रजोहरण आदि से प्रमार्जन करता हुआ यतना पूर्वक गच्छ में निवास करे। (एगया) किसी समय (गुणसमियस्स) गुणों से युक्त तथा (रीयओ) भलीभांति क्रिया करते हुए साधु के भी (कायसंफास) काया का स्पर्श (अणुचिण्णा—समणुचिण्णा) पाकर (एगइया) कोई (पाणा) प्राणी (उद्दायति) मर जाते हैं। जो अज्ञानवश शरीर आदि के स्पर्श से प्राणियों का घात होता है उसका फल (इह लोग वेयणविज्जावडिय) इसी भव में प्राप्त होता है और (ज) जो (आउट्टीकयं कम्मं) जान बूझ कर प्राणियों का घात किया जाता है (त) उसे (परिण्णाय) ज्ञ परिज्ञा से जान कर (विवेगमेइ) प्रायश्चित्त करने से शुद्धि होती है (एव) इस प्रकार (से) उस कर्म का (वेयवी) ज्ञाता पुरुष (अप्पमाएण) अप्रमाद यानी प्रायश्चित्त के द्वारा (विवेगं) विवेक अर्थात् अभाव (किट्टइ) बताते हैं ॥ १५८ ॥

भावार्थः—गुरु की आज्ञा में रहता हुआ साधु गमनागमन शयन विहार आदि समस्त क्रियाएं यतनापूर्वक करे। इस प्रकार प्रमाद रहित होकर शास्त्रोक्त रीति से यतनापूर्वक क्रियाएं करते हुए साधु के द्वारा यदि कोई प्राणी मर जाए तो उसको कर्म-बन्ध अवश्य होता है किन्तु परिणामों के भेद से कर्मबन्ध में भेद होता है। ऐसे कर्म का बन्ध तीव्र नहीं होता क्योंकि उसका परिणाम उस प्राणी को मारने का नहीं है। उसका फल इसी भव में प्राप्त हो जाता है परन्तु यदि जान बूझ कर किसी प्राणी का घात किया गया हो तो प्रायश्चित्त के द्वारा उसकी शुद्धि होती है, यह आगम के ज्ञाता लोग बताते हैं ॥

से पभूयदंसी पभूयपरिण्णाणे उवसंते समिए सहिए सया जए, दट्ठुं विप्पडिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ ? एस से परमारामे जाओ लोगम्मि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहिं अवि णिब्बलासए अवि

ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दुइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि, से णो कहिए, णो पासणिए, णो संपसारए, से णो ममाए णो कयकिरिए वइगुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जए सया पावं, एयं मोणं समणुवासिज्जासि त्ति बेमि ॥ १५६ ॥

अन्वयार्थः—(पभूयदसी) प्रभूतदर्शी यानी कर्मों के विपाक को देखने वाला (पभूयपरिण्णाणे) प्रभूत ज्ञान वाला यानी संसार के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला (उवसते) उपशान्त अर्थात् इन्द्रिय और मन की चंचलता से रहित (समिए) समिति युक्त (सहिए) ज्ञानादि सहित (सया जए) सदा यत्न करने वाला (से) वह साधु कर्मों का अन्त करता है। (दट्ठु) स्त्री आदि के परिषह को देख कर (विप्पडिवेएइ) वह विचार करता है कि (एस जणो) यह स्त्री (अप्पाए) मेरी आत्मा की (किं) क्या हानि (करिस्सए) कर सकती है? अर्थात् संयम मे रमण करते हुए मेरा यह कुछ नहीं कर सकती। (लोगम्मि-लोगसि) लोक में (जाओ) जो (इत्थीओ) ये स्त्रिया है (एस) वे (से) उन तत्त्वज्ञ पुरुषों को भी (परमारामे) मोह मे डालने वाली है। (हु) निश्चय ही (एय) यह (मुणिणा) श्री वर्द्धमान स्वामी ने (पवेइय) कहा है। (गामधम्मेहिं) इन्द्रियों के विषयों से (उव्वाहिज्जमाणे) पीड़ित किया जाता हुआ साधु (निब्बलासए) निर्बल यानी अन्त प्रान्त आहार करे (अवि) अथवा (ओमोयरिय कुज्जा) कम आहार करे यानी ऊनोदरी तप करे (अवि) अथवा (उड्ढ) ऊँचे (ठाणं) स्थान पर (ठाइज्जा) स्थित हो जाय यानी शीत और उष्ण काल मे कायोत्सर्ग करके आतापना ले (अवि) अथवा (गामाणुगामं) ग्रामानुग्राम (दुइज्जिज्जा) विहार कर जाय (अवि) अथवा (आहार वुच्छिदिज्जा) आहार का त्याग कर दे किन्तु (इत्थीसु) स्त्रियों में (मणं)

चए) मन को न जाने दे। स्त्रीभोग में आसक्ति होने से (पुव्व) पहले तो (दण्डा) दण्ड प्राप्त होता है और (पच्छा) पीछे (फासा) नरकादि की पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं अथवा (पुव्वं) पहले (फासा) स्त्री स्पर्श होता है और (पच्छा) पीछे (दण्डा) दण्ड भोगना पड़ता है। (इच्चेए) इस प्रकार ये स्त्री सम्बन्ध (कलहासंगकरा) कलह के कारण अथवा रागद्वेष को बढ़ाने वाले (भवंति) होते हैं। अतः (पडिलेहाए) स्त्री सम्बन्ध को पूर्वोक्त अनर्थों का कारण समझ कर एवं (आगमित्ता) जान कर (अणासेवणाए) सेवन न करने की (आणविज्जा) आज्ञा दे अर्थात् सेवन न करे (त्ति बेमि) यह मै कहता हूँ। (से) वह साधु (णो कहिए) स्त्री कथा न करे (णो पासणिए) रागपूर्वक उनके अङ्ग प्रत्यंगों को न देखे (णो ममाए-णो मामए) उन पर ममत्व न करे (णो कयकिरिए) उनकी वैयावच्च न करे (वइगुत्ते) वचन से गुप्त रहे अर्थात् स्त्रियों के साथ विशेष आलापसंलाप न करे (अज्झप्पसंवुडे) स्त्रीभोगों में चित्त न दे। (सया) सदा (पावं) पाप को (परिवज्जए) वर्जित करे (एवं) इस प्रकार (मोणं) मुनिव्रत का (समणुवासिज्जासि) पालन करे (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १५६ ॥

भावार्थः—कर्मों के विपाक को देखने वाला, ससार के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला, उपशान्त, समिति युक्त, ज्ञानादि गुणो सहित और छ. काय जीवों का रक्षक मुनि शीघ्र ही कर्मों का अन्त कर देता है, ऐसे मुनि पर यदि स्त्री आदि के परीषह आवें तो भी वह अपने सयम से विचलित न होवे किन्तु सयम मे दृढ रहे। इस प्रकार सयम मे विचरण करते हुए साधु की इन्द्रियाँ यदि उसे पीडित करें तो साधु निःसार एव अन्तप्रान्त आहार करे। इससे भी यदि शान्ति न हो तो आतापना आदि लेकर शरीर को कष्ट दे। इतने पर भी यदि इन्द्रियाँ शान्त न हो तो उस गांव को छोड़ कर अन्यत्र विहार कर जाय। जब किसी प्रकार भी विषय की शान्ति न हो तो साधु आहार ग्रहण करना भी छोड दे। इस प्रकार उसके शरीर का विनाश भी हो जाय तो अच्छा है किन्तु साधु विषयसेवन

की कदापि इच्छा न करे। जो स्त्रीसङ्ग की इच्छा करता है उसको नाना प्रकार के कष्ट भोगने पडते हैं। स्त्रीलम्पट दुराचारी पुरुष इस लोक में डडो से पीटे जाते हैं और उनके हाथ पैर आदि अङ्ग काट दिये जाते हैं। यह तो इस लोक मे कष्ट होता है और परलोक मे उसे नरकादि का असह्य दुःख भोगना पडता है। अतः विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह अपने को स्त्रीसङ्ग से सदा अलग रखे, उनकी कथा न करे, उनमे ममत्व न करे और उनकी वैयावच्च आदि न करे। इस प्रकार स्त्रीसग से अपनी आत्मा की रक्षा करता हुआ शुद्ध सयम का पालन करे।

॥ इति पाँचवें अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का पाँचवां उद्देशक

चौथे उद्देशक में एकल विहार की हानियाँ बतला कर एकल विहार का निषेध किया है। पाचवें उद्देशक मे यह बताया जाता है कि साधु को सदा आचार्य के समीप ही रहना चाहिए।

से वेमि तंजहा—अवि हरए पडिपुण्णे समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पण्णाणमंता पबुद्धा आरंभोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति त्ति वेमि ॥ १६० ॥

अन्वयार्थः—(से वेमि) मे कहता हूँ (तजहा) जैसे कि (पडिपुण्णे) जल से परिपूर्ण (समंसि) सम (भोमे) भूमि भाग में (चिट्ठइ) स्थित (उवसतरए) रज से रहित (सारक्खमाणे) नाना प्रकार के जलचर जीवों की रक्षा करता हुआ (सोयमज्झगए) स्रोत के मध्य में स्थित तथा (सव्वओ) सब ओर से (गुत्ते) सुरक्षित (अवि से) कोई एक (हरए) तालाब है ऐसा (पास) देखो अर्थात् समझो इसी तरह से (लोए) लोक में (जे) जो (पण्णाणमता) ज्ञानवान् यानी आगमों के जानने वाले (पबुद्धा) प्रबुद्ध यानी वस्तु के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता एव (आरभोवरया) आरम्भ से रहित (महेसिणो) महर्षि हैं वे (सम्ममेयति) उस तालाब के समान हैं ऐसा (पासह) देखो यानी समझो। वे (कालस्स) समाधि की (कखाए) आकांक्षा करते हुए (परिव्वयति) संयम का पालन करते हैं (ति बेमि) ऐसा मे कहता हू ॥ १६० ॥

भावार्थः—यहाँ आचार्य को तालाब की उपमा दी गई है। (१) एक तालाब ऐसा होता है जिसमे से जल निकलता है और

बाहर से आता भी है। (२) दूसरा वह है जिसमे से पानी निकलता ही है किन्तु आता नही है। (३) तीसरा वह है जिसमे से पानी निकलता नही है किन्तु बाहर से पानी आता है। (४) चौथा वह है जिसमें से पानी न तो निकलता ही है और न बाहर से आता ही है। ये चार प्रकार के तालाब होते है। इसी तरह आचार्य भी चार प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी के तालाब के समान जो आचार्य ज्ञान का आदान और प्रदान दोनों करते हैं उन्हीं का यहां अधिकार है। जिस प्रकार तालाब निर्मल जल से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार आचार्य भी पाच प्रकार के आचार, आठ प्रकार की सम्पदा और ज्ञानादि से परिपूर्ण होते हैं। वे स्वय प्राणियो की रक्षा करते हैं और अहिंसा का उपदेश देकर दूसरो से भी रक्षा करवाते हैं। वे सब प्रकार से इन्द्रिय और मन की गुप्ति से रक्षित होते हैं॥

वितिगिच्छासमावरणेणं अप्पाणेणं णो लहइ समाहिं, सिया वेगे अणुगच्छंति असिता वेगे अणुगच्छंति, अणुगच्छमाणेहिं अणणुगच्छमाणे कहं ण णिव्विज्जे ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थः—(वितिगिच्छासमावरणेण अप्पाणेणं) संशययुक्त आत्मा वाला पुरुष (समाहिं) समाधि को (णो लहइ) प्राप्त नहीं कर सकता है। (एगे) कितनेक (सिया) गृहवास मे रहे हुए भी पुरुष (अणुगच्छति) आचार्य के उपदेश को मानते हैं (वा) और (एगे) कोई (असिया) गृहबन्धन से रहित पुरुष (अणुगच्छति) आचार्य के उपदेश को मानते हैं। (अणुगच्छमाणेहिं) सम्यक्त्व को स्वीकार किये हुए पुरुषों के साथ रहने वाला पुरुष (अणणुगच्छमाणे) सम्यक्त्व को स्वीकार न करता हुआ भी (कह ण णिव्विज्जे) निर्वेद को प्राप्त क्यों नही होता? ॥ १६१

भावार्थः—तप सयम रूप क्रिया के फल मे सन्देह करने वाला पुरुष समाधि को प्राप्त नही कर सकता है। कितनेक हलुकर्मी पुरुष गृहवास मे रहते हुए भी सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेते है और कितनेक पुरुष गृहवास से रहित होकर सम्यक्त्व को स्वीकार कर

आचार्य के मार्ग का अनुसरण करते हैं। जो मुनि बन कर भी आचार्य के वाक्यों को भली प्रकार समझ नहीं सकता, उसके हृदय में खेद हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे समय में गुरु को चाहिए कि वह उस मुनि को सान्त्वना दे।

तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ॥ १६२ ॥

अन्वयार्थः—(ज) जो (जिणेहिं) जिनेश्वर देवों के द्वारा (पवेइयं) कहा गया है (तमेव) वही (सच्चं) सत्य है और (णीसंकं) वही शङ्कारहित है ॥ १६२ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान ने धर्म, अधर्म आकाश और पुद्गल आदि पदार्थों का कथन किया है। वे सब सर्वथा सत्य हैं और शङ्का रहित हैं। अत: तीर्थङ्करों द्वारा कहे हुए केवल आगम के द्वारा जानने योग्य अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में "ये पदार्थ इस तरह हैं या नहीं हैं" ऐसी शङ्का कदापि न करना चाहिए क्योंकि रागद्वेष पर विजय पाये हुए तीर्थङ्कर भगवान् वीतराग सर्वज्ञ होते हैं वे मिथ्या वचन नहीं कहते हैं। उनका वचन सत्य अर्थ को बतलाने वाला और संशय रहित होता है॥

सड्ढिस्स णं समणुण्णस्स संपव्वयमाणस्स समियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ, समिय ति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ, असमियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ, असमियं ति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ, समियं ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होइ उवेहाए, असमियं ति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए, उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया उवेहाहि समियाए, इच्चेवं तत्थ संधी झोसिओ भवइ, से उट्ठियस्स ठियस्स गइं समणुपासह, इत्थवि बालभावे अप्पाणं णो उवदंसिज्जा ॥ १६३ ॥

अन्वयार्थः—(सड्ढिस्स) धर्म में श्रद्धा रखने वाले (समणुण्णस्स) प्रव्रज्या ग्रहण करने के योग्य तथा (सपव्वयमाणस्स) भली भांति प्रव्रज्या को स्वीकार करते हुए एव (समिय ति) तीर्थंकर भगवान् के कथन को सत्य (मण्णमाणस्स) मानते हुए पुरुष को (एगया) संयम स्वीकार करने के बाद भी (समिया होइ) तीर्थंकरोक्त पदार्थ सत्य ही प्रतीत होते हैं। कोई पुरुष दीक्षा धारण करते समय (समिय ति) तीर्थंकरोक्त पदार्थ को सत्य (मण्णमाणस्स) मानता हुआ भी (एगया) एकदा यानी संयम स्वीकार करने के पश्चात् (अस- मिया होइ) उसे मिथ्या मानने लग जाता है। कोई तीर्थंकरोक्त पदार्थ को पहले (असमिय ति) मिथ्या (मण्णमाणस्स) मानता हुआ भी (एगया) एकदा यानी पीछे (समिया होइ) सत्य मानने लग जाता है। कोई तीर्थंकरोक्त पदार्थ को पहले (असमिय ति) मिथ्या (मण्णमा- णस्स) मानता हुआ (एगया) एकदा यानी पीछे भी (असमिया होइ) मिथ्या ही मानता है। तीर्थङ्करोक्त पदार्थों को (समिय ति) सत्य (मण्णमाणस्स) मानते हुए पुरुष को (समिया वा) चाहे वह पदार्थ सम्यक् हो (वा) अथवा (असमिया) असम्यक् हो परन्तु (उवेहाए) वह उसमे सम्यक् बुद्धि रखता है इसलिए (समिया होइ) वह उसके लिए सम्यक् ही है। (असमिय ति) तीर्थङ्करोक्त पदार्थ को मिथ्या (मण्णमाणस्स) मानते हुए पुरुष को (समिया वा) चाहे वह पदार्थ सम्यक् हो (वा) अथवा (असमिया) असम्यक् हो परन्तु (उवेहाए) वह उसमें असम्यक् बुद्धि रखता है इसलिए (असमिया होइ) वह उसके लिए असम्यक् ही होता है क्योंकि वह उसमें मिथ्या होने की भावना रखता है। (उवेहमाणो) सत् और असत् का विचार करने वाला पुरुष (अणुवेहमाण) सत् और असत् का विचार न करने वाले पुरुष से (बूथा) कहे कि (समियाए) समभाव से (उवेहाहि) तुम पदार्थ का विचार करो (इच्चेवं) इस प्रकार (तत्थ) इसमें अर्थात् संयम मे विचार रखने पर (सधी) कर्मसन्तति (झोसिओ) नष्ट (भवइ) हो जाती है। (से) उस (उट्ठियस्स) संयम में प्रवृत्ति करने

वाले पुरुष की और (ठियस्स) संयम में प्रवृत्ति न करने वाले पुरुष की (गइ) गति को (समणुपासह-समणुपस्सह) देखो। (इत्थवि) इस (बालभावे) बालभाव रूप असंयम में (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (णो उवदंसिज्जा) मत दिखाओ अर्थात् असंयम का सेवन मत करो ॥ १६३ ॥

भावार्थः—इस सूत्र मे परिणामो की विचित्रता बतलाई गई है। वीतराग सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान् ने जो फरमाया है वह सत्य है और शङ्कारहित है इस प्रकार की मान्यता रख कर जो पुरुष प्रव्रज्या अङ्गीकार करता है, उस पुरुष के प्रव्रज्या के पश्चात् उसकी वह मान्यता अधिक हो सकती है अथवा ज्यों की त्यों रह सकती है अथवा कम हो जाती है या बिलकुल नष्ट भी हो सकती है। इस प्रकार परिणामो की विचित्रता को बतलाने के लिए चौभगी बतलाई गई है। (१) प्रव्रज्या के समय किसी पुरुष की "वही सत्य और निःशङ्क है जो सर्वज्ञ तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है" ऐसी सम्यक् श्रद्धा होती है और पीछे भी सम्यक् ही श्रद्धा रहती है। (२) किसी की श्रद्धा प्रव्रज्या के समय तो सम्यक् होती है किन्तु पीछे असम्यक्-मिथ्या हो जाती है। (३) किसी पुरुष की श्रद्धा पहले तो असम्यक् (मिथ्या) होती है किन्तु प्रव्रज्या के बाद उसकी श्रद्धा सम्यक् हो जाती है। (४) किसी पुरुष की श्रद्धा पहले भी असम्यक् होती है और पीछे भी असम्यक् ही रहती है।

इसका निष्कर्ष बतलाते हुए शास्त्रकार फरमाते हैं कि जिस पुरुष की श्रद्धा सम्यक् है और उसमे किसी प्रकार की शङ्का नहीं रखता हुआ उसको वैसा ही सम्यक् होने की भावना रखता है वह वस्तु सम्यक् हो या असम्यक् हो उसकी उसमें सम्यक् भावना होने के कारण उसके लिए वह सम्यक् ही है अर्थात् उसको असम्यक् रूप से ही परिणमती है। जो पुरुष किसी वस्तु को असम्यक् मानता है वह वस्तु सम्यक् हो या असम्यक् हो उसके लिए वह असम्यक् ही है अर्थात् असम्यक् रूप से ही परिणमती है क्योंकि उसमें उसकी असम्यक् भावना-बुद्धि है।

सयम मे उद्योग करने वाले पुरुष की श्रेष्ठ गति को और सयम मे शिथिलता करने वाले तथा असंयम मे प्रवृत्ति करने वाले पुरुष की बुरी गति को देख कर विवेकी पुरुष को चाहिए कि वह अपनी आत्मा को असयम में प्रवृत्त न होने दे और सयम मे किञ्चिन्मात्र भी शिथिलता न करते हुए एक क्षण भर भी प्रमाद न करे ॥

तुमंसि णाम तं चेव जं हंतव्वंति मएणसि, तुमंसि णाम तं चेव जं अज्जावेयव्वं ति मएणसि, तुमंसि नाम तं चेव जं परियावेयव्वंति मएणसि, एवं जं परिघेत्तव्वति मएणसि, जं उद्दवेयव्वंति मएणसि, अंजू चेयं पडिबुद्धजीवी, तम्हा ण हंता णवि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं णाभिपत्थए ॥ १६४ ॥

अन्वयार्थः—(ज) जिसको (हंतव्व ति मएणसि) तुम मारने के योग्य मानते हो, मान लो कि (त चेव—सच्चेव) वह (तुमसि णाम) तुम ही हो। (ज) जिसको (अजावेयव्व ति मएणसि) तुम आज्ञा देने योग्य समझते हो, मान लो कि (त चेव—सच्चेव) वह (तुमसि णाम) तुम ही हो। (ज) जिसको (परियावेयव्वति मएणसि) तुम परिताप देने योग्य मान रहे हो, मान लो कि (त चेव सच्चेव) वह (तुमसि णाम) तुम ही हो। (एव) इसी तरह (ज) जिसको (परिघेतव्व ति मएणसि) तुम परिग्रह रूप से रखना चाहते हो (च) और (ज) जिसको (उद्दवेयव्वति मएणसि) तुम उपद्रव करने योग्य समझते हो मान लो कि वह तुम ही हो। (अजू) सरल स्वभाव वाला साधु (एय पडिबुद्धजीवी) उपरोक्त विवेक पूर्वक अपना संयमजीवन व्यतीत करता है। (तम्हा) इसलिए (ण हता) किसी प्राणी का घात न करे और (ण वि घायए) न दूसरों से करवावे तथा अनुमोदन भी न करे। (ज) क्योंकि (अप्पाणेण) अपनी आत्मा को ही अर्थात् हिंसा करने वाले पुरुष को ही (अणुसवेयण) प्राणियों की हिंसा का दुःखरूप फल भोगना पड़ता है यह जान कर (हतव्वं) किसी को मारने की (णाभि-

पत्थए, इच्छा न करे ॥ १६४ ॥

भावार्थः—हिंसक को हिंसा से निवृत्त होने के लिए उपदेश देते हुए शास्त्रकार फरमाते हैं कि—तुम जिस जीव को कष्ट देने योग्य, परिताप उपजाने योग्य यावत मारने योग्य समझते हो वह प्राणी तुम्हारे समान ही शिर, पैर, पीठ, और पेट वाला है। यदि कोई प्राणी तुम्हें दुःख देवे यावत् मारने के लिए आता हो तो उसे देख कर जिस प्रकार तुम्हें दुःख होता है उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी होता है। अथवा जिस काय को तुम हनन करने योग्य मानते हो उस काय में तुमने हजारों वार जन्म धारण किया है इसलिए यह समझो कि वह तुम ही हो। इस प्रकार विचार कर जो पुरुष समस्त जीवों को आत्मतुल्य समझता है वही श्रेष्ठ है। जो जीवों की हिंसा की जाती है उसका फल स्वयं जीव को ही भोगना पड़ता है। अतः किसी भी प्राणी की स्वयं घात न करे, न दूसरों से करवावे और करने वालों की अनुमोदना भी न करे ॥

जे आया से विण्णाया जे विण्णाया से आया, जेण वियाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए त्ति बेमि ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (आया) आत्मा है (से) वही (विण्णाया) विज्ञाता है और (जे) जो (विण्णाया) विज्ञाता है (से) वही (आया) आत्मा है। (जेण) जिससे (वियाणइ) पदार्थों को जानता है (से) वह (आया) आत्मा है। (तं पडुच्च) उस ज्ञान परिणाम के कारण (पडिसंखाए) आत्मा ज्ञानवान् कहा जाता है। (एस) जो ज्ञान से अभिन्न आत्मा को मानता है वही (आयावाई) आत्मवादी है। उस पुरुष का (समियाए) सम्यक् (परियाए) पर्याय (वियाहिए) कहा गया है (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १६५ ॥

भावार्थः—ज्ञान आत्मरूपी द्रव्य का पर्याय है इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि 'जे आया से विण्णाया' अर्थात् नित्य और

उपयोग रूप जो आत्मा है वही विज्ञाता है अर्थात् वस्तुओ को जानने वाला भी वही है किन्तु उस आत्मा से भिन्न ज्ञान पदार्थ का ज्ञाता नहीं है और जो पदार्थों को जानने वाला उपयोग है, आत्मा भी वही है क्योकि जीव का लक्षण उपयोग है और उपयोग ज्ञान रूप है। इस प्रकार ज्ञान और आत्मा का अभेद सम्बन्ध है। यह आत्मा ज्ञान परिणाम के कारण मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी आदि कहा जाता है। इस प्रकार जो पुरुष ज्ञान और आत्मा को अभिन्न जानता है वही आत्मवादी है। अतएव उसका संयमानुष्ठान सम्यक् है ॥

॥ इति पाँचवें अध्ययन का पाँचवाँ उद्देशक समाप्त ॥

पाँचवें अध्ययन का छठा उद्देशक

पाँचवें उद्देशक में कहा गया है कि आचार्य को तालाब के समान होना चाहिए। अब छठे उद्देशक में यह बतलाया जाता है कि ऐसे आचार्य के सम्पर्क से ही कुमार्ग का त्याग और रागद्वेष की हानि होती है।

अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे णिरुवट्ठाणा, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे ॥ १६६॥

अन्वयार्थः—(एगे) कितनेक पुरुष (अणाणाए) तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा से विरुद्ध (सोवट्ठाणा) प्रवृत्ति करते हैं और (एगे) कितनेक (आणाए) तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा के अनुसार (णिरुवट्ठाणा) आचरण नहीं करते हैं। गुरु कहते हैं कि हे शिष्य ! (एयं) यह (ते) तुम में (मा होउ) न हो। (एयं) यह (कुसलस्स) तीर्थङ्कर भगवान् का (दंसणं) अभिप्राय है। अत (तद्दिट्ठीए) आचार्य की दृष्टि एव आगम की दृष्टि के और (तम्मुत्तीए) उनके द्वारा उपदेश की हुई मुक्ति के अनुसार तथा (तप्पुरक्कारे) आचार्य को आगे करके (तस्सण्णी) उनके विचारों के अनुसार (तण्णिवेसणे) उनके निकट निवास करना चाहिए ॥ १६६ ॥

भावार्थः—कितनेक अज्ञानी पुरुष तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा की अवहेलना करके कुमार्ग में प्रवृत्ति करते हैं और कितनेक पुरुष कुमार्ग में प्रवृत्ति तो नहीं करते किन्तु आलसी होने के कारण सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट मार्ग में प्रवृत्ति भी नहीं करते हैं। ये दोनों ही बातें दुर्गति का कारण हैं। अत उन दोनों बातों का त्याग करके सर्वज्ञ भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलना चाहिए और गुरु महा-

राज की आज्ञा का सदा पालन करना चाहिए ॥

अभिभूय अदक्खू अणभिभूए पभू णिरालंबणयाए जे महं अबहिंमणे, पवाएण पवायं जाणिज्जा, सहसम्मइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सुच्चा ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो पुरुष (मह) महान् यानी लघुकर्मी है तथा (अबहिंमणे) जिसका चित्त तीर्थङ्कर की आज्ञा के बाहर नहीं है तथा (अभिभूय) परीषह उपसर्गों को जीत कर जिसने (अदक्खू) तत्त्व को देखा है तथा जो पुरुष (अणभिभूए) परीषह उपसर्गों द्वारा पराजित नहीं हुआ है वह (णिरालंबणयाए) निरालम्ब रहने में (पभू) समर्थ होता है। (पवाएण) सर्वज्ञ के वाक्य से (पवाय) अन्यतीर्थियों के वाक्य की (जाणिजा) परीक्षा करे। (सहसम्मइयाए) अपनी बुद्धि से अथवा (परवागरणेण) आगम से (वा) अथवा (अण्णेसिं अंतिए) दूसरों के पास से (सुच्चा) सुन कर वस्तु स्वरूप को जाने ॥ १६७ ॥

भावार्थः—जो पुरुष परीषह उपसर्गों द्वारा तथा अन्यतीर्थियो द्वारा पराजित नहीं होता है वही पुरुष निरवलम्ब रहने मे समर्थ होता है क्योंकि वह यह जानता है कि इस जगत् में माता पिता और स्त्री पुत्र आदि कोई भी दुर्गति मे जाते हुए जीव की रक्षा नहीं कर सकते हैं, केवल तीर्थङ्कर भगवान् के वचनों का आचरण करने से ही दुर्गति से रक्षा हो सकती है ऐसा जान कर मोक्षार्थी पुरुष को तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा मे ही अपना मन लगाना चाहिए और अन्यतीर्थियों की अणिमा आदि सिद्धियों को देख कर भी तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा से बाहर मन नहीं लगाना चाहिए। तीर्थङ्कर भगवान् के वचनो द्वारा अन्यतीर्थियो के मत की परीक्षा करे और वस्तु तत्त्व को समझे।

णिद्देसं णाइवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिय सव्वओ सव्वयाए सम्ममेव समभिजाणिया इह आरामं परिण्णाय अल्लीण-

गुत्तो परिव्वए णिट्ठियट्ठी वीरे आगमेणं सया परक्कमेज्जासि त्ति बेमि ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थः—(मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (सुपडिलेहिय) अन्यतीर्थियों के सिद्धान्त को भली प्रकार जान कर तथा (सव्वओ) सब प्रकार से एव (सव्वयाए-सव्वप्पणा) सामान्य विशेष रूप से (सम्मसेव-सम्म) सम्यक् (समभिजाणिया-समभिण्णाय) जान कर (णिद्देस) सर्वज्ञ की आज्ञा का (णाइक्केज्जा) उल्लघन न करे। (इह) इस मनुष्य लोक में (आराम) संयम को (परिण्णाय) स्वीकार करके (अल्लीणगुत्तो) उसमें लीन होकर तथा पाप से आत्मा की रक्षा करता हुआ मुनि (परिव्वए) सयम का पालन करे। (णिट्ठियट्ठी) मोक्षार्थी (वीरे) वीर यानी कर्मों के विदारण करने में समर्थ पुरुष (सया) सदा (आगमेण) सर्वज्ञ प्रणीत आगम के द्वारा (परक्कमेज्जासि) पराक्रम करे अर्थात् आगमानुसार सयम का पालन करे (त्ति बेमि) ऐसा म कहता हूँ ॥ १६८ ॥

भावार्थः—बुद्धिमान् पुरुष अन्यतीर्थियों के मत को भली प्रकार जान कर उसका त्याग कर दे और तीर्थंकर भगवान् के मार्ग का अनुसरण करे। सयम स्वीकार करके अपनी इन्द्रियों और मन को वश में रखता हुआ मुनि कर्म रूपी शत्रुओं पर अपना पराक्रम दिखावे।

उड्ढं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया। एए सोया वियक्खाया, जेहिं संगं ति पासह ॥

अन्वयार्थः—(सोया) कर्मों के आश्रवद्वार (उड्ढ) ऊपर भी हैं और (सोया) कर्मों के आश्रवद्वार (अहे) नीचे भी हैं तथा (सोया) कर्मों के आश्रवद्वार (तिरिय) तिर्छी दिशा में भी (वियाहिया) कहे गए हैं। (एए) ये (सोया) कर्मों के स्रोत यानी आश्रवद्वार (वियक्खाया) कहे गये हैं (जेहिं) जिन से (सग) प्राणियों को कर्मबन्ध होता है (इइ) यह (पासह) देखो ॥

भावार्थः—ऊपर नीची और तिर्छी अर्थात् सब दिशाओ मे कर्मों के स्रोत यानी आश्रवद्वार हैं। जो उनमे आसक्त होता है उस प्राणी को कर्मों का बन्ध होता है। अत विवेकी पुरुष को चाहिए कि आस्रवो मे आसक्त न होता हुआ शास्त्रोक्त रीति से पराक्रम करे ॥

आवट्टं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज वेयवी, विणइत्तु सोयं णिक्खम्म एसमहं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए णावकंखइ इह आगइं गइं परिण्णाय ॥ १६६ ॥

अन्वयार्थः—(वेयवी) आगम को जानने वाला पुरुष (आवट्ट—आवट्टमेय) आवर्त्त को (पेहाए—उवेहाए) देख कर (इत्थ) उससे (विरमिज्ज) निवृत्त हो जाय। (सोयं) आश्रवद्वार को (विणइत्तु) दूर करने के लिए (णिक्खम्म) प्रव्रज्या धारण करके (एस) यह पुरुष (मह) महान् और (अकम्मा) कर्म रहित होकर (जाणइ) पदार्थों को जानता है और (पासइ) देखता है। (पडिलेहाए) वह संसार को असार जान कर तथा (गइ) प्राणियो की गति और (आगइ) आगति को (परिण्णाय) जान कर (णावकखइ) संसार भ्रमण के कारण की इच्छा नही करता है ॥ १६६ ॥

नोटः—किसी किसी प्रति में 'इत्थ विरमिज्ज वेयवी' की जगह 'विवेग किट्टइ वेयवी' ऐसा पाठ भी पाया जाता है। जिसका अर्थ है —आगम को जानने वाला पुरुष आश्रवों के निरोध से कर्मों का अभाव बताता है।

भावार्थः—आगमो के रहस्य को जानने वाला पुरुष आस्रवो का निरोध करने के लिए प्रव्रज्या धारण करके शुद्ध सयम का पालन करता है। वह पूजा प्रतिष्ठा की इच्छा नही करता है। वह भवभ्रमण के कारणो को जान कर उनका त्याग कर देता है। ऐसा महापुरुष घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान उपार्जन करता है और समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्धपद को प्राप्त करता है ॥

अच्चेइ जाइमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का तत्थ ण विज्जइ, मई तत्थ ण गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयण्णे, से ण दीहे ण हस्से ण वट्टे ण तंसे ण चउरंसे ण परिमंडले, ण किण्हे ण नीले ण लोहिए ण हालिद्दे ण सुक्किल्ले, ण सुरभिगंधे ण दुरभिगंधे, ण तित्ते ण कडुए ण कसाए ण अंबिले ण महुरे ण लवणे, ण कक्खडे ण मउए ण गुरुए ण लहुए ण सीए ण उण्हे ण णिद्धे ण लुक्खे ण काऊ ण रुहे ण संगे, ण इत्थी ण पुरिसे ण अण्णहा, परिण्णे सण्णे, उवमा ण विज्जइ, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं णत्थि ॥ १७० ॥

अन्वयार्थः—आश्रव द्वारों का निरोध करने वाला पुरुष (जाइमरणस्स) जन्म मरण के (वट्टमग्ग) मार्ग को (अच्चेइ) उल्लङ्घन कर जाता है तथा वह (विक्खायरए) निख्यातरत यानी मोक्ष में रमण करने वाला होता है। वह मोक्ष स्थित जीव कैसा है ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार फरमाते हैं कि (सव्वे) सब (सरा) स्वर यानी शब्द (णियट्टंति) उससे निवृत्त हो जाते हैं (तत्थ) वहां पर (तक्का) तर्क की भी (ण विज्जइ) प्रवृत्ति नहीं है और (मई) मति (तत्थ) उसको (ण गाहिया) ग्रहण कराने वाली नहीं है। (अप्पइट्ठाणस्स) मोक्षस्थ जीव (ओए) सम्पूर्ण कर्म मल रहित अकेला (खेयण्णे) सम्पूर्ण ज्ञानमय सदा विराजित होता है। (से) वह (ण दीहे) न तो दीर्घ होता है और (ण हस्से) न ह्रस्व होता है। (ण वट्टे) वह न तो गोल होता है और (ण तंसे) न त्रिकोण (ण चउरंसे) न चतुष्कोण और (ण परिमंडले) न मण्डलाकार होता है। (ण किण्हे) वह न कृष्ण होता है (ण णीले) न नील (ण लोहिए) न लाल (ण हालिद्दे) न हारिद्र और (ण सुक्किल्ले) न शुक्ल—सफेद होता है। (ण सुरभिगंधे) वह न सुगन्ध वाला होता है और (ण दुरभिगंधे) न दुर्गन्ध वाला होता है। (ण तित्ते) वह न तिक्त होता है (ण कडुए) न कटु (ण कसाए) न कसैला (ण अंबिले) न खट्टा और (ण महुरे)

न मधुर होता है। (न लवणे) न नमकीन होता है (ण कक्खडे) वह न कर्कश होता है (ण मउए) न मृदु होता है (ण गुरुए) न भारी होता है (ण लहुए) न हल्का होता है (ण उण्हे) न उष्ण होता है (ण सीए) न शील होता है (ण णिद्धे) न स्निग्ध-चिकना होता है और (ण लुक्खे) न रूत्त होता है। (ण काऊ) वह न शरीरी अथवा लेश्यावान् होता है (ण रूहे) न जन्मने वाला होता है (ण सगे) न सङ्ग वाला होता है। (ण इत्थी) न स्त्री होता है (ण पुरिसे) न पुरुष होता है और (ण अण्णहा) न अन्यथा यानी नपुसक होता है। (परिण्णे) वह समस्त पदार्थों को विशेष रूप से जानता है (सण्णे) वह समस्त पदार्थों को सामान्य रूप से भी भलीभाति जानता है (उवमा) उसकी कोई उपमा (ण विज्जइ) नहीं है। (अरूवी सत्ता) वह रूप रहित सत्ता है। (अपयस्स) उस वचनागोचर के लिए (पय) कोई वाचक शब्द (णत्थि) नही है ॥ १७० ॥

भावार्थः—इस ससार मे जन्म मरण का कारण कर्म है। जो पुरुष जन्म मरण के कारणभूत कर्मों का सर्वथा त्तय कर डालता है वह मोत्त पद को प्राप्त करता है। वह पुरुष जिस मोत्त अवस्था को प्राप्त करता है उसको शब्द के द्वारा प्रकट करना शक्य नहीं है। वह तर्क का भी विषय नही है, औत्पत्तिकी आदि चार प्रकार की मति उसको ग्रहण करने मे समर्थ नही है, वह समस्त विकल्पो से अतीत है। उस परमपद रूप मोत्त मे स्थित पुरुष अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन सम्पन्न होता है। वह न लम्बा न छोटा न गोल न त्रिकोण न चतुष्कोण और न परिमण्डल होता है। वह न काला न नीला न लाल न पीला और न सफेद होता है। वह न सुगंध और न दुर्गंध वाला होता है। वह न तिक्त न कडवा न कसैला न खट्टा और न मीठा होता है। वह न कठोर न कोमल न हल्का न भारी न ठण्डा न गर्म न चिकना और न रूत्त होता है। वह न लेश्या वाला होता है और न शरीरधारी होता है तथा न पुनर्जन्म वाला होता है अर्थात् मुक्त जीव पुनर्जन्म रहित होता है, वह अमूर्त होने के कारण असङ्ग होता है। वह न स्त्री, न पुरुष और न नपु सक होता है। वह अनन्त सुख मे विराजमान है। उसके सुख की तुलना भी नही है जिससे वह उपमा के द्वारा भी जाना जा सके। मुक्तात्मा

की सत्ता रूपरहित है। उस आत्मा की कोई स्थूल अवस्था नहीं होती है इसलिए उनका वाचक कोई पद नहीं है। तात्पर्य यह है कि पदों के द्वारा जिनका कथन किया जाता है उनमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि में से कोई आश्रय होता है परन्तु मुक्तात्मा मे इन सब का अभाव है ॥

से ण सद्दे ण रूवे ण गंधे ण रसे ण फासे इच्चेयावंति त्ति बेमि ॥ १७१ ॥

अन्वयार्थः--(से) वह मुक्त जीव (ण सद्दे) न शब्द है (ण रूवे) न रूप है (ण गंधे) न गन्ध है और (ण फासे) न स्पर्श है। (इच्चेयावति) ये इतने ही वस्तु के भेद हैं किन्तु मुक्त जीव में इनमें से कुछ भी नहीं पाया जाता है (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥

भावार्थः—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल के गुण हैं अर्थात् यह सब पुद्गल-जड मे ही पाये जाते है किन्तु मुक्त जीव मे इन मे से कुछ भी नहीं पाया जाता है इसलिए उसका वाचक कोई शब्द नहीं है। उसकी अवस्था शब्दो द्वारा अवर्णनीय है ॥

॥ इति लोकसार नामक पाँचवाँ अध्ययन समाप्त ॥

धूताख्य नामक छठा अध्ययन

प्रथम उद्देशक

पाँचवें अध्ययन मे लोक में सार भूत सयम और मोक्ष का वर्णन किया गया है। वह मोक्ष निःसङ्ग हुए विना और कर्मों का क्षय किये विना नहीं होता है। इसलिए इन विपयो का प्रतिपादन करने के लिए छठे अध्ययन का आरम्भ किया जाता है। इस अध्ययन में कर्मों के विधूनन का यानी क्षय करने का उपदेश है इसलिए इसका नाम 'धूत' अध्ययन है।

ओवुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ से णरे, जस्स इमाओ जाइओ सव्वओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आघाइ से णाणमणेलिसं, से किट्टइ तेसिं समुट्ठियाणं णिक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पण्णाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं एवं एगे महावीरा विप्परक्कमंति, पासह एगे अवसीयमाणे अणत्तपण्णे से बेमि, से जहा वि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते पच्छण्णपलासे उम्मग्गं से णो लहइ भंजगा इव सण्णिवेसं णो चयंति एवं एगे अणेगरूवेहिं कुलेहिं जाया रूवेहिं सत्ता कलुणं थणंति णियाणओ ते ण लहंति मुक्खं, अह पास तेहिं कुलेहिं आयत्ताए जाया।

गंडी अहवा कोढी, रायंसी अवमारियं। काणियं झिमियं चेव, कुणियं खुज्जियं तहा॥
उदरिं य पास मूयं च, सूणीयं य गिलासणिं। वेवइं पीढसप्पिं य, सिलिवयं महुमेहणिं॥

सोलस एए रोगा, अक्खाया अणुपुव्वसो। अह णं फुसंति आयंका, फासा य असमंजसा ॥
मरणं तेसिं संपेहाए उववायं चवणं य णच्चा परियागं य संपेहाए ॥ १७२—१७६ ॥

अन्वयार्थः—(ओबुज्झमाणे) स्वर्ग और मोक्ष तथा उनके कारणों को एवं संसार और उसके कारणों को जानने वाला (से) वह (णरे) मनुष्य (इह) इस मनुष्य लोक में (माणवेसु) मनुष्यों के प्रति (आघाइ) धर्म का उपदेश करता है। (जस्स) जिस मनुष्य को (इमाओ) ये (जाइओ) एकेन्द्रिय आदि जातियां (सव्वओ) सब प्रकार से (सुपडिलेहियाओ) अच्छी तरह ज्ञात (भवति) होती हैं (से) वह (अणेलिस) अनुपम (णाणं) ज्ञान एवं धर्म का (आघाइ) कथन करता है। (समुट्ठियाण) धर्माचरण करने के लिए तत्पर (णिक्खित्त-दण्डाण) प्राणियों को दण्ड देने का त्याग किये हुए (समाहियाणं) तप और संयम में प्रवृत्त और (पण्णाणमंताणं) उत्तम ज्ञान सम्पन्न (तेसिं) उन पुरुषों को (से) वे तीर्थङ्कर या गणधर आदि (मुत्तिमग्ग) मुक्तिमार्ग का (किट्टइ) उपदेश करते हैं। (एव) इस प्रकार तीर्थङ्कर आदि के उपदेश को सुन कर (एगे) कोई (महावीरा) महान् वीर पुरुष (इह) इस लोक मे (विप्परक्कमंति) कर्म रूपी शत्रुओं पर पराक्रम करते हैं। (अवसीयमाणे) संयम में क्लेश पाते हुए (अणत्तपण्णे) आत्मकल्याण की बुद्धि से रहित (एगे) किन्हीं पुरुषों को (पासह) देखो। वे संयम के अनुष्ठान में जिस कारण से क्लेश पाते हैं (से) उसे (बेमि) मै बताता हूँ। (जहा वि) जैसे (पच्छण्णपलासे) कमल के पत्तों से ढँके हुए (हरए) तालाव में (विणिविट्ठचित्ते) अपने चित्त को लगाया हुआ (कुम्मे) कछुआ (से) उसके (उम्मग्ग) ऊपर आने के लिए विवर को (णो लहइ) प्राप्त नही करता है तथा (भंजगा इव) जैसे वृक्ष (सण्णिवेसं) अपने स्थान को (णो चयंति) नही छोड़ते हैं (एव) इसी तरह (एगे) कोई पुरुष (अणेगरूवेहिं) अनेक प्रकार के (कुलेहिं) कुलों में (जाया) उत्पन्न हुए (रूवेहिं) रूपों में अर्थात् विषयों में (सत्ता)

आसक्त हुए (कलुणं थणति) करुण रुदन करते हैं किन्तु (ते) वे (णियाणओ) अपने कर्म से (मुक्ख) मुक्ति यानी छुटकारा (ण लहति) प्राप्त नहीं करते हैं। (अह) अब (तेहिं) उन (कुलेहिं) कुलों में (आयताए) अपने कर्मों का फल भोगने के लिए (जाया) उत्पन्न हुए पुरुषों को (पास) देखो। (गंडी) कोई गण्डी अर्थात् गण्डमाला के रोग से युक्त हैं (अदुवा) और (कोढी) कोई कोढी हैं (रायसी) कोई राज-यक्ष्मा यानी क्षय रोग वाले और (अवमारिय) कोई अपस्मार यानी मृगी रोग युक्त होते हैं। (काणिय) कोई काणा (तहा) और (झिमिय) कोई जड़ (कुणिय) कोई हस्तकटा यानी एक हाथ कटा हुआ और एक पैर कटा हुआ (चेव) और (खुज्जियं) कोई कुबड़ा होता है। (उदरिं) कोई वात व्याधि के कारण बड़ा पेट वाला (मूय) कोई मूक-गूगा (सूणीय) कोई शोथयुक्त शरीर वाला (य) और (गिलासणिं) कोई भस्मक रोग से युक्त होता है। (वेवइ) कोई कम्प युक्त शरीर वाला (पीढसप्पिं) कोई पीठसर्पि यानी पीठ के बल रेंग कर चलने वाला एव हाथ में लकड़ी पकड़ कर चलने वाला (सिलिवय) कोई श्लीपद रोग से युक्त (य) और (महुमेहणिं) कोई मधु-प्रमेह रोग से युक्त होता है। (एए) ये (सोलस) सोलह (रोगा) रोग (अणुपुव्वसो) क्रमशः (अक्खाया) कहे गये हैं (पास) इन्हे देखो। (अह) ये (आयका) आतङ्क और (असमजसा) जीवन को शीघ्र नष्ट करने वाले शूल आदि रोग (य) और (फासा) दूसरे दुःख (फुसंति) प्राणियों को उत्पन्न होते हैं। (तेसिं) उनके (मरण) मरण को (सपेहाए) देख कर (य) और (उववाय) उत्पत्ति (य) तथा (चवण) च्यवन को (णच्चा) जान कर तथा (परियाग) कर्मों के परिणाम को (सपेहाए) देख कर ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे पूर्वोक्त रोगों का स्थान और दुःखों का भाजन न होना पड़े ॥ १७२—१७६ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान्, सामान्य केवली अथवा दूसरे अतिशय यानी या श्रुतकेवली धर्मोपदेश देते हैं। यद्यपि ये

सामान्यत समस्त प्राणियों के लिए धर्म का उपदेश करते हैं तथापि जो लोग धर्म के प्रति रुचि रखते हैं वे हलुकर्मी जीव ही उनका उपदेश सुन कर धर्माचरण करने के लिए तत्पर होते हैं। किन्तु जो लोग धर्माचरण करने मे प्रमाद करते हैं उनकी बुद्धि आत्मकल्याण करने वाली नहीं है। इस विषय को समझाने के लिए शास्त्रकार ने कछुवे का दृष्टान्त दिया है। जैसे कि—किसी स्थान मे एक सरोवर था। वह लाख योजन का विस्तार वाला था। वह शैवाल और लताओं से ढँका हुआ था। दैवयोग से सिर्फ एक स्थान में एक इतना छोटा सा छिद्र था जिसमें कछुए की गर्दन बाहर निकल सके। उस तालाब का एक कछुआ अपने समूह से भ्रष्ट होकर अपने परिवार को ढूँढने के लिए अपनी गर्दन को ऊपर उठा कर घूम रहा था। दैवयोग से उसकी गर्दन उसी छिद्र मे पहुँच गई तब उसने आकाश की शोभा को देखा। आकाश में निर्मल चादनी छिटक रही थी जिससे ऐसा मालूम पड़ता था कि क्षीरसागर का निर्मल प्रवाह बह रहा है और उसमे तारागण विकसित कमल के समान दिखाई पड़ते थे। आकाश की ऐसी शोभा को देख कर उस कछुवे ने सोचा कि—इस अपूर्व दृश्य को यदि मेरा परिवार भी देखे तो अच्छा हो। ऐसा सोच कर वह अपने परिवार को ढूंढने के लिए फिर तालाब मे घुसा जब उसे उसका परिवार मिल गया तो उस छिद्र-विल को ढूंढने के लिए निकला परन्तु वह छिद्र उसको फिर नहीं मिला। आखिर उस छिद्र को ढूंढते ढूंढते वह मर गया।

यह कछुवे का दृष्टान्त है। इसका दार्ष्टान्तिक यह है कि—यह ससार एक सरोवर है। जीव रूपी कछुवा है जो कर्मरूपी शैवाल से ढँका हुआ है। किसी समय मनुष्य भव, आर्यक्षेत्र उत्तम कुल और सम्यक्त्व की प्राप्ति रूपी अवकाश को प्राप्त करके भी मोह के उदय से अपने परिवार के लिए विषयभोग उपार्जन में ही अपने जीवन को समाप्त करके फिर ससार में भ्रमण करने लगता है। उसको फिर यह सुयोग मिलना बड़ा कठिन है। अतः सैकड़ों जन्मों मे भी दुर्लभ सम्यक्त्व को प्राप्त करके मनुष्य को एक क्षण भर भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

दूसरा दृष्टान्त वृक्ष का है। जैसे वृक्ष सर्दी, गर्मी, कम्प, शाखाछेदन आदि उपद्रवों को सहन करता हुआ भी कर्मपरवश होने से

अपने स्थान को नहीं छोड सकता है। इसी प्रकार भारीकर्म जीव धर्माचरण योग्य सामग्री के प्राप्त होने पर भी विषयो मे आसक्त होकर नाना प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख भोगते हुए करुण रुदन करते हैं फिर वे उन दुःखों के कारणभूत विषयों को एव गृह-वास को छोडते हैं। दुःख का कारण कर्म हैं उनके रहते हुए दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता है। इस ससार मे अपने किये हुए कर्मों के फल को भोगने के लिए गण्डमाला, मूर्छा, कोढ, मृगी आदि नाना प्रकार के रोगों से पीडित होते रहते हैं। अत शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि हे भव्य जीवो! गृहवास एव विषयभोगों मे आसक्त रहने वाले प्राणियो को नाना प्रकार के रोगो से पीडित देख कर तथा वारवार जन्म मरण के दुःखों को विचार कर ऐसा कार्य करो जिससे इन रोगों का शिकार न बनना पडे और जन्म मरण के चक्कर से छुटकारा हो जाय ॥

तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया, तामेव सइमसइमइयच्च उच्चावयफासे पडिसंवेएइ, बुद्धेहिं एयं पवेइयं संति पाणा वासगा रसगा उदए उदएचरा आगासगामिणो पाणा पाणे किलेसंति, पास लोए महब्भयं।१७७।

अन्वयार्थः—(त) उसको यानी कर्म के फल को (जहा) जेसा है (तहा) वैसा (सुणेह) सुनो। (अधा) नेत्रहीन और (तमसि) अन्धकार में अर्थात् नरकगति आदि द्रव्य अन्धकार में और मिथ्यात्वादि भाव अन्धकार में रहे हुए (पाणा) जो प्राणी (वियाहिया) कहे गये (सति) हैं। वे (तामेव) उसी अवस्था को (सइ) एक वार और (असइं) अनेक वार (अइयच्च) प्राप्त करके (उच्चावय) तीव्र और मन्द (फासे) दुःखों को (पडिसंवेएइ) भोगते हैं (एय) यह (बुद्धेहिं) सर्वज्ञ पुरुषों ने (पवेइय) कहा है। (वासगा) भाषा लब्धि से युक्त यानी बेइन्द्रियादि प्राणी (रसगा) कडवे कसैले रसों को जानने वाले अर्थात् संज्ञी (उदए) अप्काय के जीव (उदएचरा) जल में निवास करने

वाले जलचर और (आगासगामिणो) आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदि (पाणा) प्राणी (संति) हैं। (पाणा) वे प्राणी (पाणे) एक दूसरे प्राणी को (किलेसति) क्लेश देते हैं। इस प्रकार (लोए) लोक में (महब्भय) महान् भय को (पास) देखो ॥ १७७ ॥

भावार्थः—इस जगत् में प्राणियों को महान् दुःख होता है। नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देव इन चारों गतियों में पड़े हुए प्राणी अपने अपने कर्मों के फल को भोगने के लिए नाना प्रकार की वेदनाएँ सहन करते हैं। कोई जन्म से ही अन्धा होकर अनेकविध कष्टों को भोगता है और कोई नेत्रयुक्त होकर भी सम्यक्त्व रूपी भाव नेत्र से हीन होता है। कोई नरकगति आदि अन्धकार में पड़ा हुआ है तो कोई मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय आदि भाव अन्धकार में पड़ा हुआ है। यह भाव अन्धकार प्राणियों के लिए महान् दुःखदायी है। उसमें पड़े हुए प्राणी दूसरे प्राणियों का घात करते हैं। इस प्रकार संसार महान भय का स्थान है, यह जान कर जीव को इससे पार जाने के लिए शीघ्र ही ज्ञान दर्शन चारित्र का आश्रय लेना चाहिए॥

बहुदुक्खा हु जंतवो, सत्ता कामेसु माणवा, अबलेण वहं गच्छति सरीरेण पभंगुरेण अट्टे से बहुदुक्खे इइ बाले पकुव्वइ एए रोगा बहू णच्चा आउरा परियावए णालं पास, अल तव एएहि, एयं पास मुणी! महब्भयं णाइवाइज्ज कंचणं ॥ १७८ ॥

अन्वयार्थः—इस ससार में (जंतवो) प्राणी (हु) निश्चय ही (बहुदुक्खा) बहुत दुःखों से युक्त हैं। (माणवा) मनुष्य (कामेसु) कामभोगों में (सत्ता) आसक्त हैं। वे (अबलेण) बल रहित (पभंगुरेण) क्षणभंगुर (सरीरेण) शरीर के कारण (वहं) वध को (गच्छति) प्राप्त होते हैं अर्थात् प्राणियों का वध करते हैं। (अट्टे) आर्त्त और (बहुदुक्खे) बहुत दुःखों से युक्त (से) वे (बाले) अज्ञानी प्राणी (इइ) इस प्रकार (पकुव्वइ) प्राणियों को क्लेश उत्पन्न करते हैं। (एए) इन (रोगा) गण्डमालादि रोगों को उत्पन्न हुआ (णच्चा) जान कर (आउरा)

उनसे आतुर वे प्राणी (बहू परियावए) प्राणियों को बहुत परिताप देते है किन्तु चिकित्सा विधि (अल) कर्म को शान्त करने मे समर्थ (ण) नही है, (पास) यह देखो। इसलिए (एएहिं) इन चिकित्सा विधियों से (तव) तुमको (अल) प्रयोजन नही है। अत (मुणी) हे मुने ! (एय) इस सावद्य चिकित्सा मे होने वाली जीव हिंसा (महब्भय) महान् भयदायक है (पास) ऐसा देखो। ऐसा देख कर (कचण) किसी भी प्राणी का (णाइवाइज्ज) अतिपात न करो यानी किसी भी जीव की हिंसा न करो ॥ १७८ ॥

भावार्थः—यह शरीर भूसे की मुट्ठी की तरह सारहीन और नश्वर है तो भी अज्ञानी जीव उसे सुखी बनाने के लिए नाना प्रकार के पापो का सेवन करते है और उनसे कर्मों को बाध कर अनेको बार मृत्यु को प्राप्त करते हैं। वे अज्ञानी जीव पाप कर्मों के अनुष्ठान से बहुत दु खो से युक्त होते हैं। उनके शरीर मे रोग उत्पन्न होने पर उनकी निवृत्ति के लिए सावद्य चिकित्सा करते हैं किन्तु वे अज्ञानी इतना नही सोचते कि—पूर्वकृत पाप के फलस्वरूप यह रोग उत्पन्न हुआ है इसलिए उसका फल भोगे विना जीवहिंसा से इसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? जीवहिंसा से तो उल्टी दु ख की वृद्धि होती है। इसलिए प्राणातिपातमय चिकित्सा मे प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। प्राणातिपात महान भय का कारण है। प्राणातिपात से आठो ही कर्मों का बन्ध होता है अत. किसी भी प्राणी का घात नही करना चाहिए।

आयाण भो सुस्सूस ! भो धूयवायं पवेयइस्सामि इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूया अभिसंजाया अभिणिव्वट्टा अभिसंवुड्ढा अभिसंबुद्धा अभिणिक्खंता अणुपुव्वेण महामुणी ॥ १७९ ॥

अन्वयार्थः—(भो) हे शिष्य (आयाण) तुम समझो और (सुस्सूस) सुनने की इच्छा करो। (भो) हे शिष्य ! (पवेयइस्सामि) मै

उस विधि का वर्णन करूँगा जिससे (धूयवायं) कर्मों का क्षपण किया जाता है। (खलु) निश्चय ही (इह) इस संसार में (अत्तताए) अपने अपने कर्मों के अनुसार (तेहिं तेहिं) उन उन नाना प्रकार के (कुलेहिं) कुलों मे (अभिसेएण) शुक्र और शोणित के संयोग से (अभिसभूया) गर्भावस्था में कलल भाव को प्राप्त (अभिसजाया) अभिसंजात यानी पेशी भाव को प्राप्त (अभिणिवट्टा–अभिणिव्वुडा) इसके बाद अङ्ग उपाङ्ग से परिपूर्ण होकर बालक रूप में परिणत (अभिसवुड्ढा) गर्भ से बाहर जन्मे हुए (अभिसबुद्धा) इसके बाद धर्मकथा सुनने के योग्य बने हुए एव पुण्य पाप आदि पदार्थों को जान कर सत् और असत् के विवेक से युक्त (अभिणिक्खता) तदनन्तर दीक्षा अंगीकार करके (अणुपुव्वेण) अनुक्रम से (महामुणी) महामुनि हुए हैं ॥ १७६ ॥

भावार्थः—श्रीसुधर्मास्वामी अपने शिष्य को सम्बोधित कर कहते है कि हे शिष्य! अब मैं धूतवाद का कथन करूँगा। आठ प्रकार के कर्मों को झड़काना धूत कहलाता है। इस जगत् में प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के कुलो मे उत्पन्न होते हैं। वे पहले तो माता पिता के शुक्र और शोणित के सयोग से उत्पन्न होकर सात दिन तक कलल रूप में और इसके पश्चात् सात दिन तक अर्बुद रूप मे फिर अर्बुद से पेशी रूप में और पेशी से घनरूप मे उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् उनके सम्पूर्ण अङ्ग और उपाङ्ग, नाड़ियाँ, शिर, रोम आदि बन कर तैयार होते हैं। फिर बालक रूप मे जन्म लेते हैं फिर बडे होकर वे धर्मकथा को सुन कर तथा आचारादि शास्त्रों को पढ कर बढ़े हुए परिणाम वाले होकर प्रव्रज्या धारण करते है फिर वे गीतार्थ बन कर आत्मकल्याण करते है ॥

तं परक्कमंतं परिदेवमाणा मा णे चयाहि इइ ते वयंति छंदोवणीया अज्झोववण्णा अक्कंदकारी जणगा रुयंति, अतारिसे मुणी ण य ओहंतरए जणगा जेण विप्पजढा, सरणं तत्थ णो समेइ, कहं णु णाम से तत्थ रमइ ? एयं णाणं सया समणुवासिज्जासि त्ति बेमि ॥ १८० ॥

अन्वयार्थः—(परक्कमत) महापुरुषो के मार्ग से जाने के लिए उद्यत हुए (त) उस पुरुष के प्रति (परिदेवमाणा) उसके माता पितादि रोते हुए (ते) वे (इइ) इस प्रकार (वयति) कहते हैं कि—तुम (णे) हमें (मा) मत (चयाहि) छोड़ो। (अक्कदकारी) आक्रन्दन करते हुए (जणगा) माता पितादि (रुयति) रुदन करते हैं और कहते हैं कि (छदोवणीया) हम लोग तुम्हारी इच्छा के अनुसार चलने वाले है और (अज्झोववण्णा) तुम्हारे भरोसे पर रहते है। वे यह भी कहते है कि—पाखण्डियों के धोखे मे आकर (जेण) जिसने (जणगा) माता पितादि को (विप्पजढा) त्याग दिया है (अतारिसे मुणी) ऐसा मुनि नहीं हो सकता है (य) और वह (ओह) संसार को (ण तरए) पार नहीं कर सकता है। उनके इस प्रकार के कथन को सुन कर भी संसार के स्वरूप को जानने वाला पुरुष (तत्थ) उनकी उस बात को (सरण ण समेइ) स्वीकार नही करता है। क्योंकि (से) वह ज्ञानी पुरुष (तत्थ) गृहवास मे (कह णु णाम) कैसे (रमइ) रमण कर सकता है? (एय) इस (णाण) ज्ञान को (सया) सदा (समणुवासिज्जासि) अपने हृदय मे धारण करना चाहिए।

भावार्थः—संसार के स्वरूप को भलीभाँति जान कर जो पुरुष प्रव्रज्या अङ्गीकार करने को तैयार होता है, उसके माता पिता आदि ममता एव मोह भरी बाते करके उसको गृहवास मे रखने की कोशिश करते हैं किन्तु वह विवेकी पुरुष गृहवास को समस्त दुःखो का कारण समझ कर उसका त्याग कर देता है और सयम स्वीकार कर आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होता है॥

॥ इति छठे अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

छठे अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

प्रथम उद्देशक मे स्वजन वर्ग का त्याग बताया गया है परन्तु वह त्याग तभी सफल हो सकता है जब कर्मों का विधूनन यानी क्षय किया जाय। अतः इस उद्देशक में कर्मविधूनन का उपदेश किया जाता है —

आउरं लोगमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसिता बंभचेरंसि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं जहा तहा, अह एगे तमच्चाई कुसीला ॥ १८१ ॥

अन्वयार्थः—(लोग) लोक को (आउर) आतुर (आयाए) जान कर (पुव्वसजोग) पूर्व संयोग को (चइत्ता) छोड़ कर (उवसम) उपशम भाव को (हिचा) प्राप्त करके और (बंभचेरसि) ब्रह्मचर्य का (वसित्ता) पालन करके (वसु) साधु (वा) अथवा (अणुव्वसु) श्रावक (धम्म) धर्म के (जहा तहा) यथार्थ स्वरूप को (जाणित्तु) जान कर भी (अह) इसके बाद (एगे) कोई कोई (त) उस धर्म को (अच्चाई) छोड़ देते हैं और (कुसीला) कुशील हो जाते हैं ॥ १८१ ॥

भावार्थः—ससार के स्वरूप को जान कर जो पुरुष सयम स्वीकार करते हैं वे उपशम भाव को प्राप्त होते हैं और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं किन्तु उनमे से कोई पुरुष मोह के उदय से तथा होनहार के कारण उस धर्म को पालन करने मे समर्थ नहीं होते हैं। अतएव वे कुशील बन जाते हैं ॥

वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स

इयाणिं वा मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेओ एवं से अंतराएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइएणा चेए ॥ १८२ ॥
अन्वयार्थः—(अणुपुव्वेण) अनुक्रम से या एक साथ उत्पन्न (दुरहियासए) दुस्सह (परीसहे) परीषहों को (अणहियासेमाणा) सहन
न करते हुए कोई (वत्थ) वस्त्र (पडिग्गह) पात्र (कबल) कम्बल और (पायपु छण) रजोहरण को (विउसिज्जा) त्याग देते है अर्थात् साधु-
वेष को छोड कर गृहस्थ बन जाते हैं। (कामे) काम भोगों में (ममायमाणस्स) आसक्त बने हुए उस पुरुष का (इयाणि) इसी समय
यानी संयम छोड़ने के बाद ही (वा) या (मुहुत्तेण) मुहुर्त्तमात्र में (अपरिमाणाए) चिरकाल के लिए (भेए) वह शरीर नष्ट हो जाता है।
(एव) इस प्रकार (से) वह भोगाभिलाषी पुरुष (अतराएहिं) बहुत अन्तराय और (आकेवलिएहिं) विघ्न बाधाओं से युक्त (कामेहिं) काम
भोगों से (अवइएणा) तृप्त हुए बिना ही (चेए) शरीर भेद को प्राप्त हो जाते हैं ॥ १८२ ॥
भावार्थः—मनुष्य जन्म पाना बडा दुर्लभ है। मनुष्य जन्म प्राप्त कर सर्वविरति रूप चारित्र अङ्गीकार करना तो और भी
कठिन है। ऐसे चारित्र को अगीकार करके जब दु.सह परीषहो का आक्रमण होता है तब उन्हें सहन करना बडा कठिन हो जाता है।
कोई धीर पुरुष ही उन्हे सहन करते है। अधीर पुरुष तो उनसे घबरा कर सयम का त्याग करके गृहस्थ बन जाते हैं। वे विषयभोगो
मे आसक्त होकर विषयभोगो को भोगने के लिए प्रवृत्त होते है किन्तु अनेक विघ्न बाधाओं और अन्तराय के कारण वे अपनी इच्छा-
नुसार भोग भोगे बिना ही शरीर को त्याग देते है। इस प्रकार वे मूर्ख सयम से भी भ्रष्ट हो जाते हैं और भोगो को भी प्राप्त नहीं कर
सकते हैं। अतः सयम स्वीकार करके उसे कदापि त्याग नही करना चाहिए॥
अह एगे धम्ममायाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे, अप्पलीयमाणे दढे सव्वं गिद्धिं परिण्णाय, एस पणए महा-
मुणी, अइयच्च सव्वओ संगं ण महं अत्थित्ति इय एगो अहं, अस्सिं जयमाणे इत्थ विरए अणगारे सव्वओ मुंडे रीयंते,

जे अचेले परिवुसिए संचिक्खइ ओमोयरियाए, से आकुट्ठे वा हए वा लुंचिए वा पलियं पकत्थ अदुवापकत्थ अतहेहिं सद्फासेहिं इय संखाए एगयरे अण्णयरे अभिण्णाय तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमाणे ॥ १८३ ॥

अन्वयार्थः—(अह) इसके बाद (एगे) कोई पुरुष (धम्म) धर्म को (आयाय) स्वीकार करके (आयाणपभिइन्) धर्मोपकरणों को रखते हुए (पणिहिए चरे) धर्म का आचरण करते हैं। (अपलीयमाणे) वे माता पिता आदि में तथा लोक में आसक्त न होते हुए (दढे) धर्म में दृढ तथा (सव्व) समस्त (गिद्धिं) भोगों की आकांक्षा को (परिण्णाय) त्याग कर संयम पालन करते हैं। (एस) यह (पणए) कर्म-क्षय में तत्पर पुरुष ही (महामुणी) महामुनि है। वह पुरुष (सव्वओ) सब प्रकार के (संग) सङ्गों को (अइयच्च) छोड कर (इय) यह भावना करे कि (मह) इस जगत् में मेरा (ण अत्थि) कोई नहीं है किन्तु (अह) मैं (एगो) अकेला ही हूँ। इस प्रकार (एसि) इस प्रवचन में स्थित (इत्थ) विषय भोगों से (विरए) विरत तथा (जयमाणे) दस प्रकार की समाचारी का यत्नपूर्वक पालन करता हुआ (मुण्डे) द्रव्य और भाव से मुण्ड (अणगारे) अनगार (सव्वओ) सब प्रकार से (रीयते) संयमानुष्ठान में प्रवृत्त रहता हुआ (अचेले) अल्प वस्त्र से युक्त रहता है तथा (परिवुसिए) अन्त प्रान्त आहार करता हुआ (ओमोयरियाए) ऊनोदरी आदि तप करता हुआ (संचिक्खइ) रहता है। (से) उस मुनि को यदि कोई (आकुट्ठे) आक्रोश करे (वा) अथवा (हए) दण्ड आदि के द्वारा मारे (वा) अथवा (लुंचिए) केश लुंचन करे (वा) अथवा (पलिय) पूर्वकृत अशुभ कार्यों का (पकत्थ-पगंथे) कथन करके निन्दा करे (अदुवा) अथवा (अपकत्थ-अपगंथे) कथन न करके दूसरे प्रकार से निन्दा करे (वा) अथवा (अतहेहिं) झूठे (सद्फासेहिं) शब्दों से तथा कष्टों से पीड़ित करे तो वह साधु (इय) इनको (संखाए) अपने पूर्वकृत कर्मों का फल समझ कर सहन करे। (जे) जो (हिरी) मन में आल्हाद उत्पन्न

करने वाले (एगयरे) अनुकूल परीषह है उन्हे (य) और (जे) जो (अहिरीमाणे) अप्रिय लगने वाले (अणएयरे) प्रतिकूल परीषह हैं उन दोनों को (अभिएणाय) जान कर (तितिक्खमाणे) समभाव पूर्वक सहन करता हुआ साधु (परिव्वए) संयम का पालन करे ॥ १८३ ॥

भावार्थः—मोक्षार्थी पुरुष को पुत्र कलत्रादि के सब प्रकार के सगो को छोड कर तथा विषय की इच्छा को जीत कर यह भावना करनी चाहिए कि—इस संसार मे मेरा ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो मुझे ससार भ्रमण से बचा सके। अत इस ससार में मैं अकेला हूँ। कोई मेरा नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ। इस प्रकार की भावना करता हुआ मोक्षार्थी मुनि सयम का पालन करे। ऐसा करते हुए मुनि को यदि कोई गाली दे, अपमानित करे, दण्ड आदि के द्वारा मारे तो मुनि यह समझ कर उसको सहन करे कि—पूर्वकृत पापकर्म का फल भोगे विना छुटकारा नहीं हो सकता है इसलिए ये सब मेरे पूर्वकृत अशुभ कर्मों के फल हैं। इस प्रकार समझ कर जो मुनि अनुकूल और प्रतिकूल सब प्रकार के परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करता है उसके कर्मों की निर्जरा होती है ॥

चिच्चा सव्वं विसुत्तियं संफासे फासे समियदंसणे, एए भो णगिणा वुत्ता जे लोयंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्थोवरए तं झोसमाणे आयाणिज्जं परिएणाय परियाएण विगिंचइ, इहमेगेसि एगचरिया होइ तत्थ इयरा इयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्भि अदुवा दुब्भि अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति, ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासिज्जासि त्ति बेमि ॥ १८४ ॥

अन्वयार्थः—(समियदसणे) सम्यग्दृष्टि साधु (सव्व) सब (विसुत्तिय) सांसारिक सम्बन्धों को (चिच्चा) त्याग कर (फासे) परीषहों से उत्पन्न दु खों को (संफासे) समभाव पूर्वक सहन करे (भो) हे शिष्य ! (जे) जो (लोयसि) इस लोक में (अणागमणधम्मिणो) दीक्षा लेकर फिर गृहवास में नहीं जाते हैं (एए) वे (णगिणा) भाव नग्न (वुत्ता) कहे गये है। वे (आणाए) आज्ञानुसार (मामग) मेरे (धम्म) धर्म का पालन करते है। (इह) इस लोक मे (माणवाण) मनुष्यों के लिए (एस) यह (उत्तरवाए) उत्कृष्ट वाद (वियाहिए) कहा

गया है। (इत्योवरए) इस कर्म क्षय के उपाय स्वरूप सयम मे रत रहने वाला पुरुष (त) कर्मों का (भोगमाणे) क्षय कर देता है। विवेकी पुरुष (आयाणिज्ज) कर्मों के स्वरूप को (परिएणाय) जान कर (परियाएण) प्रव्रज्या के द्वारा (विगिंचइ) उन्हे अलग कर देता है। (इह) इस प्रवचन मे स्थित (एगेसिं) कोई (एगचरिया होइ) अकेले विचरते है। (तत्थ) वे अकेले विचरने वाले जिनकल्पी (इयरा) दूसरे सामान्य साधुओं से विशिष्ट होते हैं। (से) वे (मेहावी) बुद्धिमान् साधु (इयरेहिं कुलेहिं) अन्त प्रान्त कुलों मे (सुद्धेसणाए) एषणा के दस दोषों से रहित और (सव्वेसणाए) उद्‌गम, उत्पादना आदि सब दोषों से रहित शुद्ध आहारादि द्वारा (परिव्वए) संयम का पालन करते है। वे (सुब्भि) सुगन्ध वाले (वा) अथवा (दुब्भि) दुर्गन्ध वाले आहार को समान मानते है। भयङ्कर स्थानों मे अकेले रहते हुए साधु को यदि (भेरवा) भयङ्कर शब्द सुनाई दें (अदुवा) अथवा जो (पाणा) प्राणी (पाणे) अन्य प्राणियो को (किलेसति) मारते हैं उनके द्वारा सताये जाने पर (ते) उस (फासे) दुःख का (पुट्ठो) स्पर्श पाकर (धीरे) धीर पुरुष (अहियासिज्जासि) समभाव पूर्वक सहन करे (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १८४ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान की आज्ञानुसार सयम का पालन करने वाले जो पुरुष सब प्रकार के परीषह के कष्टों को सहन करते है और परिग्रह से रहित होते है वे पुरुष भाव से नग्न कहे जाते हैं। वे किसी भी सासारिक पदार्थ मे ममत्व नहीं रखते है। इस जैन प्रवचन मे स्थित कोई अभिग्रहधारी एव जिनकल्पी आदि साधु अकेले विचरते है। उनके नाना प्रकार के अभिग्रहविशेष और तपोविशेष होते है। वे दूसरे सामान्य साधुओ से विशिष्ट होते है। उन्हे अन्त प्रान्त सुगन्ध दुर्गन्ध जैसा भी आहार मिल जाता है वे उसमे समभाव रखते है। अकेले विचरते हुए वे भयङ्कर शब्दो को सुन कर या हिंसक प्राणियो द्वारा सताये जाने पर भी घबराते नहीं है और शुद्ध सयम का पालन करते हैं ॥

॥ इति छठे अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

छठे अध्ययन का तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक मे कर्मों के धूनन का उपदेश किया गया है किन्तु वह शरीर और उपकरणो के धूनन के विना सम्भव नही है। इस लिए इस उद्देशक मे शरीर और उपकरणो के धूनन का उपदेश दिया जाता है —

एयं खु आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विधूयकप्पे णिज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ–परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वुक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ अव्वयाए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा, एवं तेसिं महावीराणं चिर रायं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियामियं ॥ १८५ ॥

अन्वयार्थः—(सुयक्खायधम्मे) सर्वज्ञ प्रणीत धर्म का आचरण करने वाला और (विधूयकप्पे) साधु के आचार को भलीभांति पालन करने वाला (मुणी) साधु (खु) निश्चय ही (एय) पूर्वोक्त तथा आगे कहे जाने वाले धर्मोपकरणों से भिन्न वस्त्र आदि को (आयाणं) कर्म वन्ध का कारण समझ कर (णिज्झोसइत्ता) उन्हे त्याग देते है। (जे) जो साधु (अचेले) अल्प वस्त्र से युक्त अथवा वस्त्र रहित जिनकल्पी (परिवुसिए) संयम में स्थित हैं (तस्स) उस (भिक्खुस्स) साधु को (एवं) ऐसा विचार (णो भवइ) नही होता है कि (मे)

मेरे (वत्थे) वस्त्र (परिजुण्णे) जीर्ण हो गये हैं इसलिए (वत्थं) वस्त्र की (जाइस्सामि) याचना करूँगा (सुत्तं) सूत्र यानी डोरे की (जाइस्सामि) याचना करूँगा (सुइं) सूई (जाइस्सामि) मांग लाऊँगा फिर (सधिस्सामि) वस्त्र को जोड़ूंगा (सीविस्सामि) सीऊँगा (उक्कसिस्सामि) उसे बड़ा बनाऊँगा (वुक्कसिस्सामि) उसे छोटा बनाऊँगा (परिहिस्सामि) उसे पहनूँगा या (पाउणिस्सामि) ओढ़ूगा (अदुवा) अथवा (तत्थ) वहां (अचेल) अल्पवस्त्र वाले तथा वस्त्र रहित (परक्कमंत) विचरते हुए मुनि को (तणफासा) कभी तृण स्पर्श का (फुसति) दुःख होता है (सीय-फासा) कभी शीत स्पर्श का (फुसंति) दुःख होता है और (तेउफासा) कभी गर्मी के स्पर्श का (फुसति) दुःख होता है तथा (दसमसग-फासा) कभी डास और मच्छरों का स्पर्श (फुसति) पीडित करता है। (लाघव आगममाणे) कर्मों को हलका करता हुआ (अचेले) अचेल यानी अल्पवस्त्र वाला अथवा वस्त्र रहित मुनि (एगयरे) एक या (अण्णयरे) अनेक और (विरूवरूवे) नाना प्रकार के (फासे) कष्टों एव परीपहों को (अहियासेइ) सहन करता है। इस प्रकार (से) वह साधु (तवे) तप को (अभिसमण्णागए) प्राप्त होता है। (जहेय) जिस प्रकार (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (पवेइय) फरमाया है (तमेव) उसे (अभिसमिच्चा) अच्छी तरह जान कर (सव्वओ) सब प्रकार से और (सव्वयाए) सर्व रूप से (समत्तमेव) सम्यक्त्व का ही (समभिजाणिज्जा) सम्यक् अनुष्ठान करे। (एव) इस प्रकार (चिरराय पुव्वाइ वासाणि) बहुत वर्षों तक यानी जीवन पर्यन्त (तेसिं) उन (रीयमाणाण) संयम सहित विचरने वाले (दवियाण) द्रव्य यानी मुक्ति-गमन योग्य (महावीराण) महावीर पुरुषों के (अहियासियं) समभाव पूर्वक परीषह सहन को (पास) देखो ॥ १८५ ॥

भावार्थः—धर्मोपकरणो से भिन्न पदार्थों को कर्मबन्ध का कारण जान कर मुनि उनका त्याग कर देते हैं। अचेल यानी अल्प वस्त्र रख कर सयम पालन करने वाले मुनि को वस्त्र सम्बन्धी चिन्ता नही होती है कि—मेरा वस्त्र जीर्ण होगया है। अब मेरे शरीर की रक्षा किस तरह होगी ? तथा सर्दी से कैसे बच सकूँगा ? अब मुझे किसी श्रावक से वस्त्र मागना चाहिए अथवा फटे हुए वस्त्र को

सीने के लिए सूई डोरा लाना चाहिए।

अथवा इस सूत्र की व्याख्या जिनकल्पी की अपेक्षा करनी चाहिए। जो जिनकल्पी मुनि होते हैं वे वस्त्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार की चिन्ता करते ही नहीं हैं क्योंकि वे वस्त्र रहित होते हैं। ऐसे मुनि को कभी तृण की शय्या पर सोने से तृणों का रूक्ष स्पर्श पीड़ित करता है। इसी प्रकार उन्हें कभी सर्दी गर्मी और कभी डांस मच्छर आदि के कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इस प्रकार वे कायाक्लेश रूप तप करते हैं ऐसा तीर्थङ्कर भगवान् फरमाते हैं॥

आगयपण्णाणाणं किसा बाहा भवंति पयणुए य मंससोणिए विस्सेणिं कट्टु परिण्णाय, एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ॥ १८६ ॥

अन्वयार्थः—(आगयपण्णाणाणं) जिनको पदार्थों का ज्ञान हो गया है उन महापुरुषों की (बाहा) भुजाएँ तपस्या के कारण (किसा) कृश (भवंति) हो जाती हैं (य) और (मंससोणिए) उनके मांस तथा रक्त भी (पयणुए) कम हो जाते हैं। राग द्वेष और कषाय-रूपी संसार में उतरने की जो श्रेणी है उसे (परिण्णाय) जान कर जो पुरुष क्षान्ति आदि के द्वारा (विस्सेणिं कट्टु) विश्रेणी करके अर्थात् नष्ट करके संयम में रत रहता है (एस) वह (तिण्णे) संसार से तिरा हुआ (मुत्ते) मुक्त और (विरए) विरत (वियाहिए) कहा गया है (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ॥ १८६॥

भावार्थः—जो मुनि संसार के स्वरूप को भली प्रकार जान लेता है उसे किसी भी पदार्थ पर ममत्व भाव नहीं होता है। वह तपस्या में रत रहता है जिससे उसके शरीर का रक्त और मांस सूख कर कम हो जाता है। यह संसार के कारणभूत रागद्वेष कषायादि को भी नष्ट कर देता है। वह तीर्थङ्कर के वचनानुसार उत्तम संयम के पालन में तत्पर रहता है। ऐसे गुणों से युक्त मुनि को संसार से पार हुआ ही जानना चाहिए॥

विरयं भिक्खुं रीयंतं चिरराओसियं अरई तत्थ किं विधारए ? संधेमाणे समुट्ठिए, जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए, ते अणवकंखमाणा पाणे अणइवाएमाणा दइया मेहाविणो पंडिया, एवं तेसिं भगवओ अणुट्ठाणे जहा से दिया पोए एवं ते सिस्सा दिया य राओ य आणुपुव्वेण वाइय त्ति बेमि ॥ १८७ ॥

अन्वयार्थः—(विरय) विरत यानी पापस्थानों से निवृत्त (रीयत) प्रशस्त मार्ग में गमन करते हुए (चिरराओसिय) चिर काल तक संयम में रहते हुए (भिक्खु) साधु को (किं) क्या (तत्थ) संयम में (अरई) अरति (विधारए) उत्पन्न हो सकती है ? (समुट्ठिए) कर्म-क्षय के लिए उद्यत साधु (संधेमाणे) उत्तरोत्तर गुणस्थानों में चढ़ता जाता है। (जहा) जिस प्रकार (से) वह (दीवे) द्वीप (असदीणे) जलबाधा से रहित होता है (एव) इसी प्रकार (से) वह (आरियपदेसिए) आचार्य महाराज का उपदेश किया हुआ (धम्मे) धर्म है। (ते) वे (अणवकंखमाणा) भोगों की इच्छा न करने वाले (पाणे) प्राणियों की (अणइवाएमाणा) हिंसा न करने वाले (दइया) शुभ प्रवृत्ति करने के कारण सब लोगों के प्रिय (मेहाविणो) मेधावी और (पंडिया) पण्डित हैं। (एव) इस प्रकार (तेसिं) उन (भगवओ) तीर्थङ्कर भगवान् के (अणुट्ठाणे) धर्म में जो सम्यक् प्रकार से उत्थित नहीं है (से) उनको आचार्य उसी प्रकार पालन करें (जहा) जैसे (दिया) पक्षी (पोए) अपने बच्चे का पालन करता है। (एव) इस प्रकार आचार्य के द्वारा (दिया) दिन (य) और (राओ) रात (आणुपुव्वेण) क्रमशः (वाइय) पढाये हुए (ते) वे (सिस्सा) शिष्य संसार को पार करने में समर्थ हो जाते हैं (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १८७ ॥

भावार्थः—जो साधु असंयम से निवृत्त हो चुका है और प्रशस्त मार्ग में विचरण करता है और जो चिरकाल तक संयम में स्थित रह चुका है उस पुरुष को क्या संयम मे अरति उत्पन्न हो सकती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—हाँ हो सकती है क्योंकि

कर्मों का परिणाम विचित्र है और मोह की शक्ति अति प्रबल है । अत. ऐसे साधु को भी सयम में अरति उत्पन्न हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । अथवा इस पाठ का यह अर्थ भी हो सकता है कि—उपरोक्त गुण वाले साधु को क्या कभी अरति उत्पन्न हो सकती है ? अर्थात् नही, क्योंकि वह उत्तरोत्तर गुणस्थानो को स्पर्श करता हुआ यथाख्यात चारित्र के सन्मुख हो जाता है । जिस प्रकार जल-बाधा से रहित द्वीप समुद्रयात्रियों के लिए शरणभूत होता है उसी प्रकार उपरोक्त गुण सम्पन्न मुनि दूसरे साधुओ के लिए आधारभूत होते हैं । ऐसे गुणो वाला मुनि केवल अपनी ही रक्षा नहीं करता किन्तु दूसरे को भी यदि सयम में अरति उत्पन्न हो जाय तो वह उसे भी दूर करके उसकी रक्षा करता है । जैसे पक्षी अपने बच्चे को तब तक पालन करता है जब तक वह उड कर अन्यत्र जाने लायक नहीं हो जाता उसी प्रकार आचार्य तब तक अपने शिष्य की रक्षा करे जब तक वह धर्म मे निपुण नहीं होता है । इस प्रकार आचार्य द्वारा शिक्षा पाया हुआ मुनि ससार को पार करने मे समर्थ हो जाता है ॥

॥ इति छठे अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

छठे अध्ययन का चौथा उद्देशक

तीसरे उद्देशक मे शरीर और उपकरणो को कृश करने का उपदेश दिया गया है किन्तु वे तब तक पूर्णरूप से कृश नहीं होते जब तक मनुष्य तीन प्रकार के गौरव (गारव) का त्याग नही करता है। अत इस उद्देशक मे तीन गौरवों के त्याग का उपदेश दिया जाता है:—

एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अणुपुव्वेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पण्णाणमंतेहिं तेसिमंतिए पण्णाणमुवलब्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समाइयंति, वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं णोत्ति मण्णमाणा आघायं तु सुच्चा णिसम्म, समणुण्णा जीविस्सामो एगे णिक्खमंते असंभवंता विडज्झमाणा कामेहि गिद्धा अज्झोववण्णा समाहिमाघायमजोसयंता सत्थारमेव फरुसं वयंति ॥ १८८ ॥

अन्वयार्थः—(तेहिं) उन (महावीरेहिं) महावीर (पण्णाणमतेहिं) ज्ञानवन्त आचार्यों द्वारा (दिया) दिन (य) और (राओ) रात (एव) इस प्रकार (अणुपुव्वेण) क्रमशः (वाइया) पढाये हुए (ते) वे (सिस्सा) शिष्य (तेसिं) उन आचार्यों के (अतिए) पास से (पण्णाण) ज्ञान को (उवलब्भ) प्राप्त करके फिर मोह के उदय से (उवसम) उपशम भाव को छोड कर (फारुसिय) परुषता को (समाइयति) धारण करते हैं यानी अभिमानी बन जाते हैं। कोई (बभचेरसि) ब्रह्मचर्य में (वसिता) रत रहते हुए भी यानी संयम का पालन करते हुए भी (त) उस (आण) आज्ञा को यानी तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा को (णो ति मण्णमाणा) देश से न मानते हुए प्रवृत्ति करते हैं। (आघाय) कुशीलों की दुर्दशा को (सुच्चा) सुन कर और (णिसम्म) समझ कर भी शिक्षक को ही कठोर वचन कहते हैं। (समणुण्णे)

लोक मे माननीय होकर (जीविस्सामो) हम जीवन व्यतीत करेंगे ऐसा जान कर (एगे) कोई (णिक्खमंते) गृहबन्धन से निकल कर (असभवंता) मोक्षमार्ग में चलने के लिए समर्थ न होते हुए अतएव (विडज्कमाणा) नाना प्रकार से हृदय में जलते हुए एवं (कामेहिं) काम भोगों मे (गिद्धा) गृद्ध हुए और (अज्कोववरणा) तीन गारवों मे आसक्त बने हुए (आघाय) तीर्थंकर भगवान् द्वारा कही हुई (समाहिं) समाधि का (अजोसयता) सेवन न करते (सत्थारमेव) उपदेशक को ही (फरस) कठोर वचन (वयति) कहते हैं ॥ १८८ ॥

भावार्थः—जिस प्रकार पक्षी अपने बच्चे को खिला पिला कर और निरन्तर उसकी देखरेख रखता हुआ उसका पालन करता है, इसी प्रकार आचार्य भी अपने शिष्यो को यथासमय शास्त्र पढा कर तथा नियमो का पालन करा कर उनकी रक्षा करता है। इस प्रकार वे शिष्य यद्यपि बहुश्रुत होकर बडे निपुण हो जाते हैं तथापि कोई कोई शिष्य प्रबल मोह के उदय से अभिमानी हो जाते हैं और दूसरो का अपमान एवं निन्दा करते हैं और कोई कोई शिष्य तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा की अवहेलना करके सयम मे शिथिलाचारी बन जाते हैं। उन्हे शिक्षा देने पर वे उस शिक्षक का ही अपमान करते है। ऐसे लोग शास्त्रोक्त समाधि का सेवन नहीं करते हैं और उन्हे आत्मशान्ति भी प्राप्त नही होती है॥

सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अणुवयमाणस्स बिइया मंदस्स बालया ॥ १८९ ॥

अन्वयार्थः—(सीलमता) शीलसम्पन्न (उवसता) उपशान्त और (संखाए) विवेक पूर्वक (रीयमाणा) संयम का पालन करने वाले साधुओं को (असीला) "ये अशील हैं" (अणुवयमाणस्स) ऐसा कहने वाले (मदस्स) मूर्ख की (बिइया) यह दूसरी (बालया) मूर्खता है ॥१८९॥

भावार्थः—जो पुरुष शीलसम्पन्न हैं, कषायो के शान्त होने से उपशान्त हैं तथा विवेकपूर्वक संयम का पालन करते है। ऐसे महात्माओ को अशील कहना अज्ञानियों का काम है। वे अज्ञानी स्वयं संयम का पालन नही करते है यह उनकी पहली मूर्खता है और

सयम का पालन करने वाले महात्माओ को अशील कहना यह उनकी दूसरी मूर्खता है ॥

णियट्टमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति, णाणब्भट्ठा दंसणलूसिणो ॥ १६० ॥

अन्वयार्थः—(णियट्टमाणा) सयम से निवृत्त होते हुए (एगे) कोई कोई (आयारगोयर) आचार के स्वरूप को (आइक्खंति) ठीक ठीक वताते हैं परन्तु (णाणब्भट्ठा) ज्ञान भ्रष्ट पुरुष (दसणलूसिणो) दर्शन का नाश कर डालते हैं ॥ १६० ॥

भावार्थः—कोई पुरुष कर्म के उदय से सयम का पूर्णतया पालन करने मे समर्थ नहीं होते हैं फिर भी उनकी प्ररूपणा शुद्ध होती है। इन पुरुषों के आचार मे दोष होने पर भी ज्ञान में कोई दोष नहीं है। अत ये ज्ञान से भ्रष्ट न होने के कारण दर्शन को दूषित नहीं करते है परन्तु जो ज्ञान से भी भ्रष्ट है और अपने असयम जीवन एव शिथिलाचार का समर्थन करते हुए उसे शास्त्रसम्मत बताने की धृष्टता करते हैं वे दर्शन का नाश करने वाले महाअज्ञानी हैं ॥

णममाणा वेगे जीवियं विप्परिणामंति पुट्ठा वेगे णियट्टंति जीवियस्सेव कारणा, णिक्खंतं वि तेसिं दुण्णिक्खंतं भवइ, वालवयणिज्जा हु ते णरा पुणो पुणो जाइं पकप्पिंति अहे संभवंता विद्दायमाणा अहमंसीति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पकत्थे अदुवा पकत्थे अतहेहिं, तं वा मेहावी जाणिज्जा धम्मं ॥ १६१ ॥

अन्वयार्थः—(एगे) कोई (णममाणा) ऊपर से विनय करते हुए भी (जीविय) सयम जीवन से (विप्परिणामति) अपने आपको गिरा देते हैं (वा) और (एगे) कोई (पुट्ठा) परीषहों के स्पर्श पाकर (जीवियस्सेव कारणा) असंयम जीवन की रक्षा के लिए (णियट्टंति) संयम से निवृत्त हो जाते हैं। (तेसिं) उनका (णिक्खंत वि) निष्क्रमण भी (दुण्णिक्खंत) दुर्निष्क्रमण (भवइ) होता है। (ते) वे (णरा) मनुष्य

(बालवयणिज्जा) अज्ञानी जीवों के द्वारा भी निन्दनीय होते है। वे (पुणो पुणो) बारम्बार (जाइ) जन्म मरण को (पकप्पिति) प्राप्त होते है। वे अज्ञानवश (अहे) नीच स्थान मे (संभवता) रहते हुए भी (विद्दायमाणा) वे अपने आप को विद्वान् समझते हैं और (अहमंसी त्ति) मै ही बहुश्रुत हूँ ऐसा मानते हुए (विउक्कमे) वे अभिमान करते हैं। वे (उदासीणे) रागद्वेष रहित पुरुषों को (फरुस) कटुवचन (वयति) कहते है। वे (पलिय) साधु के पूर्वाचरण को बता कर (पकथे) निन्दा करते हैं (अदुवा) अथवा (अतहेहिं) मिथ्या दोषो के द्वारा (पकत्थे) निन्दा करते हैं परन्तु (मेहावी) साधु की मर्यादा मे स्थित बुद्धिमान् साधु (त) उस (धम्म) श्रुत चारित्र रूप धर्म को (जाणिज्जा) भलीभांति जाने ॥ १६१ ॥

भावार्थः—कितनेक पुरुष सयम स्वीकार करके फिर विषयभोगो मे गृद्ध बन कर असयम जीवन धारण कर लेते हैं। ऐसे पुरुषो का सयम स्वीकार करना निरर्थक है क्योंकि उनका जन्म मरण के चक्र से छुटकारा हो नहीं सकता। वे अपने आपको विद्वान् मानते हुए महापुरुषो की निन्दा करते हैं और उनके ऊपर मिथ्यादोषारोपण करने से भी नहीं हिचकते हैं। अतः बुद्धिमान् साधु को चाहिए कि वह उपरोक्त कार्यों से अलग रहता हुआ श्रुत-चारित्र रूप धर्म का भलीभांति पालन करे ॥

अहम्मट्ठी तुमं सि णाम बाले आरंभट्ठी अणुवयमाणे, हण पाणे घायमाणे हणओ यावि समणुजाणमाणे, घोरे धम्मे, उदीरिए उवेहइ णं अणाणाए, एस विसण्णे वियद्दे वियाहिए त्ति बेमि ॥ १६२ ॥

अन्वयार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा की उपेक्षा करने वाले पुरुष को लक्ष्य कर शास्त्रकार फरमाते हैं कि—(तुम) तुम (अहम्मट्ठी) अधर्मार्थी (सि) हो क्योंकि (बाले णाम) तुम अज्ञानी हो अतएव (आरंभट्ठी) तुम आरम्भ मे प्रवृत्त रहते हो (अणुवयमाणे)

प्राणियों की घात का वचन कहते हुए तुम कहते हो कि—(पाणे) प्राणियों का (हण) घात करो (घायमाणे) इस प्रकार दूसरों से प्राणियों का घात कराते हुए (य) और (हणओ अवि) घात करने वालों का (समणुजाणमाणे) अनुमोदन करते हुए अधर्म में रत रहते हो। तुम कहते हो कि तीर्थङ्कर भगवान् ने (घोरे) घोर (धम्मे) धर्म (उदीरिए) कहा है इसलिए उसका आचरण कठिन है ऐसा कह कर तुम (उवेहइ) धर्म की उपेक्षा करते हो और (अणाणाए) तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध अपनी इच्छानुसार प्रवृत्ति करते हो। (एस) यह उपरोक्त पुरुष (विसण्णे) विषयभोगों में आसक्त तथा (वियद्दे) प्राणियों का हिंसक (वियाहिए) कहा गया है (त्ति बेमि) ऐसा मे कहता हूँ ॥ १९२ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा की उपेक्षा करने वाले पुरुषो को लक्ष्य करके शास्त्रकार फरमाते है कि ऋद्धिगारव रस और साता गारव इन तीन गारवो में एव कामभोगो मे आसक्त बने हुए जीव पचन पाचनादि क्रिया में प्रवृत्त होकर स्वय हिसा करते हैं, दूसरों से करवाते हैं और करने वालों का अनुमोदन करते है। वे आरम्भ मे प्रवृत्ति करने वाले अज्ञानी हैं ॥

किमणेण भो ! जणेण करिस्सामित्ति मरणमाणे एवं एगे वइत्ता मायरं पियरं हिच्चा णायओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुट्ठाए अविहिंसा सुव्वया दंता पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति, अहमेगेसिं सिलोए पावए भवइ, से समणो भवित्ता विब्भंते समणविब्भंते समणविब्भंते पासह एगे समण्णागएहि सह असमण्णागए णममाणेहिं अणममाणे विरएहिं अविरए दविएहिं अदविए अभिसमिच्चा पंडिए मेहावी णिट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमिज्जासि त्ति बेमि ॥ १९३ ॥

अन्वयार्थः—(ओ) शास्त्रकार सम्बोधित कर कहते हैं कि हे भव्यो ! (पस्स-पास) तुम इस बात को देखो कि (एगे) कितनेक पुरुष (एव) इस प्रकार (वइत्ता) कह कर कि (अणेण) इस (जणेण) जन से (किं) क्या (करिस्सामित्ति) करूँगा अर्थात् इन लोगों से मुझे क्या प्रयोजन है ? (मायर) माता (पियर) पिता (णायओ) ज्ञाति जन (य) और (परिग्गह) परिग्रह को (हिच्चा) छोड़ कर (वीरायमाणा) वीर की तरह आचरण करते हुए (समुट्ठाए) प्रव्रज्या धारण करके (अविहिंसा) हिंसारहित (सुव्वया) श्रेष्ठ व्रत वाले तथा (दंता) इन्द्रियों को दमन करने वाले होते हैं। इस प्रकार (उप्पइए) संयम की श्रेणी पर चढ कर फिर (दीणे) दीन बन कर (पडिवयमाणे) कर्म के उदय से दीक्षा को त्याग कर पतित हो जाते हैं। (वसट्टा) वे इन्द्रियों के वशीभूत (कायरा) कायर (जणा) पुरुष (लूसगा) व्रतों का नाश करने वाले (भवंति) होते हैं। (अह) इसके बाद (एगेसिं) दीक्षा छोड़ कर पतित बने हुए किसी पुरुष की (पावए सिलोए) जगत् में निन्दा (भवइ) होती है कि (से) वह (समणे) श्रमण (भवित्ता) होकर (विब्भंते) अब दीक्षा छोड़ कर भटकता फिरता है (समणविब्भंते) यह दीक्षा छोड़ कर भटकता फिरता है। (समणविब्भंते) यह दीक्षा छोड़ कर भटकता फिरता है। (एगे) कोई पुरुष (समण्णागएहिं सह) उग्रविहारी पुरुषों के साथ रहते हुए भी (असमण्णागए) शिथिल विहारी हो जाते हैं तथा (णममाणेहिं) विनयवान् पुरुषों के साथ रहते हुए भी (अणममाणे) विनय रहित और (विरएहिं) विरत पुरुषों के साथ रहते हुए भी (अविरए) अविरत एवं (दविएहिं) द्रव्य यानी पवित्र पुरुषों के साथ रहते हुए भी (अदविए) अद्रव्य यानी अपवित्र हो जाते हैं (पासह) इसे देखो। (अभिसमिच्चा) उपरोक्त बात को जान कर—(पंडिए) पंडित और (मेहावी) मर्यादा में स्थित बुद्धिमान् पुरुष (णिट्ठियट्ठे) विषय सुख से निःस्पृह रह कर (वीरे) वीर यानी कर्मों का विनाश करने में समर्थ होकर (सया) सदा (आगमेणं) आगमानुसार (परक्कमिज्जासि) संयम पालन में पुरुषार्थ करे (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १९३ ॥

भावार्थः—कितनेक पुरुष माता, पिता, पुत्र, स्त्री और अपने सम्बन्धियों को छोड कर एवं धन धान्य आदि परिग्रह का त्याग कर दीक्षा ले लेते हैं। दीक्षा लेकर वे वीर की तरह अहिंसा आदि महाव्रतो का पालन करते हैं किन्तु कुछ काल बाद कर्म के उदय से वे दीन बन जाते हैं, वमन किये हुए विषयभोगो को फिर भोगना चाहते हैं। वे संयम रूपी महत्व पर चढ़ कर फिर नीचे गिर पड़ते हैं। ऐसे पुरुपो की लोक मे अपकीर्ति होती है। लोग तरह तरह के अपशब्द कह कर उनकी निन्दा करते हैं। अतः पण्डित पुरुपो को चाहिए कि जिन चढते परिणामो से सयम ग्रहण करे वैसे ही चढते परिणामो से वीर की तरह जीवन पर्यन्त सयम का पालन करे॥

॥ इति छठे अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

छठे अध्ययन का पञ्चम उद्देशक

चौथे उद्देशक में तीन गारवों के त्याग का उपदेश दिया गया था। किन्तु वह परीषहसहन और सत्कारपुरस्कारात्मक सम्मान का त्याग करने से ही सम्पूर्णता को प्राप्त होता है। इसलिए इस उद्देशक में इसका उपदेश दिया जाता है.—

से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा णगरेसु वा णगरंतरेसु वा जणवयेसु वा जणवयंतरेसु वा गाम-णगरंतरे वा गामजणवयंतरे वा संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति, ते फासे पुट्ठे वीरो अहियासए, ओए समियदंसणे, दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे, विभए किट्टे वेयवी, से उट्ठिएसु वा अणुट्ठि-एसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेयए संतिं विरइं उवसमं णिव्वाणं सोयं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं सत्ताणं सव्वेसिं जीवाणं अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खिज्जा ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थः—(गिहेसु) घरों में (वा) अथवा (गिहंतरेसु) घरों के अन्तराल मे (गामेसु) ग्रामों में (वा) अथवा (गामतरेसु) ग्रामों के अन्तराल में, (णगरेसु) नगरों मे (वा) अथवा (णगरतरेसु) नगरों के अन्तराल में, (जणवयेसु) जनपद में (वा) अथवा (जयवयतरेसु) जनपदों के अन्तराल में, (गामणयरंतरेसु) ग्राम नगर के अन्तराल मे, (वा) अथवा (णगरजणवयतरे) नगर जनपद के अन्तराल में (एगइया) कोई (जणा) प्राणी (लूसगा) साधुओं को कष्ट देने वाले (भवति, संति) होते हैं (अदुवा) अथवा (फासा) नाना प्रकार के स्पर्श यानी कष्ट (फुसति) साधु को होते है (ते) उन (फासे) कष्टों का (पुट्ठो) स्पर्श पाकर (ओए) रागद्वेष रहित (समियदसणे) सम्यग्दृष्टि (वीरो) वीर

पुरुष (अहियासए) समभाव पूर्वक सहन करे। (लोगस्स) लोक की (दय) दया को (जाणित्ता) जान कर यानी संसारी प्राणियों पर दया करके (पाईण) पूर्व (पडीण) पश्चिम (दाहिण) दक्षिण और (उदीण) उत्तर सभी दिशाओं में (आइक्खे) धर्म का कथन करे। (वेयवी) वेदश पुरुष (विभए) धर्म का विभाग करे तथा (किट्टे) कीर्तन करे। (से) वह साधु (उट्ठिएसु) धर्म का आचरण करने के लिए उद्यम-वन्त (वा) और (अणुट्ठिएसु) धर्माचरण के लिए अनुत्थित (वा) तथा (सुस्सूसमाणेसु) धर्म सुनने की इच्छा करने वाले प्राणियों के लिए (सतिं) शान्ति (विरइ) विरति (उवसमं) उपशम (णिव्वाणं) निर्वाण (सोय) शौच (अज्जविय) आर्जव (मद्दविय) मार्दव और (लाघवियं) लघुता, इन धर्मों में से (अणइवत्तिय) यथायोग्य (पवेयए) धर्म का उपदेश करे। इसी प्रकार (सव्वेसिं) सब (पाणाण) प्राणी (सव्वेसिं) सब (भूयाण) भूत (सव्वेसिं) सब (जीवाण) जीव और (सव्वेसिं) सब (सत्ताण) सत्त्व, इनका (अणुवीइ) विचार कर (भिक्खू) साधु (धम्म) धर्म का (आईक्खज्जा) कथन करे ॥ १९४ ॥

भावार्थः—ग्राम, नगर, देशविदेश मे विचरण करते हुए साधु को शीत उष्ण दशमशक आदिकृत परीषह तथा तिर्यञ्च मनुष्य और देवकृत परीषह उपसर्ग उत्पन्न होते हैं, उनको अपने कर्मों का फल जान कर समभाव पूर्वक सहन करे और सासारिक जीवो पर दया करके उनके कल्याणार्थ उनकी योग्यतानुसार अहिंसा, विरति, क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि धर्म का उपदेश करे। ऐसा करने वाला साधु स्वपर का कल्याण करता है ॥

अणुवीइ भिक्खू धम्ममाइक्खमाणे णो अत्ताणं आसाइज्जा णो परं आसाइज्जा णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाइज्जा से अणासायए अणासायमाणे वज्झमाणाणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुणी, एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिव्वए संखाय पेसलं धम्मं दिट्ठिमं

परिनिव्वुडे तम्हा संगडं पासह गंथेहिं गढिया णरा विसएणा कामक्कंता तम्हा लूहाओ णो परिवित्तसिज्जा, जस्स इमे आरंभा सव्वओ सव्वयाए सुपरिण्णाया भवंति जेसि मे लूसिणो णो परिवित्तसंति, से वंता कोहं य माणं य मायं च लोभं य एस तुट्टे वियाहिए त्तिवेमि ॥ १६५ ॥

अन्वयार्थः—(धम्म) धर्म का (आइक्खमाणो) कथन करता हुआ (भिक्खू) साधु (अणुवीइ) विचार कर (अत्ताणं) अपनी आत्मा की (णो आसाइज्जा) आशातना न करे और (पर) दूसरे की भी (णो आसाइज्जा) आशातना न करे तथा (अण्णाइ) दूसरे (पाणाइ) प्राणी (भूयाइ) भूत (जीवाई) जीव और (सत्ताइ) सत्वों की भी (णो आसाइज्जा) आशातना न करे। इस प्रकार (से) वह मुनि (अणासायए) स्वयं आशातना न करता हुआ तथा (अणासायमाणे) दूसरे के द्वारा भी आशातना न कराता हुआ और (वज्झमाणाणं) वध किये जाते हुए (पाणाणं) प्राणी (भूयाणं) भूत (जीवाणं) जीव और (सत्ताणं) सत्वों की अनुमोदना न करता हुआ विचरे। (जहा) जिस प्रकार (असदीणे) जल बाधाओं से रहित (दीवे) द्वीप विश्राम का स्थान होता है (एव) उसी तरह (से) वह (महामुणी) महामुनि (सरणं) प्राणियों के लिए शरण रूप (भवइ) होता है। (एव) इस प्रकार (से) वह (उट्ठिए) संयम मे उत्थित (ठियप्पा) मोक्ष मे स्थित (अणिहे) रागद्वेष रहित (अचले) परीषह और उपसर्गो से विचलित न होने वाला (चले) अप्रबद्ध विहारी (अवहिल्लेसे) संयम से बाहर लेश्या रहित होकर (परिव्वए) प्रव्रज्या का पालन करे। (पेसल) उत्तम (धम्म) धर्म को (सखाय) जान कर (दिट्ठिमं) सम्यग्दृष्टि पुरुष (परिणिव्वुडे) सब प्रकार से शान्त रहे (तम्हा) क्योंकि मिथ्यादृष्टि पुरुष (संगइ) विषयों के संग से शान्त नहीं होता है (पासह) यह देखो। (गथेहिं) बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि से (गढिया) ग्रथित यानी जकड़े हुए तथा (विसएणा) उनमे आसक्त और (कामक्कंता) कामभोगों

से आक्रान्त (णो) पुरुष शान्ति को प्राप्त नहीं करते हैं (नम्हा) अत (लूहाओ) रूक्ष यानी संयम के अनुष्ठान से (णो परिवित्तसिज्जा) नहीं डरना चाहिए यानी धैर्य पूर्वक संयम का पालन करना चाहिए (जेमु) जिन आरम्भों से (इमे) ये (लूसिणो) हिंसक पुरुष (णो परिवित्तसति) नहीं डरते हैं (इमे) ये (आरंभा) आरम्भ (जस्स) जिस मुनि को (सव्वओ) सर्वत और (सव्वयाए-सव्वणयाए) सब प्रकार से (सुपरिण्णाया) सुपरिज्ञात (भवति) होते हैं (से, एस) वह (कोहं) क्रोध (माणं) मान (मायं) माया (च) और (लोहं) लोभ को (वंता) त्याग कर (तुट्टे) मोहनीयादि कर्मों के बन्धन से छुटा हुआ (वियाहिए) कहा गया है (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १९५ ॥

भावार्थः—भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाला साधु सम्यग्दर्शन की किसी प्रकार से आशातना न करता हुआ धर्म सुनने की इच्छा वाले पुरुष को भलीभांति विचार कर जो जिस धर्म के योग्य हो उसे उसी प्रकार से धर्म का कथन करे। और प्राणी, भूत, जीव, सत्व को किसी प्रकार से कष्ट न हो उस प्रकार आचरण करे। ऐसा साधु समस्त प्राणियों के लिए आश्वासन का स्थान होता है। जैसे जल की बाधा से रहित द्वीप समुद्रयात्रियों के लिए विश्राम का स्थान होता है उसी प्रकार वह साधु समस्त प्राणियों के लिए शरणरूप होता है। वह साधु अपने उत्तम उपदेश के द्वारा प्राणियों को धर्म के सन्मुख करता है और आप स्वयं संयम का पालन करता हुआ मोक्षमार्ग में स्थित रहता है। जो प्राणी सांसारिक विषयों में आसक्त हैं तथा कामभोगों में निमग्न हैं उन्हें शान्ति और सुख प्राप्त नहीं होता। जो पुरुष सांसारिक विषयों को तथा कामभोगों को छोड़ कर संयम का पालन करता है वह शान्ति और सुख को प्राप्त करता है ॥

कायस्स वियाघाए एस संगामसीसे वियाहिए से हु पारंगमे मुणी, अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी कालोवणीए कंखिज्ज कालं जाव सरीरभेउ त्ति बेमि ॥ १९६ ॥

अन्वयार्थः—(कायस्स) शरीर का अथवा चार घाती कर्मों का (वियाघाए–विओवाए) विनाश (सगामसीसे) संग्राम भूमि (वियाहिए) कहा गया है। (हु) निश्चय ही (से) वह (मुणी) मुनि (पारगमे) संसार का पारगामी है (अविहम्ममाणे) जो परीषह उपसर्गों द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ भी (फलगावयट्ठी) काठ की तरह स्थिर रहता है। (कालोवणीए) मृत्यु काल के समीप आने पर (जाव सरीरभेउ) शरीर का भेद होने तक (काल) मृत्यु की (कखिज्ज) प्रतीक्षा करे। (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ॥ १६६ ॥

भावार्थः—शरीर का नाश अथवा चार घाती कर्मों का विनाश ज्ञानियों के लिए युद्धभूमि माना गया है। जैसे शूरवीर पुरुष भी युद्धभूमि में शत्रुदल की चमकती हुई तलवारों को देख कर घबरा जाता है। इसी तरह मरणकाल उपस्थित होने पर कई पुरुष कायर हो जाते हैं किन्तु जो धैर्यवान् पुरुष मरणकाल के उपस्थित होने पर घबराते नहीं हैं वे ही पण्डितमरण से मृत्यु को प्राप्त होकर शुभगति को प्राप्त होते हैं॥

॥ इति छठा अध्ययन समाप्त ॥

विमोक्ष नामक आठवां अध्ययन

प्रथम उद्देशक

छठे अध्ययन के बाद सातवें अध्ययन का वर्णन किया जाना चाहिए। सातवे अध्ययन का नाम 'महापरिज्ञा' है। इसके सात उद्देशक है किन्तु यह अध्ययन व्युच्छिन्न होगया है। इसलिए अब आठवाँ अध्ययन प्रारम्भ किया जाता है। इस अध्ययन का नाम 'विमोक्ष' है। छठे अध्ययन में कहा गया है कि मोक्षार्थी पुरुष को अपने शरीर उपकरण आदि से ममत्व हटा कर निःसङ्ग होकर विचरना चाहिए। ऐसा परमधीर पुरुष ही कर सकता है और उसे ही सम्यग् निर्याण की प्राप्ति होती है। अत इस अध्ययन मे सम्यग् निर्याण का वर्णन किया जाता है:—

से बेमि समणुण्णस्स वा असमणुण्णस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा णो पाएज्जा णो णिमंतिज्जा णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि ॥ १९४ ॥

अन्वयार्थः—(से बेमि) मै कहता हूँ कि (परं) अतिशय (आढायमाणे) आदरवान् होकर (समणुण्णस्स) समनोज्ञ को यानी जो श्रद्धा और लिङ्ग से तो अपने समान है किन्तु आहार आदि से समान नहीं है उसको (वा) तथा (असमणुण्णस्स) असमनोज्ञ यानी शाक्य आदि को (असणं) अशन (पाणं) पानी (खाइमं) खाद्य (वा) और (साइमं) स्वाद्य (वा) तथा (वत्थं) वस्त्र (पडिग्गहं) पात्र (कंबलं)

कम्बल (वा) और (पायपुंच्छणं) पादप्रोञ्छन यानी पैर पोंछने का कपड़ा (णो पाएज्जा) न देवे (वा) तथा (णो णिमंतिज्जा) इन्हें देने के लिए निमंत्रित भी न करे (वा) और (णो वेयावडिय कुज्जा) वैयावच्च भी न करे (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १९४ ॥

भावार्थः—जिसका वेश (लिङ्ग) और श्रद्धा समान है परन्तु आहार आदि समान नहीं हैं वह समनोज्ञ कहलाता है। जिसकी श्रद्धा लिङ्ग आदि सब भिन्न हैं वह अमनोज्ञ कहलाता है। इन दोनो के प्रति अतिशय आदरवान् होकर अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्रादि न दे और न आमन्त्रण ही करे ॥

धुवं चेयं जाणिज्जा असणं वा जाव पायपुंछणं वा लभिया णो लभिया भुंजिया णो भुंजिया पंथं विउत्ता विउक्कम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे समेमाणे चलेमाणे पाइज्जा वा णिमंतिज्जा वा कुज्जा वेयावडियं परं अणाढायमाणे त्ति बेमि ॥ १९५ ॥

अन्वयार्थः—(एय) इसे (धुव) ध्रुव यानी निश्चित (जाणिज्जा) जानो (असण) अशन (जाव) यावत् (पायपुंछण) पादप्रोंच्छन को (लभिया) प्राप्त करके (वा) अथवा (णो लभिया) न प्राप्त कर (य) और (भुंजिया) खाकर (वा) अथवा (ण भुंजिया) न खाकर (पथ) मार्ग को (विउत्ता) बदल कर (वा) अथवा (विउक्कम्म) उल्लंघन करके मेरे स्थान पर आया करे (विभत्त) भिन्न (धम्मं) धर्म का (जोसेमाणे) सेवन करता हुआ बौद्ध भिक्षु आदि (समेमाणे) आता हुआ या (चलेमाणे) जाता हुआ यदि कदाचित् ऐसा कहे (वा) अथवा (पाइज्जा) आहार आदि दे (वा) या (णिमंतिज्ज) आहारादि देने के लिए निमन्त्रण दे (वा) या (पर) अत्यन्त आदर के साथ (वेयावडियं) वैयावच्च (कुज्जा) करे तो (अणाढायमाणे) साधु उसे स्वीकार न करे (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १९५ ॥

भावार्थः—बौद्ध भिक्षु आदि अन्यतीर्थिक यदि साधु को आहारादि दे अथवा आहारादि के लिए आमन्त्रण करे अथवा वैयावच करे तो साधु इनको स्वीकार न करे। उन अन्यतीर्थियों के साथ साधु को किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखना चाहिए॥

इहमेगेसिं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवइ ते इह आरंभट्ठी अणुवयमाणा हण पाणे घायमाणा हणओ यावि समणुजाणमाणा अदुवा अदिण्णमाययंति अदुवा वायाउ विउज्जंति, तंजहा—अत्थि लोए णत्थि लोए धुवे लोए अधुवे लोए साइए लोए अणाइए लोए सपज्जवसिए लोए अपज्जवसिए लोए सुकडेत्ति वा दुक्कडेत्ति वा कल्लाणेत्ति वा पावेत्ति वा साहुत्ति वा असाहुत्ति वा सिद्धित्ति वा असिद्धित्ति वा णिरएत्ति वा अणिरएत्ति वा जमिणं विप्पडिवण्णा मामगं धम्मं पण्णवेमाणा इत्थवि जाणह अकम्हा एवं तेसिं णो सुयक्खाए धम्मे णो सुपण्णत्ते धम्मे भवइ॥ १९६॥

अन्वयार्थः—(इह) इस संसार में (एगेसिं) कितनेक मनुष्य (आयारगोयरे) आचार सम्बन्धी ज्ञान से (णो सुणिसंते भवइ) भली प्रकार परिचित नहीं होते हैं। (ते) वे (इह) इस लोक में (आरंभट्ठी) आरम्भार्थी यानी आरम्भ करने वाले होते हैं। (अणुवयमाणा) वे औद्देशिक भोजनादि में धर्म बताते हैं। '(पाणे) प्राणियों को (हण) मारो' ऐसा कह कर (घायमाणा) प्राणिहिंसा की आज्ञा देते हैं। अर्थात् प्राणिहिंसा करवाते हैं (य) और (हणओ) प्राणियों की हिंसा करने वालों को (समणुजाणमाणा) अच्छा जानते हैं यानी प्राणिहिंसा का अनुमोदन करते हैं। (वा) अथवा (अदिण्णं) अदत्त यानी स्वामी के द्वारा बिना दिये ही उसकी वस्तु को (आययंति) ग्रहण करते हैं (वा) अथवा (वायाउ) नाना प्रकार के वचन (विउज्जंति) बोलते हैं (तंजहा) जैसे कि—(लोए) लोक (अत्थि) है। (लोए) लोक (णत्थि) नहीं है। (लोए) लोक (धुवे) ध्रुव है। (लोए) लोक (अधुवे) अध्रुव है। (लोए) लोक (साइए) सादि है। (लोए)

लोक (अणाइए) अनादि है (लोए) लोक (समज्जवसिए) सपर्यवसित है— सान्त है (लोए) लोक (अपज्जवसिए) अपर्यवसित—अन्तरहित है। (सुक्डेत्ति) सुकृत (दुक्कडेत्ति) दुष्कृत (कल्लाणेत्ति) पुण्य (पावेत्ति) पाप (साहुत्ति) भला (असाहुत्ति) बुरा (सिद्धित्ति) सिद्धि (असिद्धित्ति) असिद्धि (णिरएत्ति) नरक (वा) और (अणिरएत्ति) अनरक है। (जमिणं) इस प्रकार (विप्पडिवन्ना) परस्पर मतभेद रखते हुए वादी लोग (मामगं) अपने अपने (धम्म) धर्म को (पण्णवेमाणा) श्रेष्ठ बतलाते हैं। (इत्थवि) इस विषय में (जाणह) जानना चाहिए कि (एव) इस प्रकार (अकम्हा) युक्तिसंगत न होने के कारण (तेसिं) उनका धर्म (णो सुयक्खाए) स्वाख्यात नहीं है और (धम्मे) उनका धर्म (णो सुपण्णत्ते) सुप्रज्ञप्त भी नहीं है ॥ १९६ ॥

भावार्थः—इस जगत् में जिन लोगों को अशुभ कर्म का उदय होता है वे मोक्षोपयोगी आचार को भलीभांति नहीं जानते हैं। वे गृहस्थावास को छोड कर भी शुद्ध सयम का पालन नहीं करते है। सयम की क्रियाओं से घबरा कर वे आरम्भादि मे प्रवृत्ति करने लग जाते हैं और वे अदत्त को भी ग्रहण करने लग जाते हैं तथा वे मिथ्या भाषण भी करते हैं। उनमें से कुछ वादी लोग जीव अजीव स्वर्ग नरक लोक परलोक आदि के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और कुछ लोग अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते है। कोई लोक को नित्य कहते हैं तो कोई अनित्य कहते हैं। इस प्रकार वे अन्यतीर्थी लोग एकान्त पक्ष को ग्रहण कर परस्पर विवाद करते हुए अपने अपने मत की प्रशसा करते हैं और दूसरो के मत की निन्दा करते हैं। अत एकान्तवादियो का धर्म स्वाख्यात धर्म नही है। अत अनेकान्त धर्म—स्याद्वाद धर्म ही स्वाख्यात है और वही ग्राह्य है ॥

से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपण्णेणं जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओ गोयरस्स त्तिबेमि सव्वत्थ सम्मयं पावं, तमेव उवाइक्कम्म एस महं विवेगे वियाहिए गामे वा अदुवा रण्णे णेव गामे णेव रण्णे धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण

मइमया, जामा तिरिण उदाहिया जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्ठिया, जे णिव्वुया पावेहिं कम्मेहिं अणियाणा ते वियाहिया ॥ १६७ ॥

अन्वयार्थः––(आसुपरणेण) आशुप्रज्ञ अर्थात् सदा उपयोग रखने वाले (जाणया) केवल ज्ञानी और (पासया) केवलदर्शनी (से) उन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (एय) इस स्याद्वाद का (जहा) जिस प्रकार (पवेइय) कथन किया है, वह यह बतलाया गया है। (अदुवा) अथवा उन्होंने (वओ गोयरस्स गुत्ती) वचन की गुप्ति अर्थात् भाषासमिति का उपदेश दिया है (त्तिबेमि) ऐसा मैं कहता हूँ। (सव्वत्थ) अन्यतीर्थी सर्वत्र (पाव) पापानुष्ठान की (सम्मय) सम्मति देते हैं। (तमेव) उस पापानुष्ठान को (उवाइक्कम्म) उल्लङ्घन करके रहना (एस) यह (मह) महान् (विवेगे) विवेक (वियाहिए) कहा गया है। धर्म (गामे) ग्राम में (अदुवा) अथवा (रणणे) जङ्गल में भी हो सकता है क्योंकि (णेव) न तो (गामे) ग्राम (धम्म) धर्म का कारण है और (णेव) न (रणणे) जङ्गल धर्म का कारण है (आयाणह) यह जानो। (मइमया) केवलज्ञानी (माहणेणं) भगवान् ने (पवेइय) यह फरमाया है। भगवान् ने (तिरिण) तीन (जामा) याम अर्थात् व्रत अथवा रत्नत्रय (उदाहिया) फरमाये हैं (जेसु) जिनमें (संबुज्झमाणा) बोध को प्राप्त हुए (इमे) ये (आयरिया) आर्य लोग (समुट्ठिया) समुपस्थित हैं। (जे) जो (णिव्वुया) क्रोधादि के उपशम से शान्त हुए हैं (ते) वे (पावेहिं) पाप (कम्मेहिं) कर्मों से रहित एवं (अणियाणा) निदान–नियाणा रहित (वियाहिया) कहे गये हैं ॥ १६७ ॥

भावार्थः––वस्तु अनेकान्तात्मक है। एकान्तवादी वस्तु का सम्यक् निरूपण नहीं कर सकते हैं। उन्हें जीवाजीवादि का ज्ञान न होने से वे स्वयं पापारम्भ करते हैं और पापानुष्ठान की सम्मति देते हैं। उनका अरण्यनिवास भी धर्म का कारण नहीं हो सकता

क्योंकि जो पुरुष सत् और असत् के विवेकी होते हैं उनको धर्म होता है। ग्राम या जङ्गल धर्म का कारण नहीं है किन्तु विवेक धर्म का कारण है।

इस सूत्र मे तीन व्रतो का कथन किया गया है यथाः—प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण और अपरिग्रह। अदत्तादान और मैथुन का यहा पर अपरिग्रह मे अन्तर्भाव कर लिया गया है। अथवा यहा पर 'याम' शब्द से ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय की विवक्षा की गई है। जो पुरुष सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र को लेकर उद्यमवत हुए हैं वे शान्त, पाप रहित और निदान—नियाणा रहित कहे गये हैं॥

उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सव्वावंति य णं पाडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभेणं तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्जा णेवण्णेहिं एएहिं काएहिं दंडं समारंभाविज्जा णेवण्णे एएहिं काएहिं दंडं समारंभंते वि समणुजाणिज्जा जेयण्णे एएहिं काएहिं दंडं समारंभंति तेसि वि वयं लज्जामो तं परिण्णाय मेहावी तं वा दंडं अण्णं वा णो दंडभी दंडं समारंभिज्जासित्ति बेमि ॥ १६८ ॥

अन्वयार्थः—(उड्ढं) ऊपर (अह) नीचे (य) और (तिरिय) तिर्छी (दिसासु) दिशाओं में तथा (सव्वावति) सब अनुदिशाओं में (सव्वओ) सब प्रकार से (पाडियक्क-पाडिक्क) प्रत्येक (जीवेहिं) जीवों में (कम्मसमारभे) जो कर्म का समारम्भ होता है (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (त) उसे (परिण्णाय) जानकर (सय) स्वयं (एएहिं) इन (काएहिं) कायों में (दंडं) दण्ड का (णेव समारंभिज्जा) आरंभ न करे तथा (अण्णे) दूसरों के द्वारा भी (एएहिं) इन (काएहिं) कायो में (दड) दण्ड का (णेव समारभाविज्जा) आरंभ न करावे और (एएहिं) इन (काएहिं) कायो में (दड) दण्ड का (समारभंते) आरंभ करने वाले (अण्णे) दूसरों का (णेव समणुजाणिज्जा) अनुमोदन भी न करे। मन में ऐसा

रखे कि (जे) जो (अरणे) दूसरे लोग (एएहिं) इन (काएहिं) कायों में (दंड) दण्ड का (समारभंति) आरंभ करते हैं (तेसिं वि) उनसे भी (वयं) हम (लज्जामो) लज्जित होते हैं। (तं) उसे (परिरणाय) जानकर (मेहावी) बुद्धिमान् पुरुष (दंडभी) दण्ड से भय करता हुआ (तं) वह (दंड) दण्ड (वा) अथवा (अरण) दूसरा (दंड) दण्ड (णो समारभिज्जामि) आरंभ न करे (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूं ॥१९८॥

भावार्थः—ऊपर, नीचा और तिर्च्छी सभी दिशाओं मे और विदिशाओं मे प्राणियों के उपमर्दन रूप जो आरम्भ किया जाता है उसे जानकर बुद्धिमान् पुरुष उसका त्याग करे। वह स्वयं पृथ्वीकाय आदि में दण्ड का आरम्भ न करे तथा दूसरों से न करवावे और करने वालों का अनुमोदन भी न करे। इस प्रकार तीन करण तीन योग से हिंसा का सर्वथा त्याग करदे।

॥ इति आठवें अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का दूसरा उद्देशक

पहले उद्देशक में कहा गया है कि शुद्ध संयम का पालन करने के लिए कुशीलों की संगति का त्याग करना चाहिए। परन्तु अकल्पनीय वस्तु के त्याग के बिना यह सम्भव नहीं है। अतः इस दूसरे उद्देशक मे अकल्पनीय वस्तु के त्याग का उपदेश दिया जाता है।

से भिक्खू परिक्कमिज्ज वा चिट्ठिज्ज वा णिसीइज्ज वा तुयट्टिज्ज वा सुमाणंसि वा सुण्णागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलंसि वा कुंभाराययणंसि वा हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया—आउसंतो समणा ! अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंच्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुंजह वसह, आउसंतो समणा ! भिक्खू तं गाहावइं समणसं सवयसं पडियाइक्खे—आउसंतो गाहावई ! णो खलु ते वयणं आढामि, णो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा परिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंच्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएसि, आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरओ आउसो गाहावई ! एयस्स अकरणयाए ॥ १९९ ॥

अन्वयार्थः—(से) सर्व सावद्य योगों का त्यागी वह (भिक्खू) साधु (परिक्कमिज्ज) विहार करता हो (वा) अथवा (चिट्ठिज्ज) खड़ा हो (वा) अथवा (णिसीइज्ज) बैठा हो (वा) अथवा (तुयट्टिज्ज) सोता हुआ हो (वा) अथवा (सुसाणंसि) श्मशान में (सुण्णागारंसि) शून्य घर में (गिरिगुहंसि) पर्वत की गुफा में (रुक्खमूलंसि) वृक्ष की जड़ में यानी वृक्ष के नीचे (कुंभारायणंसि) कुम्हार की शाला में (वा) अथवा (कहिंचि) कहीं (हुरत्था) अन्यत्र स्थित हो (वा) या (विहरमाणं) विहार करता हो (तं) उस (भिक्खुं) साधु के (उवसंकमित्तु) समीप आकर (गाहावई) कोई गाथापति (बूया) कहे कि (आउसंतो समणा) हे आयुष्मन् श्रमण ! (खलु) निश्चय ही (अहं) मैंने (तव अट्ठाए) तुम्हारे लिए (असणं) अशन (पाणं) पानी (खाइमं) खादिम (वा) और (साइमं) स्वादिम (वा) तथा (वत्थं) वस्त्र (पडिग्गहं) पात्र (कंबलं) कम्बल (वा) और (पायपुंछणं) पादप्रोंच्छन (समुद्दिस्स) आप के लिए (पाणाइं) प्राणी (भूयाइं) भूत (जीवाइं) जीव (वा) और (सत्ताइं) सत्त्वों का (समारब्भ) आरम्भ करके बनाया है (वा) अथवा (कीयं) खरीद किया है (वा) अथवा (पामिच्चं) किसी से उधार लिया है (वा) अथवा (अच्छिज्जं) दूसरे से छीन कर लिया है (अणिसट्ठं) दूसरे का मेरे पास रखा हुआ है (अभिहडं) सामने लाया हुआ है उसको (आहट्टु) मैं अपने घर से लाकर (चेएमि) आपको देता हूं (वा) अथवा (आवसहं) आपके लिए मकान (समुस्सिणोमि) बनवाता हूँ एवं मकान का संस्कार करवाता हूँ। अतः (आउसंतो समणा) हे आयुष्मन् श्रमण ! आप (से) इस अशनादि को (भुंजह) भोगें और (आवसहं) मकान में (वसह) निवास करें तो (भिक्खू) साधु (तं) उस (समणसं) अभिप्राय वाले और (सवयसं) उपरोक्त वचन कहने वाले परिचित अथवा अपरिचित (गाहावइं) गाथापति को (पडियाइक्खे) इस प्रकार उत्तर देवे कि (आउसंतो गाहावई) हे आयुष्मन् गाथापति ! (खलु) निश्चय ही मैं (ते) तुम्हारे (वयणं) इन वचनों का (णो आढामि) आदर नहीं करता हूँ और (खलु) निश्चय ही मैं (ते) तुम्हारे

(वयण) इन वचनों को (णो परिजाणामि) स्वीकार नहीं करता हूँ कि (जो) जो (तुम) तुम (मम अट्ठाए) मेरे लिए (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) खादिम (वा) और (साइम) स्वादिम (वा) तथा (वत्थ) वस्त्र (पडिग्गह) पात्र (कंबल) कम्बल (वा) और (पायपुंच्छण) पादप्रोंच्छन (समुद्दिस्स) मेरे लिए (पाणाइ) प्राणी (भूयाइ) भूत (जीवाइ) जीव (वा) और (सत्ताइ) सत्वों का (समारम्भ) आरंभ करके बनाया है (कीय) खरीद किया है (पामिच्च) उधारा लिया है (अच्छिज्ज) दूसरों से छीन कर लिया है (अणिसट्ठं) दूसरों का धरोहर रखा हुआ है (अभिहड) सामने लाया हुआ है (आहट्टु) उसे अपने घर से लाकर (चेएसि) देना चाहते हो (वा) अथवा (आवसह) मकान (समुस्सिणासि) बनवाना चाहते हो एवं मकान का संस्कार कराना चाहते हो। (से) क्योंकि (आउसतो गाहावई) हे आयुष्यमन् गाथापति! हमें (एयस्स) इन कार्यों को (अकरणयाए) न करने की प्रतिज्ञा किया हुआ (विरओ) विरत हूँ अर्थात् मैंने आरम्भादि का तीन करण तीन योग से त्याग कर दिया है ॥१६६॥

भावार्थः—साधु सर्व सावद्य योगो का त्यागी होता है। वह ४२ दोषो को टाल कर भिक्षा ग्रहण करके अपना निर्वाह करता है। उस साधु से यदि कोई गृहस्थ यह कहे कि—मैंने आपको देने के लिए आहारादि बनाया है, खरीदा है या किसी से उधार लिया है या छीनकर रखा है या दूसरे का आहार मेरे पास रखा है या आपको देने के लिए मैं अपने घर से आहारादि लाया हूँ तथा आपके लिए मैंने घर बनवाया है एव मकान की मरम्मत कराई है। अतः आप उस आहारादि को ग्रहण करें और उस मकान मे रहें तो साधु उस दाता की प्रार्थना को स्वीकार न करे। वह कहे कि—मै समस्त सावद्य कार्यों से तथा अनुष्ठानो से निवृत्त हो चुका हूँ, मैंने आरम्भादि पाप कार्यों का तीन करण तीन योग से त्याग कर दिया है।

से भिक्खू परक्कमिज्ज वा जाव हुरत्था वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंच्छणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ जाव आहट्टु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाइ तं भिक्खू परिघासिउं, तं य भिक्खू जाणिज्जा सह सम्मइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा सुच्चा—अयं खलु गाहावई मम अट्ठाए असणं वा वत्थ वा पाणाइं समारब्भ जाव आवसहं वा समुस्सिणाइ, तं य भिक्खू संपडिलेहाए आगमित्ता अणविज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि ॥२००॥

अन्वयार्थः—(से) वह (भिक्खू) साधु (परक्कमिज्ज) कहीं जा रहे हों (वा) अथवा श्मशानादि में स्थित हों (जाव) यावत् (हुरत्था) अन्यत्र (कहिंचि) कहीं (विहरमाण) विहार कर रहा हो तो (त) उस (भिक्खु) साधु के (उवसकमित्तु) पास आकर (गाहावई) कोई गाथापति (आयगयाए पेहाए) अपने मन की इच्छा से (असण) अशन (पाण) पान (जाव) यावत् (वत्थ) वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोंच्छन आदि (पाणाइ) प्राणी (भूयाइं) भूत (जीवाइं) जीव (सत्ताइं) सत्त्वों का (समारब्भ) आरंभ करके तैयार करे और (भिक्खु) साधु को (परिघासिउ) खिलाने के लिए (आहट्टु) अपने घर से लाकर (चेएइ) देवे (वा) तथा (आवसह) मकान का (समुस्सिणाइ) संस्कार करावे या मकान बनवावे तो यदि (भिक्खू) साधु (त) उसे (सह सम्मइयाए) अपनी बुद्धि से (वा) या (परवागरणेण) दूसरों के कहने से (वा) अथवा (अण्णेसिं) दूसरों से (सुच्चा) सुन कर (जाणिज्जा) जान लेवे कि—(खलु) निश्चय ही (अय) इस (गाहावई) गाथापति ने (मम अट्ठाए) मेरे लिए (असण) अशन पान आदि (वा) तथा (वत्थ) वस्त्र पात्र आदि (पाणाइ) प्राणी भूत जीव सत्त्व का (समारब्भ) आरभ करके बनवाये हैं (जाव) यावत् (आवसह) मकान का (समुस्सिणाइ) संस्कार कराया या मकान बनवाया है तो (भिक्खू) साधु (त)

उसे (पडिलेहाए) विचार कर (य) और (आगमित्ता) जान कर (अणासेवणाए) उसे सेवन न करने के लिए (आणविज्जा) गृहस्थ को आज्ञा देवे अर्थात् गृहस्थ से कहे कि—इस प्रकार तैयार किये हुए अशनादि तथा मकान आदि को भोगना हम साधुओं का कल्प नही है ॥ २०० ॥

भावार्थः—यदि कोई गृहस्थ प्राणियों का आरम्भादि करके साधु के निमित्त अशनादि तय्यार करे और मकानादिका सस्कार करावे या मकानादि बनवावे और फिर उस आहार को ग्रहण करने के लिए तथा उस मकान मे ठहरने के लिए साधु से प्रार्थना करे तो साधु अपनी बुद्धि से अथवा तीर्थङ्करोक्त उपाय से या उसके परिजनादि के कथन से यह जान जाय कि—इस गृहस्थ ने यह अशनादि मेरे लिए तय्यार किये हैं और मेरे लिए मकान बनवाया है या मकान का सस्कारादि कराया है तो साधु उस गृहस्थ से कहे कि—इस तरह हमारे निमित्त से तय्यार किये हुए अशनादि और मकानादि को भोगना हम साधुओं के कल्प से विरुद्ध है।

भिक्खुं य खलु पुट्ठा वा अपुट्ठा वा जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति, से हंता हणह खणह छिंदह दहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसाकारेह विप्परामुसह, ते फासे धीरो पुट्ठो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे, तक्किया णम-णेलिसं अदुवा वइगुत्तीए गोयरस्स अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहए आयगुत्ते बुद्धेहिं एयं पवेइयं ॥२०१॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (इमे) ये कोई गृहस्थ (खलु) निश्चय ही (भिक्खुं) साधु को (पुट्ठा) पूछ कर (वा) अथवा (अपुट्ठा) विना पूछे ही (आहच्च गथा) द्रव्य खर्च करके आहारादि तय्यार करके साधु को देना चाहते है किन्तु साधु इस बात को जान लेने पर

उस आहारादि को ग्रहण करने से इन्कार कर देता है तब क्रोधावेश में होकर (फुसति) वे साधु को कष्ट देते हैं (से) वे स्वयं (हता) हनन करते हैं (य) और दूसरों से कहते हैं कि (हणह) इसे मारो (खणह) इसे जान से मारो (भिंदह) इसे भेदन करो (दहह) जलाओ (पयह) पकाओ (आलुंपह) इसके वस्त्र आदि लूट लो (विलुंपह) इसका सर्वस्व हर लो (सहसाकारेह) इसको शीघ्र घात कर डालो (विप्परामुसह) इसको नाना प्रकार से पीड़ित करो। (ते) उन उपरोक्त (फासे) स्पर्शों को यानी परीषहों को (पुट्ठो) प्राप्त कर (वीरो) धीर पुरुष (अहियासए) समभाव पूर्वक सहन करे। (अदुवा) और (ण) उस पुरुष की (तक्किया) योग्यता का विचार करके (आयारगोयर) साधुओं के आचार आदि का (आइक्खे) कथन करे (अदुवा) अथवा (अणेलिस) अन्यसदृश अर्थात् परपक्ष खण्डन पूर्वक स्वपक्ष स्थापना रूप तत्त्व का कथन करे (अदुवा) अथवा (वइगुत्तीए) वचन गुप्ति करे यानी मौन रहे। इस प्रकार (आयगुत्ते) आत्मगुप्त साधु (अणुपुव्वेण) अनुक्रम से (गोयरस्स) पिण्डविशुद्धि का (सम्मं) सम्यक् प्रकार से (पडिलेहए) निरन्तर उपयोग रखे (एय) यह (बुद्धेहिं) बुद्ध यानी तत्त्वज्ञ पुरुषों ने (पवेइय) कहा है ॥ २०१ ॥

भावार्थः—कितनेक भद्र लोग साधु के आचार की अनभिज्ञता के कारण साधु के निमित्त अशनादि तय्यार कराते हैं किन्तु जब साधु को इस बात का पता लग जाता है तो वह उस अशनादि को ग्रहण नहीं करता है तब वे कुपित हो जाते हैं और साधु को नाना प्रकार से कष्ट देते हैं। उस समय साधु को चाहिए कि उन कष्टों को धैर्य और समभाव पूर्वक सहन करे परन्तु अपने सयम मे किसी प्रकार का दोष न आने देवे। यदि अवसर हो तो साधु उस पुरुष को समयानुसार उपदेश देवे अन्यथा मौन रह कर उन परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। ऐसा मुनि शीघ्र ही ससारसागर से पार हो जाता है, ऐसा श्री तीर्थङ्कर भगवान् को फरमाया है ॥

से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं वा जाव णो पाइज्जा णो णिमंतिज्जा णो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि ॥ २०२ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह (समणुण्णे) समनोज्ञ यानी तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाला साधु (असमणुण्णस्स) असमनोज्ञ यानी कुशीलादि को (असणं) अशन (जाव) यावत् वस्त्र पात्रादि (णो पाइज्जा) न देवे और (णो णिमंतिज्जा) देने के लिए आमन्त्रण भी न करे तथा (परं आढायमाणे) अत्यन्त आदर करता हुआ (वेयावडिय) उसकी वैयावच्च (णो कुज्जा) न करे ॥ २०२ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् की आज्ञा का पालन करने वाला शुद्ध संयमी साधु कुशीलादि को आहार पानी न दे और उनकी सेवा भी न करे ॥

धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा जाव कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्ति बेमि ॥ २०३ ॥

अन्वयार्थः—(समणुण्णे) समनोज्ञ साधु (समणुण्णस्स) समनोज्ञ साधु को (असणं) अशन (जाव) यावत् वस्त्र पात्रादि देवे और (परं आढायमाणे) अत्यन्त आदर करता हुआ (वेयावडिय) वैयावच्च (कुज्जा) करे। (मइमया) केवलज्ञानी (माहणेण) भगवान् महावीर ने (धम्म) यह धर्म (पवेइय) फरमाया है (आयाणह) इसे तुम जानो ॥ २०३ ॥

भावार्थः—तीर्थङ्कर भगवान् ने फरमाया है कि शुद्ध संयम का पालन करने वाला साधु दूसरे अपने साम्भोगिक साधु को आहारादि देवे और उनकी वैयावच्च भी करे ॥

॥ इति आठवें अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक

दूसरे अध्ययन में अकल्पनीय आहार को ग्रहण करने का निषेध किया गया है। उस अकल्पनीय आहार को देने वाले दाता के प्रति शुद्ध दान देने की शिक्षा देकर उसके संशय को दूर करना गीतार्थ साधु का कर्तव्य है। यह इस उद्देशक में बताया जाता है —

मज्झिमेणं वयसावि एगे संबुज्झमाणा समुट्ठिया, सुच्चा, मेहावी वयणं पंडियाणं णिसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ते अणवकंखमाणा अणइवाएमाणा अपरिग्गहेमाणा णो परिग्गहावंति सव्वावंति य णं लोगंसि णिहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए, ओए जुइमस्स खेयण्णे उववायं चवणं य णच्चा ॥२०४॥

अन्वयार्थः—(एगे) कोई (मज्झिमेणं) मध्यम (वयसावि) अवस्था में (संबुज्झमाणा) बोध को प्राप्त होकर (समुट्ठिया) धर्माचरण करने के लिए उद्यत होते हैं। (मेहावी) मर्यादा में स्थित बुद्धिमान पुरुष (पंडियाणं) पण्डित यानी तीर्थङ्कर भगवान् के (वयणं) वचनों को (सुच्चा) सुन कर और (णिसामिया) निश्चय करके उन पर दृढ रहे और समभाव को स्वीकार करे। (आरिएहिं) आर्य पुरुषों ने (समियाए) समभाव से (धम्मे) धर्म (पवेइए) फरमाया है। (ते) वे (अणवकंखमाणा) कामभोग की इच्छा न करते हुए तथा (अणइवा-एमाणा) प्राणियों का अतिपात न करते हुए और (अपरिग्गहेमाणा) परिग्रह का सेवन न करते हुए (सव्वावंति) सम्पूर्ण (लोगंसि) लोक में (णो परिग्गहावंति) परिग्रह रहित होते हैं। (पाणेहिं) प्राणियों को (दंडं) दण्ड देना (णिहाय) छोड़ कर (पावं) पाप (कम्मं) कर्म (अकुव्व-

माणे) न करता हुआ (एस) यह पुरुष (मह) महान् (अगये) ग्रन्थ रहित (वियाहिए) कहा गया है। (उववायं) देवलोक मे भी उपपात (य) और (चवण) च्यवन होता है (णच्चा) इस बात को जान कर (ओए) रागद्वेष रहित और (जुइमस्स खेयणे) संयम पालन मे निपुण पुरुष सदा पापकार्य से पृथक् रहे ॥ २०४ ॥

भावार्थः—मुमुक्षु पुरुष तीर्थङ्कर के वचनों को सुन कर तथा निश्चय करके समता को स्वीकार करे क्योकि तीर्थङ्कर भगवान् ने समभाव से ही श्रुत चारित्र रूप धर्म का कथन किया है। अत समभाव से सम्पन्न, कामभोग की इच्छा न करने वाला और प्राणियो को दण्ड न देने वाला यावत् अठारह पाप का त्यागी पुरुष तीर्थङ्करो द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि से रहित कहा गया है। अतः संयम के अनुष्ठान मे निपुण पुरुष सब स्थानों को विनाशी जान कर सदा पापकर्म से पृथक् रहे ॥

आहारोवचया देहा परीसहपभंगुरा पासह एगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं ॥ २०५ ॥

अन्वयार्थः—(देहा) शरीर (आहारोवचया) आहार से वृद्धि को प्राप्त होते है और (परीसहपभंगुरा) परीषह से भङ्ग को प्राप्त होते हैं। (एगे) कितनेक पुरुष परीषहों के आने पर (सव्विंदिएहिं) सब इन्द्रियो से (परिगिलायमाणेहिं) ग्लानि को प्राप्त होते हैं अर्थात् उनकी इन्द्रियां शिथिल हो जाती है ॥ २०५ ॥

भावार्थः—आहार से शरीर की वृद्धि होती है और आहार के अभाव में शरीर म्लान हो जाता है एव परीषह से शरीर का भङ्ग हो जाता है। परीषहो के आने पर कितनेक लोग कायर हो जाते हैं, उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है भूख और प्यास से पीडित होकर वे पुरुष देखने सुनने और सूंघने में भी असमर्थ हो जाते हैं किन्तु वीर पुरुष को धैर्य के साथ परीषहों को सहन करना चाहिए ॥

ओए दयं दयइ, जे सरिणहाणसत्थस्स खेयएणे से भिक्खू कालएणे बलएणे मायएणे खणएणे विणयएणे समयएणे परिग्गहं अममायमाणे कालेण उट्ठाई अपडिएणे दुहओ छित्ता णियाइ ॥ २०६ ॥

अन्वयार्थः—(ओए) रागद्वेष रहित पुरुष (दयं) दया ही (दयइ) करता है। (जे) जो (भिक्खू) साधु (सरिणहाणसत्थस्स) कर्मों के स्वरूप को बतलाने वाले शास्त्र के ज्ञान में (खेयएणे) निपुण है (से) वह (कालएणे) अवसर को जानने वाला (बलएणे) बल को जानने वाला (मायएणे) मात्रा यानी परिमाण को जानने वाला (खणएणे) क्षण को जानने वाला (विणयएणे) विनय को जानने वाला (समयएणे) समय को जानने वाला है। वह (परिग्गह) परिग्रह पर (अममायमाणे) ममत्व न करता हुआ (कालेण) काल से (उट्ठाई) उठने वाला (अपडिएणे) प्रतिज्ञा रहित यानी किसी भी प्रकार के नियाणे से रहित (दुहओ) बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों को (छित्ता) छेदन करके (णियाइ) संयम मार्ग में गमन करता है ॥ २०६ ॥

भावार्थः—वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला रागद्वेष रहित पुरुष सब अवस्थाओं में प्राणियों पर दया ही करता है। काल, बल, परिमाण, क्षण, विनय और समय यानी आगम को जानने वाला वह पुरुष किसी भी पदार्थ पर ममत्व भाव न रखता हुआ संयम मार्ग में भलीभांति विचरता है ॥

तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता गाहावई बूया—आउसंतो समणा ! णो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ? आउसंतो गाहावई ! णो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं य णो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए, णो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा पज्जालित्तए वा कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अण्णेसिं

वा वयणाओ, सिया से एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ज वा पयाविज्ज वा तं य भिक्खू पडिलेहाए आगविज्जा अणासेवणाए त्तिबेमि ॥ २०७ ॥

अन्वयार्थः—(सीयफासपरिवेवमाणगाय) शीत के स्पर्श से यानी ठण्ड के मारे जिसका शरीर कांप रहा है ऐसे (त) उस (भिक्खु) साधु के (उवसकमित्ता) पास आकर (गाहावई) यदि कोई गाथापति (बूया) इस प्रकार पूछे कि (आउसतो समणा) हे आयुष्मन् श्रमण ! क्या (ते) आपको (गामधम्मा) ग्रामधर्म यानी विषय तो (णो उव्वाहति) पीड़ित नहीं कर रहे हैं ? तो साधु उत्तर देवे कि (आउसतो गाहावई) हे आयुष्मन् गाथापति ! (खलु) निश्चय ही (मम) मुझे (गामधम्मा) विषय (णो उव्वाहति) पीड़ित नहीं कर रहे हैं किन्तु (खलु) निश्चय ही (अह) मैं (सीयफास) शीतस्पर्श को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए (णो संचाएमि) समर्थ नहीं हूँ। (अगणिकाय) अग्निकाय को (उज्जालित्तए) किञ्चित् जलाना (वा) अथवा (पज्जालित्तए) विशेष रूप से प्रवज्वलित करना (वा) और (काय) अपने शरीर को अग्निकाय द्वारा (आयावित्तए) किञ्चित् ताप देना (वा) अथवा (पयावित्तए) विशेष रूप से ताप देना (वा) तथा (अण्णेसिं) दूसरों के (वयणाओ) वचन से ऐसा करना (वा) अथवा वचन द्वारा दूसरों से ऐसा करवाना (खलु) निश्चय ही (मे) मुझको (ण कप्पइ) नहीं कल्पता है। (सिया) शायद (से) वह (परो) अन्य पुरुष (एव) उपरोक्त प्रकार से (वयंतस्स) कहते हुए साधु के लिए (अगणिकाय) अग्निकाय को (उज्जालित्ता) किञ्चित् जला कर (वा) अथवा (पज्जालित्ता) विशेष रूप से जला कर (काय) साधु के शरीर को (आयाविज्ज) किञ्चित् ताप दे (वा) या (पयाविज्ज) विशेष रूप से ताप दे तो (भिक्खू) साधु (त) उस बात को (पडिलेहाए) विचार कर (य) और (आगमित्ता) जान कर (अणासेवणाए) उसे सेवन न करने के लिए (आणविज्ज) उसे आज्ञा दे अर्थात् उससे यह कहे कि इस प्रकार अग्नि-

काय का सेवन करना मुझे नहीं कल्पता है (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २०७ ॥

भावार्थः—शीतकाल में सर्दी के कारण यदि किसी मुनि का शरीर कांप रहा हो तो उसे देख कर यदि कोई गृहस्थ मुनि से यह पूछे कि हे मुने ! आपका शरीर क्यों कांप रहा है ? क्या आपको विषय तो नहीं सता रहा है ? तो मुनि उस गृहस्थ को स्पष्ट उत्तर दे कि हे देवानुप्रिय ! मुझे विषय नहीं सता रहा है किन्तु ठण्ड से मेरा शरीर कांप रहा है। मुनि के इन वचनों को सुन कर यदि वह गृहस्थ अग्नि जला कर साधु के शरीर को ताप देना चाहे तो मुनि उससे कहे कि हे देवानुप्रिय ! स्वयं अग्नि को प्रज्वलित करना और उसके द्वारा शरीर को ताप देना मुझे नहीं कल्पता है इसी प्रकार दूसरों से अग्नि प्रज्वलित करवाना भी मुझे नहीं कल्पता है क्योंकि अग्निसेवन करना हम साधुओं के आचार के विरुद्ध है। इसलिए मैं अग्नि सेवन नहीं कर सकता हूँ ॥

॥ इति आठवें अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का चौथा उद्देशक

तीसरा उद्देशक कहा जा चुका है। अब चौथे उद्देशक में यह बताया जाता है कि स्त्री आदि का परीषह उत्पन्न हो तो साधु वैहायस या गृद्धपृष्ठ मरण को स्वीकार करे और यदि कारण न हो तो वैसा न करे ॥

जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायचउत्थेहिं, तस्स णं णो एवं भवइ 'चउत्थं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिज्जा, णो धोइज्जा, णो रइज्जा, णो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्जा अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं ॥ २०८ ॥

अन्वयार्थः--(जे) जो (भिक्खू) साधु (तिहिं) तीन (वत्थेहिं) वस्त्र और (पायचउत्थेहिं) चौथा पात्र (परिवुसिए) इन उपाधियों के साथ रहता है (तस्स णं) उसको (एवं) इस प्रकार का विचार (णो भवइ) नहीं होता है कि मैं (चउत्थं) चौथे (वत्थं) वस्त्र की (जाइस्सामि) याचना करूँगा। (से) वह साधु (अहेसणिज्जाइं) एषणा के अनुसार (वत्थाइं) वस्त्र की (जाइज्जा) याचना करे और (अहापरिग्गहियाइं) जैसा वस्त्र ग्रहण किया है वैसा ही (धारिज्जा) धारण करे। (णो धोइज्जा) उन वस्त्रों को धोवे नहीं (णो रइज्जा) रंगे नहीं और (धोयरत्ताइं) धोए हुए तथा रंगे हुए अथवा पहले धोकर पीछे रंगे हुए (वत्थाइं) वस्त्रों को (णो धारिज्जा) धारण नहीं करे (गामंतरेसु) दूसरे ग्राम में जाता हुआ साधु (अपलिउंचमाणे-अपलिओवमाणे) अपने वस्त्रों को न छिपाता हुआ तथा (ओमचेलिए) अल्प मूल्य वाले वस्त्रों को धारण करता हुआ जावे। (खु) निश्चय ही (वत्थधारिस्स) वस्त्रधारी साधु की (एयं) यही (सामग्गियं) सामग्री है ॥ २०८ ॥

भावार्थः—जो प्रतिमाधारी साधु तीन वस्त्रों को धारण करने का नियम रखता है उसे शीत आदि के समय तीन वस्त्रों से ही संतोष रखना चाहिए, चौथे वस्त्र को मांगने की कभी इच्छा न करनी चाहिए। उसे वस्त्रों को न धोना चाहिए और न रङ्गना चाहिए। ग्रामादि में जाते समय वस्त्रों को छिपाना न चाहिए। उसे अल्पपरिमाण और अल्पमूल्य वाले ही वस्त्र रखना चाहिए॥

अह पुण एवं जाणिज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवण्णे अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले॥ २०९॥

अन्वयार्थः—(अह) अथ जब (पुणो) फिर साधु (एवं) ऐसा (जाणिज्जा) जाने कि (खलु) निश्चय ही अब (हेमंते) हेमन्त ऋतु (उवाइक्कंते) बीत गई है और (गिम्हे) ग्रीष्म ऋतु (पडिवण्णे) आगई है तो (अहापरिजुण्णाइं) जीर्ण (वत्थाइं) वस्त्रों को (परिट्ठविज्जा) त्याग देवे (अदुवा) अथवा (संतरुत्तरे) उन वस्त्रों को कभी ओढ़े और कभी बगल में रखे (अदुवा) अथवा (ओमचेले) एक वस्त्र को त्याग दे (अदुवा) अथवा फिर दूसरे को भी त्याग कर (एगसाडे) एक ही रखे (अदुवा) अथवा इसके पश्चात् (अचेले) उस एक वस्त्र को भी त्याग देवे॥ २०९॥

भावार्थः—शीत निवारण करने के लिए साधु ने जिन वस्त्रों को ग्रहण किया है यदि वे वस्त्र दूसरे वर्ष के शीतकाल तक टिक सकते हों तब तो उन्हें वह अपने पास रखे, परन्तु यदि वे जीर्ण हो गये हों तो वह उन्हें त्याग दे॥

लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमण्णागए भवइ॥ २१०॥

अन्वयार्थः—साधु अपने आपको (लाघवियं आगममाणे) हल्का करता हुआ वस्त्र का त्याग करे। वस्त्र परित्याग से (से) साधु को (तवे) तप की (अभिसमण्णागए भवइ) प्राप्ति होती है॥ २१०॥

भावार्थः—जहां तक हो सके साधु को हल्का रहने का प्रयत्न करना चाहिए। वस्त्र का त्याग करने से कायाक्लेश रूप तप की प्राप्ति होती है ॥

जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिज्जा ॥ २११ ॥

अन्वयार्थः—(भगवया) तीर्थङ्कर भगवान् ने (जमेयं) जो कुछ (पवेइयं) फरमाया है (तमेव) उसी को (अभिसमिच्चा) जान कर (सव्वओ) सब ओर से (सव्वत्ताए) सब प्रकार से (सम्मत्तमेव) समभाव का ही (समभिजाणिज्जा) सेवन करना चाहिए ॥ २११ ॥

भावार्थः—श्री तीर्थङ्कर भगवान् ने साधु के लिए जो आचरण बताया है उसे भलीभांति जान कर साधु समभाव से रहे। वस्त्रयुक्त हो या वस्त्ररहित हो दोनो ही अवस्था मे समान परिणाम रखे ॥

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो खलु अहमंसि णालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणयाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए, से वि तत्थ विअंतकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि ॥ २१२ ॥

अन्वयार्थः—(केइ) किसी के द्वारा (अकरणयाए आउट्टे) उपवर्ग किये जाने पर (जस्स णं) जिस (भिक्खुस्स) साधु को (एवं) ऐसा विचार (भवइ) होता है कि (खलु) निश्चय ही (अहं) मै (पुट्ठो असि) दुःखों से आक्रान्त हो गया हूँ (अहं) मैं (सीयफासं) शीतस्पर्श को यानी कामबाधा को (अहियासित्तए) सहन करने मे (अलं) समर्थ (ण असि) नहीं हूँ तो (सव्वसमण्णागयपण्णाणेण अप्पाणेण) समस्त ज्ञानों से युक्त आत्मा वाला होने के कारण अर्थात् द्रव्य क्षेत्र काल भाव का विचार करके (से) वह (वसुमं) चारित्रवान् साधु (एगे)

अकेला ही (विह) वेहायस मरण को (आइए) स्वीकार करे (ग) क्योंकि (हु) निश्चय ही (तवस्सिणो) उस तपस्वी साधु के लिए (तं) ऐसा करना ही (सेय) श्रेष्ठ है किन्तु चारित्र को दूषित न करे। (तस्स) उसके लिए (तत्थावि) वह मरण भी (कालपरियाए) काल का ही पर्याय है। (तत्र) उस मरण से (सं ति) मरने वाला वह (विअंतकारए-विअंतिकारए) कर्मों का अन्त करने वाला है। (इच्चेय) यह मरण भी (विमोहायतण) मोह रहित पुरुषों का आश्रय है। अवसर युक्त यह मरण (हिय) हितकारक (सुह) सुख कारक (खमं) यानी युक्त (णिस्सेस) निःश्रेयस अर्थात् कर्मक्षय का कारण और (आणुगामिय) पुण्य का फल है (ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २१२ ॥

भावार्थः—अल्पशक्ति होने के कारण जिस साधु के मन में ऐसा विचार उत्पन्न हो कि—मुझको रोग उत्पन्न हो गया है जिससे मैं बहुत कष्ट पा रहा हूँ अथवा काम जनित बाधा मुझे पीड़ित कर रही है जिसको सहन करने में मैं समर्थ नहीं हूँ अथवा स्त्री मेरे चारित्र को नष्ट करना चाहती है, मैं इनसे अपने चारित्र की रक्षा करने में समर्थ नहीं हूँ। ऐसे समय में साधु वैहायस आदि अप-वाद मरण को स्वीकार करे किन्तु चारित्र को दूषित न करे क्योंकि चारित्र को दूषित करने की अपेक्षा मरण ही श्रेयस्कर है। यद्यपि वैहायसादि मरण को बालमरण कहा है तथापि द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से वही पण्डितमरण भी हो जाता है। अतः उक्त अवसर में वैहायसादि मरण भी भारी गुण के लिए होता है। इस मरण से भी उनका हित, सुख और कर्मों का क्षय होता है। अतः यह मरण अवसर प्राप्त है ॥

॥ इति आठवें अध्ययन का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का पाँचवाँ उद्देशक

चौथे उद्देशक में वैहायसादि मरण बताये गये हे । अब इस पांचवें उद्देशक में भक्तपरिज्ञा मरण बताया जाता है:—

जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायतइएहिं तस्स णं णो एवं भवइ—तइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाइज्जा जाव एवं खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं, अह पुण एवं जाणिज्जा उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवण्णे, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अहापरिजुण्णाइं परिट्ठवित्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमण्णागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया । जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ पुट्ठो अबलो अहमंसि णालमहगंसि गिहंतरसंकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलइज्जा, से पुव्वामेव आलोइज्जा आउसंतो गाहावई ! णो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भुत्तए वा पायए वा अण्णे वा एयप्पगारे ॥२१३॥

अन्वयार्थ:—(जे) जो (भिक्खू) साधु (दोहिं) दो (वत्थेहिं) वस्त्र और (पायतइएहिं) तीसरा पात्र (परिवुसिए) रखने का नियम रखता है (तस्स णं) उसको (एवं) ऐसा (णो) नहीं (भवइ) होता है कि मै (तइयं) तीसरे (वत्थं) वस्त्र की (जाइस्सामि) याचना करूंगा उस साधु को चाहिए कि (से) वह (अहेसणिज्जाइं) एषणा के अनुसार ही (वत्थाइं) वस्त्रों की (जाइज्जा) याचना करे (खु) निश्चय ही

(एव) इस तरह से (तस्स) उस (भिक्खुस्स) साधु की (सामग्गिय) यही सामग्री है। (अह) इसके पश्चात् (पुण) फिर वह साधु (एव) यह (जाणिज्जा) जाने कि (खलु) निश्चय ही अथ (हेमंते) हेमन्त ऋतु (उवाइक्कते) व्यतीत हो गई है और (गिम्हे) ग्रीष्म ऋतु (पडिवण्णे) आगई है तो वह (अहापरिजुण्णाइं) जीर्ण (वत्थाइं) वस्त्रों को (परिट्ठविज्जा) त्याग देवे (अहापरिजुण्णाइं) जीर्ण वस्त्रो को (परिट्ठवित्ता) त्याग कर रहे (अदुवा) अथवा (संतरुत्तरे) शीत के समय वस्त्रों को ओढे और दूसरे समय मे उन्हे पास मे रखे (अदुवा) अथवा (ओमचेले) अवमचेलक अर्थात् क्रमशः एक को कम करता हुआ (अदुवा) अथवा (एगसाडे) एक वस्त्र वाला (अदुवा) अथवा (अचेले) उसको भी त्याग कर वस्त्ररहित हो जाय। वह अपने को (लाघविय) लघु-हलका (आगममाणे) बनाता हुआ रहे। इस प्रकार (से) उसको (तवे) तप की (अभिसमण्णागए) प्राप्ति होती है (भगवया) तीर्थंकर भगवान् ने (ज) जो (एय) यह (पवेइय) फरमाया है (तमेव) उसी को (अभिसमिच्चा) जानकर (सव्वओ) सब ओर से (सव्वताए) सब प्रकार से (सम्मत्तमेव) समभाव को ही (समभिजाणिया) स्वीकार करे। (जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु को (एव) ऐसा विचार (भवइ) होता है कि (अह) मै (पुट्ठो) रोगादि से आक्रान्त होने के कारण (अबलो) निर्बल (अंसि) हूँ। (अह) मै (गिहतरसंकमण) एक से दूसरे घर मे तथा (भिक्खायरिय) भिक्षाचरी के लिए (गमणाए) जाने में (अल) समर्थ (ण) नही (अ सि) हूँ (एव) इस प्रकार (वयतस्स) कहते हुए (से) उस साधु से सुनकर (परो) यदि कोई (अभिहड) जीवों के आरम्भ से बने हुए (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) खादिम (साइम) स्वादिम (आहट्टु) लाकर (दलइज्जा) उसे देने लगे तो (से) वह (पुव्वामेव) पहले ही (आलोइज्जा) निषेध करदे कि (आउसंतो) हे आयुष्मन् (गाहावई) गाथापति ! (मे) मुझे (अभिहड) दूसरे का लाया हुआ (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) खादिम (साइम) स्वादिम (वा) और (एयप्पगारे-तहप्पगारे) इसी प्रकार (अण्णे) दूसरे पदार्थ भी (णो कप्पइ) नहीं कल्पते हैं ॥२१३॥

भावार्थः—जो जिनकल्पी साधु दो वस्त्र और तीसरा पात्र रखता है उसको तीसरा वस्त्र मागना नही कल्पता है। वह साधु यदि रोगादि से पीडित होकर एक घर से दूसरे घर मे जाने के लिए तथा भिक्षा के लिए जाने मे समर्थन हो, उसके मुख से यह बात सुन कर यदि कोई गृहस्थ भक्तिवश होकर उसके लिए आहारादि लाकर देवे तो वह साधु उसे स्वीकार न करे। वह उसको समझा कर कह देवे कि—इस प्रकार का आहार अथवा दूसरी वस्तु ग्रहण करना मुझे नही कल्पता है ॥

जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे अहं य खलु पडिएणत्तो अपडिएणत्तेहिं गिलाणो अगिलाणेहिं अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, अहं वावि खलु अपडिएणत्तो पडिएणत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए आहट्टु परिएणं आणक्खिस्सामि आहडं य साइज्जिस्सामि, आहट्टु परिएणं आणक्खिस्सामि आहडं य णो साइज्जिस्सामि, आहट्टु परिएणं णो आणक्खिस्सामि आहडं य साइज्जिस्सामि, आहट्टु परिएणं णो आणक्खिस्सामि आहडं य णो साइज्जिस्सामि, एवं से अहाकिट्टियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहिय—लेसे तत्थावि तस्स कालपरियाए से तत्थ विअंतिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि ॥ २१४ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु का (अयं) यह (पगप्पे) आचार-नियम हो कि—यदि (अहं) मै (गिलाणो) बीमार हो जाऊँ तो (अपडिएणत्तेहिं) बिना आज्ञा दिये हुए अर्थात् मेरे न कहने पर भी (अगिलाणेहिं) ग्लानि रहित (साहम्मिएहिं) साधर्मिक साधुओं के द्वारा (अभिकख) निर्जरा की इच्छा से (कीरमाण) की हुई (वेयावडियं) वैयावच्च को (पडिएणत्तो) उनके द्वारा कहने पर

(साइज्जिस्सामि) मै स्वीकार करूँगा। किसी साधु को ऐसा नियम होता है कि (अह) मे (वावि) भी (अगिलाणो) ग्लानि रहित यानी स्वस्थ होऊ तव (अपडिण्णत्तो) आज्ञा न दिया हुआ अर्थात् दूसरों के विना कहे ही (पडिण्णत्तस्स) कहे हुए (गिलाणस्स) ग्लान यानी वीमार (साहम्मियस्स) साधर्मिक साधु की (वेयावडिय) वैयावच्च (अभिकख) निर्जरा की इच्छा से (करणाए) उसका उपकार करने के लिए (कुज्जा) करूँगा। कोई प्रतिज्ञा करता है कि (परिण्ण) प्रतिज्ञा (आहट्टु) करके (आणक्खिस्सामि–अणुक्खिस्सामि) मै दूसरे साधर्मिक के लिए आहारादि का अन्वेषण करूँगा (य) और (आहडं) दूसरे साधर्मिक द्वारा लाये हुए आहारादि को स्वीकार करूँगा। कोई यह प्रतिज्ञा करता है कि (परिण्ण) प्रतिज्ञा (आहट्टु) करके (आणक्खिस्सामि) दूसरे साधर्मिक के लिए आहारादि का अन्वेषण करूँगा परन्तु (आहड) दूसरे के द्वारा लाये हुए आहार आदि को (णो साइज्जिस्सामि) नही भोगूँगा। कोई ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि (परिण्ण) प्रतिज्ञा (आहट्टु) करके (णो आणक्खिस्सामि) मै दूसरे साधर्मिक के लिए आहारादि का अन्वेषण नही करूँगा परन्तु (आहड) दूसरे साधर्मिक द्वारा लाये हुए आहारादि को (साइज्जिस्सामि) भोगूँगा। (परिण्ण) प्रतिज्ञा (आहट्टु) करके (णो आणक्खिस्सामि) मै दूसरे साधर्मिक के लिए आहारादि का अन्वेषण नही करूँगा (य) और (आहड) दूसरे साधर्मिक द्वारा लाये हुए आहारादि को (णो साइज्जिस्सामि) मै नही भोगूँगा। (एव) इस प्रकार (से) वह (अहाकिट्टियमेव) अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार (धम्म) धर्म का (समभिजाणमाणे) सेवन करता हुआ (सते) शान्त (विरए) विरत और (सुसमाहियलेसे) शुभ लेश्या वाला होकर प्रतिज्ञा का पालन करे। (तत्थावि) प्रतिज्ञा के पालन में असमर्थता होने पर (तस्स) उस साधु के लिए (कालपरियाए) भक्त प्रत्याख्यान द्वारा मृत्यु को प्राप्त करना भी सु-मृत्यु का ही अवसर है। (तत्थ) इस प्रकार मरने वाला (से) वह साधु (विअ तिकारए–विअंतकारए) कर्मों का अन्त करता है। (इच्चेय) यह (विमोहाययण) मोह रहित पुरुषों का आश्रय है (हिय) यह हितकारी (सुहं) सुखकारी (खमं) उचित (णिस्सेसं) कर्मों का त्याग करने वाला (य) और (आणु–

गामियं) पुण्यकारी है (त्ति बेमि) यह मै कहता हूँ ॥ २१४ ॥

भावार्थः—जिस परिहारविशुद्धिक या यथालन्दिक एव पडिमाधारी साधु को ऐसी प्रतिज्ञा हो कि "तपस्या आदि के द्वारा ग्लानि को प्राप्त होने पर मै उसी पुरुष के द्वारा वैयावच्च कराऊँगा जो मेरे विना कहे ही मुझ से कहेगा कि मै निर्जरा की भावना से आपकी सेवा करूँगा तथा वह स्वय तपस्या या रोग आदि से ग्लान न होगा और साधर्मिक होगा।" कोई साधु ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि "मैं तप आदि के द्वारा ग्लानि को प्राप्त दूसरे साधर्मिक का वैयावच्च उसके कहे विना ही अपनी निर्जरा की भावना से करूँगा" ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला साधु अपनी प्रतिज्ञा को पालन करने के लिए अपने प्राणों को भले ही त्याग दे किन्तु प्रतिज्ञा का भङ्ग न करे। ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले मुनियों की एक चतुर्भंगी बतलाई गई है:—

(१) मैं दूसरे ग्लान साधर्मिक की वैयावच्च करूँगा और उसके लिए आहारादि लाऊँगा तथा दूसरे साधर्मिक के द्वारा लाये हुए आहारादि का उपभोग करूँगा। (२) मैं दूसरे साधु के लिए आहारादि लाऊंगा परन्तु दूसरे के द्वारा लाये हुए आहारादि का उपभोग न करूँगा। (३) मै दूसरे के लिए आहारादि नहीं लाऊंगा परन्तु दूसरे के द्वारा लाये हुए आहारादि का उपभोग करूंगा। (४) मैं न तो दूसरे के लिए आहारादि लाऊंगा और न दूसरे के द्वारा लाये हुए आहारादि का उपभोग करूंगा॥

इस प्रकार नाना प्रकार की प्रतिज्ञाओ को स्वीकार करने वाले मुनियों को चाहिए कि दृढ़ता के साथ वे अपनी प्रतिज्ञा का पालन करें॥

॥ इति आठवें अध्ययन का पञ्चम उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का छठा उद्देशक

पाचवे उद्देशक में भक्त प्रत्याख्यान का कथन किया गया है। इस छठे उद्देशक में इंगित-मरण का कथन किया जाता है —

जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए पायबिईएण, तस्स णं णो एवं भवइ बिइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्जं वत्थं जाइज्जा अहापरिग्गहियं वत्थं धारिज्जा जाव गिम्हे पडिवण्णे अहापरिजुण्णं वत्थं परिट्ठविज्जा, परिट्ठवित्ता अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया ॥ २१५ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (भिक्खू) साधु (एगेण) एक (वत्थेण) वस्त्र और (पायबिईएण) दूसरा पात्र इनके साथ (परिवुसिए) रहता है (तस्स णं) उसको (एव) ऐसा विचार (णो भवइ) नहीं होता है कि मैं (बिइय) दूसरे (वत्य) वस्त्र की (जाइस्सामि) याचना करूँगा। (से) वह (अहेसणिज्ज) एषणा के अनुसार (वत्य) वस्त्र की (जाइज्जा) याचना करे और (अहापरिग्गहियं वत्य) जैसा वस्त्र ग्रहण किया गया है अर्थात् मिल गया है वैसा ही (धारिज्जा) धारण करे (जाव) यावत् जब वह देखे कि शीत ऋतु चली गई है और (गिम्हे) ग्रीष्म ऋतु (पडिवण्णे) आगई है तब वह (अहापरिजुण्ण) जीर्ण (वत्य) वस्त्रों को (परिट्ठविज्जा) त्याग देवे। (अदुवा) अथवा (एगसाडे) वह क्रमशः एक वस्त्र वाला (अदुवा) तथा (अचेले) वस्त्र रहित होकर (लाघविय) अपने आप को लघु (आगममाणे) बनाता हुआ (जाव) यावत् (सम्मत्तमेव) सम्यक्त्व को (समभिजाणिया) धारण करे ॥ २१५ ॥

भावार्थः—जिस साधु का यह नियम है कि—एक वस्त्र और एक पात्र को धारण करके अपने सयम जीवन का निर्वाह करता

है उसको दूसरे वस्त्र की याचना करना नही कल्पता है। जब शीत ऋतु व्यतीत हो जाय और ग्रीष्म ऋतु आ जाय तब वह अपने उस फटे हुए वस्त्र को त्याग दे और वस्त्र रहित होकर रहे। इस प्रकार वह अपने आपको लघु-हलका बनाता हुआ समभाव को धारण करे।

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ एगे अहमंसि, ण मे अत्थि कोइ, ण याहमवि कस्सवि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमण्णागए भवइ जाव समभिजाणिया ॥ २१६ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु को (एव) ऐसा विचार (भवइ) होता है कि (अह) मै (एगे) अकेला (असि) हूँ। (मे) मेरा (कोइ) कोई (ण) नही (अत्थि) है (य) और (अहमवि) मैं भी (ण कस्सवि) किसी का नहीं हूँ। (एव) इस प्रकार (से) वह (अप्पाण) अपने को (एगागिणमेव) अकेला ही (समभिजाणिज्जा) जाने। (लाघविय) अपने आपको लघु यानी हलका (आगममाणे) बनाता हुआ (से) वह ऐसा समझे कि ऐसा करने से उसको (तवे) तप की (अभिसमण्णागए) प्राप्ति (भवइ) होती है। (जाव) यावत् (समभिजाणिया) समभाव को ही धारण करे ॥ २१६ ॥

भावार्थः—मोक्षार्थी पुरुष ऐसा विचार करे कि "मै अकेला हूँ, इस अनादि संसार मे भ्रमण करता हुआ मै अनादि काल से चला आ रहा हूँ। मेरा कोई भी वास्तविक सहायक नहीं है और मैं भी किसी के दु ख का नाश करने मे समर्थ नहीं हूँ। संसार के समस्त प्राणी अपने किये हुए कर्मों का फल भोगते है" ऐसा जान कर साधु सुख और दुःख दोनो मे समभाव रखता हुआ वीतराग की आज्ञानुसार शुद्ध सयम का पालन करे ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेमाणे णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिज्जा आसाएमाणे, दाहिणाओ वा हणुयाओ वामं हणुयं णो संचारिज्जा आसाएमाणे, से अणासायमाणे

लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमण्णागए भवइ। जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया ॥ २१७ ॥

अन्वयार्थः—(से) वह (भिक्खू) साधु (वा) अथवा (भिक्खुणी) साध्वी (असणं) अशन (पाणं) पानी (खाइमं) खादिम (साइमं) स्वादिम (आहारेमाणे) यह चार प्रकार का आहार करता हुआ (आसाएमाणे) स्वाद लेने के लिए आहार को (वामाओ) वाएँ (हणुयाओ) हनु यानी दाढ़ से (दाहिणं) दक्षिण यानी दाहिनी (हणुयं) दाढ की ओर (णो संचारिज्जा) संचारित न करे। तथा (आसाएमाणे) स्वाद लेने के लिए (दाहिणाओ) दाहिनी (हणुयाओ) दाढ़ से (वामं) बाईं (हणुयं) दाढ़ की तरफ (णो संचारिज्जा) सञ्चारित न करे। इस प्रकार (से) वह साधु (अणासायमाणे) स्वाद न लेता हुआ आहार करे। (लाघवियं) अपने कर्मों को लघु (आगममाणे) बनाता हुआ स्वाद न लेकर आहार करे। जो साधु स्वाद न लेकर आहार करता है (से) उसे (तवे) तप की (अभिसमण्णागए भवइ) प्राप्ति होती है। (जं) जो (एयं) यह (भगवया) भगवान् ने (पवेइयं) फरमाया है (तमेव) उसी को (अभिसमिच्चा) यथार्थ जान कर (सव्वओ) सब प्रकार से और (सव्वत्ताए) सर्वात्म भाव से (सम्मत्तमेव) समभाव का ही (समभिजाणिया—अभिजाणिया) पालन करे ॥ २१७ ॥

भावार्थः—साधु या साध्वी आहार करते समय स्वाद लेने के लिए आहार को बाईं दाढ़ से दाहिनी दाढ़ की ओर तथा दाहिनी दाढ से बाईं दाढ की ओर सञ्चारित न करे किन्तु गृद्धिभाव रहित होकर आहार करे। इस प्रकार गृद्धिभाव रहित आहार करने से उसे तप की प्राप्ति होती है और कर्मों का क्षय होकर लघुपना प्राप्त होता है। ऐसा साधु सर्वत्र सब प्रकार से समभाव रखता हुआ विचरे ॥

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ से गिलामि य खलु अहं इमम्मि समए णो संचाएमि इमं सरीरगं अणुपुव्वेण परि-वहित्तए, से अणुपुव्वेणं आहार संवट्टिज्जा, अणुपुव्वेणं आहारं संवट्टित्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगा-वयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिणिवुडच्चे ॥ २१८ ॥

अन्वयार्थः--(जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु के चित्त मे (एव) इस प्रकार (भवइ) विचार होता है कि (इमम्मि) इस (समए) समय मे (गिलामि) ग्लान हो गया हूँ। इसलिए (इम) इस (सरीरग) शरीर को (अणुपुव्वेण) अनुक्रम से (परिवहित्तए) धारण करने में एवं संयम की आवश्यक क्रियाओं में प्रवृत्ति कराने में (णो सचाएमि) समर्थ नही हूँ। (से) वह साधु (अणुपुव्वेण) अनुक्रम से (आहार) आहार को (सवट्टिज्जा) त्याग देवे। (अणुपुव्वेण) अनुक्रम से (आहार) आहार को (सवट्टित्ता) त्याग कर (य) और (कसाए) कषाय को (पयणुए) पतला (किच्चा) करके (समाहियच्चे) शरीर के व्यापार को नियमित रखने वाला (फलगावयट्ठी) कर्म क्षपण रूप फल का अर्थी (भिक्खू) साधु (उट्ठाय) मरण के लिए उठ कर (अभिणिवुडच्चे) शरीर के सन्ताप से रहित हो जाय ॥ २१८ ॥

भावार्थः—जिस साधु के मन में यह विचार उत्पन्न हो कि अब मैं ग्लान हो गया हूँ, सयम की आवश्यक क्रियाओं को करने में भी समर्थ नही हूँ, तब वह साधु आहार को त्याग देवे और संलेखना के द्वारा कषायों को पतला करे। इस प्रकार वह साधु अपने शरीर के व्यापार को नियमित रखता हुआ शुद्ध अध्यवसाय रखे। यदि कोई दुर्वचन कहे तो समभाव पूर्वक सहन करे। रोगादि की प्रबलता होने पर अशनादि का प्रत्याख्यान करके इंगित मरण द्वारा शरीर का त्याग कर दे ॥

अणुपविसित्ता गामं वा णयरं वा खेडं वा कब्बडं वा मंडबं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगरं वा आसमं वा

सरिणवेसंसि वा णिगमंसि वा रायहाणिंसि वा तणाइं जाइज्जा तणाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्जा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिंगपणगदग मट्टियमक्कडासंताणए पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय तणाइं संथरिज्जा, तणाइं संथरित्ता इत्थवि समए इत्तरियं कुज्जा, तं सच्चं सच्चवाई ओए तिण्णे छिण्णकहंकहे आईयट्ठे अणाईए चिच्चाण भेउरं कायं संविहूय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणयाए भेरवमणुचिण्णे तत्थावि तस्स कालपरियाए जाव अणुगामियं त्ति बेमि ॥ २१९ ॥

अन्वयार्थः—*(गाम) ग्राम (नयर) नगर (खेड) खेट (कब्बड) कर्बट (मडंब) मडम्ब (पट्टण) पत्तन (दोणमुह) द्रोणमुख (आगर) आकर-आगर (आसमं) आश्रम (सरिणवेस) सन्निवेश (णिगम) निगम (वा) और (रायहाणि) राजधानी में (तणाइं) साधु तृण की (जाइज्जा) याचना करे। (तणाइं) तृणों की (जाइत्ता) याचना करके (से) वह साधु (त) उन तृणादि को (आयाए) लेकर (एगंत) एकान्त

* (१) ग्राम—जहां राज्य की तरफ से अठारह प्रकार का कर (महसूल) लिया जाता हो उसे ग्राम कहते हैं। (२) नगर (नकर) जहा गाय बैल आदि का कर (महसूल) न लिया जाता हो उस बड़ी आबादी को नगर (नकर) कहते हैं। (३) खेड (खेटक) जिस आबादी के चारों ओर मिट्टी का परकोटा हो उसे खेड़ या खेड़ा कहते हैं। (४) कब्बड (कर्बट)—थोड़ी आबादी वाला गांव कर्बट कहलाता है। (५) मडम्ब—जिस गांव से ढाई कोस की दूरी पर दूसरा गांव हो उसे मडम्ब कहते हैं। (६) पाटण (पत्तन) व्यापार वाणिज्य का बड़ा स्थान, जहां सब वस्तुएं मिलती हों उसे पाटण कहते हैं। (७) द्रोणमुख—समुद्र के किनारे की आबादी, जहां जाने के लिए जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्ग हों वह द्रोणमुख (बन्दरगाह) कहलाता है। (८) आगर (आकर)—सोना चांदी आदि धातुओं के निक-

में (अवक्कमिज्जा) चला जाय। (एगत) एकान्त में (अवक्कमित्ता) जाकर (अप्पडे) अण्डे रहित (अप्पमाणे) बेइन्द्रियादि प्राणियों से रहित (अप्पबीए) बीजों से रहित (अप्पहरिए) दूब आदि हरी लीलोती से रहित (अप्पोमे) ओस रहित (अप्पोदए) जल रहित (अप्पुत्तिंगपणगदगम-ट्टियमक्कडासताणए) कीड़ी नगरा, पांच जाति की लीलन फूलन, सचित्त मिट्टी, मकड़ी के जाले आदि से रहित भूमि को (पडिलेहिय पडिलेहिय) नेत्रों से वारवार खूब अच्छी तरह देख कर तथा (पमजिय पमजिय) वार वार खूब अच्छी तरह पूंज कर (तणाइ) तृणों का (संथरिज्जा) सथारा बिछावे। (तणाइ) तृणों का (सथरित्ता) संथारा बिछा कर (इत्थवि) इस (समए) समय मे (इत्तरिय) इङ्गित मरण की (कुज्जा) प्रतिज्ञा करे। (त) यह इङ्गित मरण (सच्च) सत्य-हितकारी है और (सच्चवाई) इसको अगीकार करने वाला सत्यवादी है। वह (ओए) रागद्वेष रहित (तिण्णे) संसार सागर को तिरने वाला (छिण्णकहकहे) रागद्वेषादि की कथा को छेदन करने वाला (आईयट्ठे) जीवादि पदार्थों का ज्ञाता और (अणाईए) संसार सागर को पार करने वाला है। वह (भेउर) इस नश्वर (काय) शरीर को (चिच्चा) त्याग कर और (विरूवरूवे) नाना प्रकार के (परीसहोवसग्गे) परीषह और उपसर्गों को (सविहूय) समभाव पूर्वक सहन करके (अस्सि) इस आर्हत आगम में (विस्सभणयाए) विश्वास होने के कारण (भेरव) भैरव-कठिन (अणुचिण्णे) आचरण करता है। (तत्थावि) रोगादि के

लने की खान को आगर कहते हैं। (९) आश्रम-तपस्वी संन्यासी आदि के ठहरने का स्थान आश्रम कहलाता है। (१०) सन्निवेश—जहा सार्थवाह अर्थात् बड़े बड़े व्यापारी बाहर से आकर उतरते हो उसे सन्निवेश कहते हैं। (११) निगम-जहां अधिकतर व्यापार वाणिज्य करने वाले महाजनो की आबादी हो उसे निगम कहते है। (१२) राजधानी—जहा राजा स्वय रहता हो वह राजधानी कहलाती है।

कारण इंगितमरण को प्राप्त करना भी (तस्स) उस साधु के लिए (कालपरियाए) काल पर्याय है (जाव) यावत् (अणुगामिय) यह पुण्य से प्राप्त होता है (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ २१६ ॥

भावार्थः—ग्राम नगर आदि किसी भी स्थान पर जाकर साधु तृणों की याचना करे। तृणों की याचना करके वह एकान्त स्थान में जाकर स्थण्डिल भूमि को देखे। वह स्थण्डिल भूमि ऐसी होनी चाहिए जहां चींटी आदि के अण्डे न हों, बेइन्द्रियादि प्राणी न हों, बीज, हरी दूब, ओस और लीलन फूलन, सचित्तमिट्टी एवं चींटियों का समूह तथा मकड़ी आदि के जाले न हों। ऐसी भूमि पर उन तृणों को बिछावे। तृणों को बिछाने के पहले उस भूमि को अपनी आंखों से अच्छी तरह देख ले और फिर रजोहरण से पूंज ले फिर उच्चार प्रस्रवण की भूमि को देख ले। इसके पश्चात् पूर्व दिशा की तरफ मुंह करके उस संस्तारक पर स्थित हो जाय। फिर इङ्गित मरण को स्वीकार करे। अपनी प्रतिज्ञा का जीवन पर्यन्त पालन करता हुआ तथा विविध प्रकार के परीषह उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करता हुआ वह साधु इस नश्वर शरीर का त्याग करे। ऐसा करता हुआ साधु इङ्गित मरण को प्राप्त होता है। काल का ज्ञान रखने वाले साधु के लिए यही काल का अवसर है क्योंकि काल प्राप्त इंगित मरण मरने वाला साधु सुगति को प्राप्त होता है।

॥ इति आठवें अध्ययन का छठा उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का सातवाँ उद्देशक

छठे उद्देशक मे इंगितमरण का कथन किया गया है। अब इस सातवें उद्देशक में पादपोपगमन मरण का कथन किया जायगा और साथ ही साथ प्रतिमाओं का कथन भी किया जायगा।

जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं य अहं णो संचाएमि अहियासित्तए एवं से कप्पइ कडिबंधणं धारित्तए ॥ २२० ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (भिक्खू) साधु (अचेले) वस्त्र रहित रहता हुआ (परिवुसिए) संयम में स्थित है। यदि (तस्स) उस (भिक्खुस्स) साधु को (एवं) ऐसा (भवइ) विचार हो कि (अह) मै (तणफास) तृण स्पर्श को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए (सीयफास) शीतस्पर्श को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए (तेउफास) उष्ण स्पर्श को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए (दसमसगफास) डांस और मच्छर के स्पर्श को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए तथा (एगयरे) इनमें से किसी एक को अथवा (अण्णयरे) दूसरे किसी कष्ट को एवं (विरूवरूवे) नाना प्रकार के (फासे) कष्टों को (अहियासित्तए) सहन करने के लिए (चाएमि-संचाएमि) समर्थ हूँ किन्तु (हिरिपडिच्छायण) गुह्य अंग की लज्जा निवारण करने वाले वस्त्र को के त्याग के कष्ट (अहियासित्तए) सहने के लिए (अह) मै (णो सचाएमि) समर्थ नही हूँ। (एव) इस प्रकार (से) उस साधु को (कडिबंधण) कटिबन्ध वस्त्र (धारित्तए) धारण करना (कप्पइ) कल्पता है ॥ २२० ॥

भावार्थः—प्रतिमाधारी अथवा अभिग्रहधारी साधु के मन में यदि यह विचार हो कि मैं तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श और डांस मच्छर आदि के परीषह को तथा और भी नाना प्रकार के परीषहो को सहन करने मे समर्थ हूँ किन्तु स्वभाव से ही लज्जाशील होने के कारण मै गुप्त अंग को ढकने वाले वस्त्र का त्याग करने मे समर्थ नहीं हूँ इस प्रकार का विचार करने वाले साधु को चोलपट्टा धारण करना कल्पता है। यदि उसके हृदय में ऐसा विचार न हो तो वह विना वस्त्र ही विचर सकता है ॥

अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अएणयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमएणागए भवइ। जहेयं भग-वया पवेइयं तमेव अभिसमिच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ॥ २२१ ॥

अन्वयार्थः—(अदुवा) **अथवा** (तत्थ) **वहां** (अचेल) **वस्त्र रहित होकर** (परक्कमत) **विचरते हुए साधु को** (भुज्जो) **बार बार** (तणफासा) **तृणस्पर्श** (फुसति) **कष्ट देते हैं** (सीयफासा) **शीतस्पर्श** (फुसति) **कष्ट देते है,** (तेउफासा) **उष्णस्पर्श** (फुसंति) **कष्ट देते हैं एवं** (दसमसगफासा) **डांस और मच्छर का स्पर्श** (फुसति) **कष्ट देते हैं। इस प्रकार वह** (एगयरे) **एक या** (अएणयरे) **किसी दूसरे तथा** (विरुवरूवे) **नाना प्रकार के** (फासे) **कष्टों को** (अहियासेइ) **सहन करता है।** (अचेले) **वह वस्त्र रहित होकर** (लाघविय) **अपने आपको लघु** (आगममाणे) **करता हुआ विचरे। इस प्रकार** (से) **उसे** (तवे) **तप की** (अभिसमएणागए) **प्राप्ति** (भवइ) **होती है।** (जहा) **जिस प्रकार** (इय) **यह** (भगवया) **भगवान् ने** (पवेइय) **फरमाया है** (तमेव) **उसी को** (अभिसमिच्चा) **जान कर** (सव्वओ) **सब प्रकार से और** (सव्वराए) **सर्वात्मरूप से** (समत्तमेव) **समभाव को** (समभिजाणिया) **धारण करे ॥ २२१ ॥**

भावार्थः—वह अभिग्रहधारी साधु पूर्वोक्त कारण से वस्त्र को धारण कर सकता है किन्तु वह लज्जित न होता हो तो वह सर्वथा वस्त्र का त्याग करके विचरे और सर्दी, गर्मी और डास मच्छर आदि के परीषह को समभाव पूर्वक सहन करता हुआ शुद्ध सयम का पालन करे ॥

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं य खलु अरणेसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलइस्सामि, आहडं च साइज्जिस्सामि, जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं य खलु अरणेसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलइस्सामि आहडं य णो साइज्जिस्सामि, जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं य खलु असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु णो दलइस्सामि आहडं य साइज्जिस्सामि, जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ अहं य खलु अरणेसिं भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु णो दलइस्सामि आहडं य णो साइज्जिस्सामि, अहं य खलु तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए, अहं वावि तेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्जेण अहापरिग्गहिएण असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज्जिस्सामि, लाघवियं आगममाणे जाव समत्तमेव समभिजाणिया ॥ २२२ ॥

अन्वयार्थः—(१) (जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु का (एव) ऐसा अभिग्रह (भवइ) होता है कि (अह) मै (अरणेसिं) दूसरे

(भिक्खूण) साधर्मिक साधुओं को (असणं) अशन (पाण) पानी (खाइमं) खादिम (साइम) स्वादिम (आहट्टु) लाकर (दलइस्सामि) दूँगा (य) और (आहड) उनके द्वारा लाये हुए अशनादि का (साइज्जिस्सामि) मैं उपभोग करूँगा। (२) (जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु का (एव) ऐसा अभिग्रह (भवइ) होता है कि (अह) मैं (अण्णेसिं) दूसरे (भिक्खूणं) साधर्मिक साधुओं को (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) खादिम (साइम) स्वादिम (आहट्टु) लाकर (दलइस्सामि) दूँगा परन्तु (आहडं) उनके द्वारा लाये हुए आहारादि को (णो साइज्जिस्सामि) न खाऊँगा। (३) (जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु को (एव) ऐसा अभिग्रह (भवइ) होता है कि (अहं) मैं (अण्णेसिं) दूसरे (भिक्खूण) साधर्मिक साधुओं के लिए (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) खादिम (साइमं) स्वादिम (आहट्टु) लाकर (णो दलइस्सामि) नहीं दूँगा परन्तु (आहड) उनके द्वारा लाये हुए अशनादि को (साइज्जिस्सामि) मैं खाऊँगा। (४) (जस्स ण) जिस (भिक्खुस्स) साधु को (एव) ऐसा अभिग्रह (भवइ) होता है कि (अह) मे (अण्णेसिं) दूसरे (भिक्खूण) साधर्मिक साधुओं के लिए (असण) अशन (पाण) पानी (खाइम) खादिम (साइम) स्वादिम (आहट्टु) लाकर (णा दलइस्सामि) नहीं दूँगा (य) और (आहड) उनके द्वारा लाये हुए अशनादि को (णो साइ-ज्जिस्सामि) मैं नहीं खाऊँगा। किसी किसी साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि (अह) मैं (अहाइरित्तेण) अपने उपभोग में आने के अतिरिक्त यानी बचे हुए (अहेसणिज्जेण) एषणीय (अहापरिग्गहिएण) जैसा ग्रहण किया गया है वैसे (तेण) उस (असणेण) अशन (पाणेण) पानी (खाइमेण) खादिम (साइमेण) स्वादिम के द्वारा (अभिकख) निर्जरा की भावना से तथा (करणाए) उपकारार्थ (साहम्मियस्स) अपने साधर्मिक साधु की (वेयावडियं) वैयावच्च (कुज्जा) करूँगा। किसी किसी साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि (साहम्मिएहिं) साध-र्मिक साधुओं द्वारा (अहाइरित्तेण) उनके उपभोग में आने से अतिरिक्त यानी भोजन के पश्चात् बाकी बचे हुए (अहेसणिज्जेण) एषणीय

(अहापरिग्गहिएण) जैसा ग्रहण किया गया है वैसे (तेण) उस (असणेण) अशन (पाणेण) पानी (खाइमेण) खादिम (साइमेण) स्वादिम द्वारा (अभिकम्) निर्जरा की भावना से (कीरमाण) की जाने वाली (वेयावडिय) वैयावच्च को (अह वावि) मै भी (साइज्जिस्सामि) स्वीकार करूँगा । इस प्रकार साधु (लाघविय) अपने कर्मों को लघु (आगममाणे) बनाता हुआ (जाव) यावत् (समत्तमेव) समभाव को (समभिजाणिया) धारण करे ॥ २२२ ॥

भावार्थः—साधुओं के अभिग्रह विशेष के सम्बन्ध में एक चौभगी बतलाई गई है। यथा—(१) मै दूसरे साधर्मिक साधुओ को आहारादि लाकर दूंगा। और उनके द्वारा लाये हुए आहार आदि को मैं खाऊँगा। (२) मे दूसरे साधर्मिक साधुओ को आहारादि लाकर दूगा किन्तु उनके द्वारा लाये हुए आहारादि को मै नहीं खाऊँगा। (३) मैं दूसरे साधर्मिक साधुओ को आहारादि लाकर न दूगा किन्तु उनके द्वारा लाये हुए आहारादि को मैं खाऊँगा। (४) मैं दूसरे साधर्मिक साधुओ को आहारादि लाकर न दूगा और न उनके द्वारा लाये हुए आहारादि को खाऊँगा।

किसी किसी साधु का ऐसा अभिग्रह होता है कि—मै अपने परिभोग से बचे हुए आहारादि द्वारा निर्जरा की भावना से दूसरे साधर्मिक साधुओं की वैयावच्च करूँगा। किसी किसी का ऐसा अभिग्रह होता है कि—साधर्मिक के द्वारा उसके खाने से बचे हुए आहारादि से किये जाने वाले वैयावच्च को मै स्वीकार करूँगा। इस प्रकार अभिग्रह धारण करने वाला साधु अपने कर्मों को लघु बनाता हुआ समभाव को धारण करे और शुद्ध संयम का पालन करता हुआ ग्रहण किये हुए अभिग्रह पर दृढ़ रहे॥

जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ, से गिलामि खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुव्वेणं परिवहित्तए, से अणु-

पुव्वेणं आहारं संवट्टिज्जा, संवट्टइत्ता कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिक्खू अभिणिव्वुडच्चे, अणुपविसित्ता गामं वा णयरं वा जाव रायहाणिं वा तणाइं जाइज्जा जाव संथरिज्जा, इत्थवि समए कायं च जोगं च ईरियं च पच्चक्खाइज्जा, तं सच्चं सच्चावाई ओए तिण्णे छिण्णकहंकहे आइयट्ठे अणाईए चिच्चाणं भेउरं कायं संविहूणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्सिं विस्संभणाए भेरवमणुचिण्णे तत्थावि तस्स कालपरियाए, से वि तत्थ वियंतिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं णिस्सेसं आणुगामियं त्ति बेमि ॥ २२३ ॥

अन्वयार्थः—(जस्स णं) जिस (भिक्खुस्स) साधु के मन में (एवं भवइ) इस प्रकार का विचार उत्पन्न होता है कि (खलु) निश्चय ही (इणम्मि) इस (समए) समय में (अहं) मैं (इमं) इस (सरीरगं) अपने शरीर का (अणुपुव्वेण) क्रमशः (परिवहित्तए) निर्वाह करने में (गिलामि) ग्लानि को प्राप्त होता हूँ। (से) वह (अणुपुव्वेणं) क्रमशः (आहारं) आहार का (संवट्टिज्जा) त्याग करदे तथा (कसाए) कषायों को (पयणुए) पतला (किच्चा) करके (समाहियच्चे) शरीर के व्यापार को नियमित करे अथवा अपने विचारों को समाधिस्थ करे। (उट्ठाय) पण्डितमरण के लिए उद्यत होकर (फलगावयट्ठी) काठ के पाटे की तरह निश्चल होकर (अभिणिव्वुडच्चे) शरीर के सन्ताप से रहित होने की इच्छा वाला (भिक्खू) साधु (गामं) ग्राम (वा) अथवा (णयरं) नगर (जाव) यावत् (रायहाणिं) राजधानी में (अणुपविसित्ता) प्रवेश करके-जाकर (तणाइं) तृणों की (जाइज्जा) याचना करे (जाव) यावत् तृणों की याचना करके उन्हें (संथरिज्जा) विधिपूर्वक बिछावे। (इत्थवि) उस (समए) समय में (कायं) शरीर (य) और (जोगं) योग (य) तथा (ईरियं) ईर्या का (पच्चक्खाइज्जा) पच्चक्खाण

करे। तीर्थंकर भगवान् का कथित होने के कारण (त) वह मरण (सच्च) सत्य-हितकारी है। और इसको अगीकार करने वाला
पुरुप (सच्चावाई) सत्यवादी है (ओए) रागद्वेष रहित (तिराणे) संसार सागर को तिरने वाला (छिएणकहकहे) रागादि की कथा का
छेदन करने वाला (आइयट्ठे) जीवादि पदार्थों का ज्ञाता और (अणाईए) संसार सागर को पार करने वाला है। ऐसा पुरुष ही पाद-
पोपगमन मरण को प्राप्त करता है। (अस्सिं) इस आर्हत आगम मे (विस्सभणाए) विश्वास होने के कारण (विरूवरूवे विविध प्रकार के
(परीसहोवसग्गे) परीषह और उपसर्गों को (सविहूणिय) सहन करता हुआ धीर पुरुष (भेरव) कठोर (अणुचिएणे) संयम का पालन करता
है और अन्त में (भेउर) इस नश्वर (काय) शरीर को (चिच्चा) छोड़ कर सुगति को प्राप्त होता है। (तत्थावि-तत्थवि) इस अवस्था में
(तस्स) उसका मरण को प्राप्त होना (कालपरियाए) काल का ही पर्याय है। (तत्थ) इस अवस्था में (से) मरण को प्राप्त करने वाला
वह साधु (वियतिकारए-विअ्रतकारए) कर्मों का अन्त करता है। (इच्चेय) यह पादपोपगमन मरण (विमोहाययण) मोहरहित पुरुपों का
स्थान है अथवा मोक्ष का स्थान है (हिय) हितकारी (सुहं) सुखकारी (खम) युक्त-अवसर के अनुकूल (णिस्सेस) परम कल्याणकारक
और (आणुगामिय) पूर्वोपार्जित पुण्य से प्राप्त होने वाला है (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ २२३ ॥

भावार्थः—जिस साधु के हृदय मे यह विचार उत्पन्न हो कि—अब मेरा शरीर बहुत ग्लान हो गया है। इस शरीर द्वारा
सयम जीवन का निर्वाह करने मे भी मै असमर्थ हूँ। तब वह साधु पादपोपगमन रूप समाधि मरण को प्राप्त करने के लिए क्रमशः
आहार का त्याग करे और कषायो को पतला करे। जैसे वसूले से छीला जाने पर भी फलक-लकडी का पाटा निश्चल रहता है उसी
प्रकार दुर्जनो के कठोर वचनो द्वारा विद्ध होता हुआ भी वह मुनि अपने भावो मे किसी भी प्रकार से कलुषता न आने दे। वह मुनि

निकटवर्ती ग्राम, नगर या राजधानी आदि मे जाकर तृणों की याचना करके लावे और उन्हे विधिपूर्वक बिछावे। फिर वह शरीर, योग और ईर्या का प्रत्याख्यान करे। उपरोक्त विधि के अनुसार पादपोपगमन रूप मृत्यु को प्राप्त करना तीर्थङ्करोक्त होने के कारण हितकारी है। ग्रहण किये हुए व्रतों का यथावत् पालन करने वाले सत्यवादी पुरुष ही इसे अङ्गीकार कर सकते हैं। तीर्थङ्कर भगवान् के वचनो पर अटल श्रद्धा होने के कारण वे इस कठोर मरण को अङ्गीकार करते हैं। वे धीर पुरुष परीषह उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करके इस पादपोपगमन रूप मरण से शरीर को छोड़ कर सुगति को प्राप्त होते हैं॥

॥ इति आठवें अध्ययन का सातवाँ उद्देशक समाप्त ॥

आठवें अध्ययन का आठवाँ उद्देशक

पहले के उद्देशको मे बताया गया है कि रोगादि के होने पर भक्तपरिज्ञा, इंगित और पादपोपगमन रूप त्रिविध मरण मे से किसी मरण को स्वीकार करना चाहिए। इस आठवें उद्देशक मे रोगादि के विना ही कालपर्याय से आये हुए त्रिविध मरण का विधान बताया जाता है:—

आणुपुव्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज। वसुमंतो मइमंतो, सव्वं णच्चा अणेलिसं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(आणुपुव्वेण) अनुक्रम से (जाइ) जिनका विधान किया गया है उन (सव्व) सब को (अणेलिसं) भलीभांति (णच्चा) जान कर (वसुमतो) संयमी (मइमतो) बुद्धिमान् (धीरा) धीर मुनि (विमोहाइ) मोहरहित भक्तपरिज्ञा, इङ्गितमरण और पादपोपगमन रूप त्रिविध मरणों में से किसी एक को (समासज्ज) प्राप्त कर समाधि पूर्वक शरीर का त्याग करे ॥ १ ॥

भावार्थः—शास्त्रकारो ने जिस क्रम से जिस क्रिया का विधान किया है उसी प्रकार आचरण करता हुआ सयमी मुनि अन्तिम समय मे भक्तपरिज्ञा, इगितमरण और पादपोपगमन मरण इन त्रिविध मरण मे से यथावसर किसी एक मरण द्वारा समाधिपूर्वक इस नश्वर तन का त्याग करे ॥

दुविहं वि विइत्ताणं, बुद्धा धम्मस्स पारगा। अणुपुव्वीए संखाए, आरंभाओ तिउट्टइ ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(धम्मस्स) श्रुत चारित्र रूप धर्म के (पारगा) पारगामी (बुद्धा) तत्त्वज्ञ पुरुष (दुविहं वि) दोनों प्रकार के अर्थात्

बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को (विइत्ताण) जान कर एवं त्याग कर (अणुपुव्वीए) अनुक्रम से संयम की क्रियाओं का पालन करके (सखाए) यथायोग्य मरण का निश्चय करके (आरभाओ-कम्मुणाओ) आरम्भ से अथवा कर्मों से (तिउट्टइ) छूट जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः—बुद्धिमान सयमी पुरुष यथाक्रम से संयम की क्रियाओं का पालन करके अन्तिम समय में भक्तपरिज्ञा, इगितमरण और पादपोपगमन इन तीन मरणों में से मैं किस मरण के योग्य हूँ, यह निश्चय करके उसी मरण द्वारा समाधिपूर्वक शरीर त्याग कर आरम्भ से निवृत्त हो जाते हैं और अनुक्रम से कर्मों से छूट जाते हे ॥

कसाए पयणुए किच्चा, अप्पाहारे तितिक्खए। अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अंतियं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—वह साधु (कसाए) कषायों को (पयणुए) पतला (किच्चा) करके (अप्पाहारे) अल्प आहार करे। यदि कोई कठोर वचन कहे तो उन्हें (तितिक्खए) सहन करे। (अह) यदि इस प्रकार करता हुआ (भिक्खू) साधु (गिलाइज्जा) आहार के विना ग्लानि को प्राप्त हो तो भी (आहारस्सेव) आहार के (अतिय) पास भी न जावे अर्थात् आहार की इच्छा न करे ॥ २ ॥

भावार्थः—भक्तपरिज्ञा आदि त्रिविध मरण में से किसी एक मरण को प्राप्त करने के लिए उद्यत हुआ साधु पहले कषायों की संलेखना करे अर्थात् कषायो को पतला करे। कषायो को पतला करता हुआ साधु आहार की मात्रा को भी घटाता जाय और बहुत थोडा भोजन करे। ऐसा करते हुए यदि क्षुधापरिषह अधिक सतावे तो भी साधु आहार की इच्छा न करे अर्थात् वह यह न सोचे कि "मैं थोडे दिन और आहार कर लूँ फिर सलेखना करूँगा"।

नोट—इस गाथा मे "आहारस्सेव अतिय" यह पद दिया है किन्तु इसके आगे कुछ भी क्रिया पद नहीं दिया है। इसलिए वाक्य की पूर्ति के लिए यदि 'न गच्छेत्' क्रिया का अध्याहार किया जाय तब तो इस वाक्य का वही अर्थ होगा जो ऊपर किया गया

है किन्तु यदि 'न गच्छेत्' के स्थान मे सिर्फ 'गच्छेत्' क्रिया का अध्याहार करे तब इसका यह अर्थ होगा कि—सलेखना करता हुआ साधु यदि आहार के विना अत्यन्त ग्लानि को प्राप्त हो और आहार मे मूर्च्छित होकर उसका चित्त शुभध्यान से हट कर अशुभ ध्यान की ओर जाने लगे तो उसके अशुभध्यान को मिटाने के लिए उसे आहार दिया जा सकता है।

जीवियं णाभिकंखेज्जा, मरणं णो वि पत्थए। दुहओ वि ण सज्जिज्जा, जीविए मरणे तहा ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—संलेखना में स्थित साधु (जीवियं) जीवन की (ण अभिकंखेज्जा) इच्छा न करे तथा (मरणं वि) मरण की भी (णो पत्थए) इच्छा न करे। (जीविए) जीवन (तहा) तथा (मरणे) मरण (दुहओ वि) दोनों ही में (ण सज्जिज्जा) आसक्त न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थः—सलेखना करने मे प्रवृत्त साधु अपनी प्रशसा होती देख कर अधिक जीवन की इच्छा न करे और क्षुधा की पीडा से तथा रोगादि से घबरा कर शीघ्र मरण की इच्छा न करे किन्तु वह जीवन और मरण किसी में भी आसक्त न होता हुआ समभाव रखे ॥

मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए। अंतो बहिं विउस्सिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(मज्झत्थो) मध्यस्थ यानी जीवन और मरण की आकांक्षा से रहित (णिज्जरापेही) निर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ साधु (समाहिं) समाधि का (अणुपालए) पालन करे और (अंतो) आन्तरिक कषायों को तथा (बहिं) बाहरी यानी शरीर के उपकरणों को (विउस्सिज्ज) त्याग कर (अज्झत्थ) अन्तःकरण की (सुद्धं) शुद्धि की (एसए) कामना करे ॥ ५ ॥

भावार्थः—संलेखना के लिए उद्यत साधु जीवन तथा मरण मे समभाव रखता हुआ निर्जरा की अपेक्षा करे। कषायादि आन्तरिक शत्रुओं का तथा बाहर रहने वाले शरीर के उपकरणो का त्याग करके अन्तःकरण की शुद्धि करे। इस प्रकार समाधिमरण को प्राप्त करने वाला सब झंझटों से रहित होकर परमपद को प्राप्त करता है ॥

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउखेमस्समप्पणो । तस्सेव अंतरद्धाए, खिप्पं सिक्खिज्ज पंडिए ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(पंडिए) बुद्धिमान् साधु (अप्पणो) अपनी (आउक्खेमस्स) आयु के पालने योग्य (जं) जो (किं च) कुछ (उवक्कमं) उपाय (जाणे) समझे (तस्सेव) वह उसे (अंतरद्धाए) संलेखना काल में ही (खिप्पं) शीघ्र (सिक्खिज्ज) करे ॥ ६ ॥

भावार्थः—समाधि मरण की इच्छा करने वाले साधु के शरीर में संलेखना करते समय यदि प्राणों का शीघ्र विनाश करने वाला रोग उत्पन्न हो जाय तो एषणीय विधि से जो कुछ उपाय रोगनिवृत्ति के लिए आवश्यक प्रतीत हों उन्हें संलेखना काल के अन्दर ही शीघ्र करे और फिर रोग की निवृत्ति हो जाने पर संलेखना करे।

इस गाथा का दूसरा अर्थ यह भी है कि उक्त मुनि को यदि यह ज्ञात हो जाय कि मेरी आयु को शीघ्र नष्ट करने वाला कोई कारण विशेष उपस्थित हो गया है तो वह संलेखना काल में ही धैर्य के साथ शीघ्र ही भक्तपरिज्ञा का सेवन करे ॥

गामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया । अप्पपाणं तु विण्णाय, तणाइं संथरे मुणी ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(मुणी) उचित अवसर को जानने वाला मुनि (गामे) ग्राम (अदुवा) अथवा (रण्णे) जङ्गल में (थंडिलं) स्थण्डिल भूमि को (पडिलेहिया) प्रमार्जित करके (अप्पपाणं) उसे द्वीन्द्रियादि प्राणी रहित (विण्णाय) जान कर (तणाइं) उसके ऊपर तृणों को (संथरे) बिछावे ॥ ७ ॥

भावार्थः—संलेखना द्वारा शरीर की शुद्धि किया हुआ मुनि अपने मरण काल को समीप जान कर ग्रामादि से तृणों की याचना कर लावे। फिर ग्राम या जंगल में निस्तर बिछाने की भूमि की प्रतिलेखना करे। उसके पश्चात् उस भूमि को प्राणियों से रहित जान कर उस पर उन तृणों को बिछावे।

अणाहारो तुयट्टिज्जा, पुट्ठो तत्थऽहियासए। णाइवेल उवचरे, माणुस्सेहिं विपुट्ठवं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(अणाहारो) आहार का त्याग करके साधु (तुयट्टिज्जा) उक्त शय्या के ऊपर सो जाय। (तत्थ) वहाँ (पुट्ठो) परीषह उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर (अहियासए) उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे। तथा (माणुस्सेहिं) मनुष्य सम्बन्धी अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गों के (विपुट्ठव) प्राप्त होने पर साधु (अइवेलं ण उवचरे) अपनी मर्यादा का उल्लंघन न करे ॥ ८ ॥

भावार्थः—वह साधु अपनी शक्ति के अनुसार त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग करके तथा समस्त प्राणियों से क्षमा याचना करके उस तृणों की शय्या पर सो जाय। वहाँ यदि कोई परीषह उपसर्ग प्राप्त हो तो वह उसे समभाव पूर्वक सहन करे और अपने पुत्र कलत्र आदि प्रियजनों का स्मरण कर आर्त्तध्यान के वशीभूत न होवे ॥

संसप्पगा य जे पाणा, जे य उड्ढमहेचरा। भुंजंति मंससोणियं, ण छणे ण पमज्जए ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (ससप्पगा) चींटी शृगाल आदि संसर्पक यानी भूमि पर चलने वाले (पाणा) प्राणी हैं (य) और (जे) जो (उड्ढ) ऊपर आकाश में उड़ने वाले गीध आदि (य) तथा (अहेचरा) नीचे यानी बिल में रहने वाले सर्पादि प्राणी हैं। यदि वे (मससोणियं) मांस और रक्त का (भुजति) भक्षण करें तो (ण छणे) साधु उन को न तो मारे और (ण पमज्जए) न रजोहरण से प्रमार्जन ही करे ॥ ९ ॥

भावार्थः—चींटी, शृगाल, गीध, सर्प और सिंह व्याघ्र आदि प्राणी यदि उस साधु का मांस भक्षण करें और मच्छर आदि उसका रक्त पान करें तो साधु हाथ आदि के द्वारा उन प्राणियों का घात न करे और जिस अङ्ग को वे खा रहे हों उस अङ्ग का रजोहरण के द्वारा प्रमार्जन भी न करे ॥

पाणा देहं विहिंसंति, ठाणाओ ण वि उब्भमे। आसवेहिं विवित्तेहिं, तिप्पमाणोऽहियासए ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(पाणा) रक्त और मांस का भक्षण करते हुए उपरोक्त प्राणी (देहं) शरीर का (विहिंसति) घात करते हैं, ज्ञानादि का नहीं। अतः वह साधु (ठाणाओ) उस स्थान से (ण उब्भमे) दूर न हटे। (आसवेहिं) आश्रवों के (विवित्तेहिं) अलग होने के कारण (तिप्पमाणो) आत्मिक सुख से तृप्त वह मुनि (अहियासए) सब कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करे ॥ १० ॥

भावार्थः—उपरोक्त हिंसक प्राणियो द्वारा रक्त मास का भक्षण किया जाता हुआ वह मुनि ऐसा विचार करे कि "ये प्राणी मेरे शरीर का घात कर रहे हैं, ज्ञान दर्शन चारित्र का नहीं" ऐसा विचार कर उन प्राणियो को हटाने का प्रयत्न न करे तथा कष्ट से बचने के लिए उस स्थान से हट कर अन्यत्र भी न जाय। समस्त आश्रवों के हट जाने से शुभ अध्यवसाय वाला होने के कारण हिंसक प्राणियो के द्वारा खाया जाता हुआ भी वह साधु अमृत पान से तृप्त हुए जीव की तरह उस वेदना को कुछ वस्तु ही न माने एव समभाव पूर्वक सहन करे ॥

गंथेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए। पग्गहियतरगं चेयं, दवियस्स वियाणओ ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(गथेहिं) ग्रन्थ यानी बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के बन्धनों से (विवित्तेहिं) रहित होकर (आउकालस्स) मृत्यु काल को (पारए) पार किया हुआ वह मुनि सिद्धि अथवा स्वर्गलोक को प्राप्त करता है। अब इङ्गित मरण के विषय में कहा जाता है—(एय) यह इङ्गित मरण (दवियस्स) संयमी (वियाणओ) गीतार्थ मुनियों द्वारा (पग्गहियतरग) ग्रहण किया जाता है ॥ ११ ॥

भावार्थः—पुत्र कलत्रादि बाह्य बन्धन और रागद्वेषादि आभ्यन्तर बन्धन इन दोनो बन्धनो से रहित होकर मृत्युकाल पर्यन्त धर्मध्यान शुक्लध्यान ध्याता हुआ वह मुनि मरणकाल के पश्चात् या तो मोक्ष को प्राप्त होता है अथवा स्वर्ग को प्राप्त होता है।

यहाँ तक भक्तपरिज्ञा मरण का कथन किया गया है। अब इस गाथा के उत्तरार्द्ध से इङ्गित मरण का कथन किया जाता है — इस इङ्गितमरण मे चारों आहार का त्याग किया जाता है। विशिष्ट धैर्य और विशिष्ट सहनन से युक्त, सयमी और कम से कम नौ पूर्व के ज्ञाता पुरुषो द्वारा यह मरण स्वीकार किया जाता है।

अयं से अवरे धम्मे, णायपुत्तेण साहिए। आयवज्जं पडीयारं, विज्जहिज्जा तिहा तिहा ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(णायपुत्तेण) ज्ञातपुत्र श्री महावीर स्वामी ने (अय) यह (अवरे) दूसरा (धम्मे) धर्म यानी विशेष अनुष्ठान (साहिए) बतलाया है कि (से) वह इगितमरण के लिए संस्तारक पर सोया हुआ मुनि (आयवज्ज) अपने सिवाय दूसरों की (पडीयार-पडियार) सेवा का (तिहा तिहा) तीन करण तीन योग से त्याग करे ॥१२॥

भावार्थः—प्रथम दीक्षा ग्रहण करना, सलेखना करना, स्थण्डिल भूमि का प्रतिलेखन करना आदि जो क्रम भक्तपरिज्ञा मे बतलाया गया है वही क्रम इङ्गितमरण के विषय मे है परन्तु इसमे विशेष धर्म यह कहा गया है कि इङ्गितमरण की शय्या पर स्थित साधु दूसरों से सेवा कराने का मन वचन काया रूप तीन योग और करना, कराना, अनुमोदना रूप तीन करण से त्याग करे। वह स्वयमेव उस शय्या पर उलटना या करवट बदलना आदि करे किन्तु दूसरे की सहायता न ले ॥

हरिएसु ण णिवज्जिज्जा, थण्डिलं मुणिया सए। विउसिज्ज अणाहारो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—इगितमरणार्थी साधु (हरिएसु) हरितकाय—वनस्पति के ऊपर (ण णिवज्जिज्जा) शयन न करे किन्तु (थण्डिल) निर्जीव स्थण्डिल (मुणिया) जानकर (सए) शयन करे। (विउसिज्ज) बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की उपधियों का त्याग कर

(अणाहारे) निराहार रहता हुआ मुनि (तत्थ) वहां (पुट्ठो) परीषह उपसर्गों के आने पर (अहियासए) उन्हें समभावपूर्वक सहन करे ॥१३॥

भावार्थः—जहाँ हरित वनस्पतिकाय के जीव हो वहाँ वह साधु शयन न करे किन्तु जो भूमि जीवों से रहित हो उसे अच्छी तरह देख भाल कर उस पर शयन करे। बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार की उपधि का त्याग कर निराहार रहते हुए उस साधु को यदि परीषह उपसर्ग उत्पन्न हो तो वह उन्हे धैर्य के साथ समभाव पूर्वक सहन करे किन्तु क्षोभ को प्राप्त न होवे ॥

इंदिएहिं गिलायंतो, समियमाहरे मुणी। तहावि से अगरिहे, अचले से समाहिए ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(इंदिएहिं) इन्द्रियों से (गिलायंतो) ग्लानि को प्राप्त होता हुआ (मुणी) मुनि (समियं) अपने मे साम्यभाव को (आहरे) स्थापित करे। यद्यपि वह अपनी मर्यादानुसार इंगित प्रदेश में संचार करता है (तहावि) तथापि (से) वह (अचले) उस मरण से विचलित नहीं है और (समाहिए) मनको धर्मध्यान एव शुक्लध्यान में स्थापित किया हुआ है इसलिए वह (अगरिहे) अगर्हित यानी प्रशसनीय ही है, निन्दनीय नही है ॥१४॥

भावार्थः—इङ्गित मरणार्थी साधु की इन्द्रियां आहार के अभाव में जब ग्लानि को प्राप्त हो तो वह व्याकुलता को प्राप्त न हो किन्तु अपने चित्त मे समता को स्थापित करे। वह साधु जिस तरह से चित्त में समाधि रहे उसी तरह से अपने शरीर को रखता है यानी हाथ पैर को संकुचित रखने से जब घबराहट होती है तब वह हाथ पैर को पसार देता है और उससे भी जब उकता जाता है तब वह इंगित प्रदेश में टहलता है या बैठ जाता है तो भी वह अपने द्वारा ही समस्त चेष्टाएँ करता है इसलिए वह अनिन्दनीय ही बना रहता है। वह यद्यपि इंगितप्रदेश मे चलता फिरता है किन्तु वह उस इंगितमरण से विचलित नहीं होता है इसलिए वास्तव मे वह

अचल ही है तथा धर्मध्यान शुक्लध्यान मे अपना चित्त रखता है, इसलिए वह समाहित है। वह भाव से अचल है इस कारण इंगित प्रदेश मे भ्रमण आदि करने पर भी कोई दोष नहीं है ॥

अभिक्कमे पडिक्कमे, संकुचए पसारए। कायसाहारणट्ठाए, इत्थं वावि अचेयणे ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—वह साधु (कायसाहारणट्ठाए) अपने शरीर की सुविधा के लिए इंगितप्रदेश में (अभिक्कमे) अपने विस्तर से उतर कर सामने की ओर जा सकता है और (पडिक्कमे) वहा से वापिस भी आ सकता है। (संकुचए) अपने अंगों को सिकोड सकता है और (पसारए) पसार भी सकता है। (वावि) अथवा उसमें शक्ति हो तो (इत्थं) शरीर के उक्त व्यापारों को न करता हुआ (अचेयणे) अचेतन पदार्थ की तरह ज्यों का त्यों पड़ा भी रह सकता है ॥१५॥

भावार्थः—इंगित मरण करने वाला साधु नियमित प्रदेश मे गमनागमन तथा शरीर के अङ्गों का संकोच विस्तार कर सकता है। ऐसा करने पर भी कोई दोष नहीं है किन्तु यह कोई नियम नहीं है कि उसे गमनागमनादि क्रियाए करनी ही चाहिए किन्तु यदि उसकी शक्ति वैसी हो तो वह सूखे काष्ठ की तरह निश्चेष्ट पड़ा रह सकता है।

परिक्कमे परिकिलंते, अदुवा चिट्ठे अहायए। ठाणेण परिकिलंते, णिसीइज्जा य अंतसो ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः—(परिकिलंते) बैठे बैठे या लेटे लेटे यदि साधु का अङ्ग भङ्ग होने लगे तो (परिक्कमे) टहलने लग जाय (अदुवा) अथवा (अहायए) अपने अङ्गो को ज्यों का त्यों रखता हुआ (चिट्ठे) स्थित रहे। (ठाणेण) खड़े होने से (परिकिलंते) जब कष्ट होने लगे तो (अंतसो) अन्त मे (णिसीइज्जा) बैठ जाय ॥ १६ ॥

भावार्थः—जो मुनि उस तरह की शक्ति न होने के कारण सूखे काठ की तरह निश्चेष्ट पडा रहने में असमर्थ हो वह नियमित प्रदेश मे गमनागमनादि करे तो कोई दोष नहीं है। इससे भी जब थक जाय तब अपने शरीर को ज्यो का त्यों रखता हुआ स्थित रहे। इस प्रकार स्थित रहने से भी जब खेद होने लगे तो लेट जाय या बैठ जाय।

आसीणेऽणेलिसं मरणं, इंदियाणि समीरए। कोलावासं समासज्ज, वितहं पाउरेसए ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः—(अणेलिस) अनन्यसदृश यानी जिस मरण को साधारण मनुष्य अंगीकार न कर सकें ऐसे (मरण) मरण को (आसीणे) स्वीकार किया हुआ मुनि (इंदियाणि) इन्द्रियों को (समीरए) अपने विषयों से हटा दे। (कोलावास) घुण आदि जन्तुओं से युक्त स्थान या पाटा (समासज्ज) मिलने पर उसे छोड़ कर (वितह) जीव रहित स्थान या पाटे का (पाउरेसए-पाउरेसया) अन्वेषण करे।

भावार्थः—जिसे साधारण मनुष्य अङ्गीकार नही कर सकते उस इंगित मरण को स्वीकार करके धैर्यवान् मुनि इन्द्रियो को अपने विषय से हटा दे। जिस स्थान पर घुण आदि जीव हो उस स्थान को और पाटे को छोड कर जीवरहित स्थान का अन्वेषण करे।

जओ वज्जं समुप्पज्जे, ण तत्थ अवलंबए। तओ उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्थऽहियासए ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः—(जओ) जिस कार्य से (वज्ज) वज्र के समान भारी कर्म अथवा पाप की (समुप्पज्जे) उत्पत्ति होती है (तत्थ) उसका (ण अवलंबए) अवलम्बन न करे अर्थात् वह कार्य न करे किन्तु (तओ) उस कार्य से (अप्पाण) अपनी आत्मा को (उक्कसे) दूर हटा ले। (तत्थ) ऐसा करने में (फासे) जो कष्ट हो उसे (अहियासए) समभाव पूर्वक सहन करे ॥ १८ ॥

भावार्थः—जिस व्यापार से या जिसका आश्रय लेने से वज्र के समान भारी कर्म अथवा पाप की उत्पत्ति होती है वह साधु

उस कार्य को न करे तथा उस काष्ठादि का अवलम्बन न ले किन्तु उन कार्यों से अपनी आत्मा को हटा ले। शुभध्यान और शुभ परिणामों पर चढ़ता हुआ मुनि परीषह उपसर्गों को समभाव पूर्वक सहन करे॥

अयं चाययतरे सिया, जो एवमणुपालए। सव्वगायणिरोहेवि, ठाणाओ ण विउब्भमे ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः—(अय) यह अब आगे कहा जाने वाला पादपोपगमन रूप मरण (आययतरे) इङ्गित मरण से भी बढ़ कर (सिया) है (जो) जो (एव) इस प्रकार यानी इसकी विधि के अनुसार (अणुपालए) इसका पालन करता है वह (सव्वगायणिरोहेवि) शरीर के समस्त अगों का निरोध करता हुआ (ठाणाओ) उस स्थान से (ण विउब्भमे) किञ्चिन्मात्र भी न हटे॥ १९॥

भावार्थः—भक्तपरिज्ञा मरण और इगितमरण दोनो की अपेक्षा पादपोपगमन मरण उत्कृष्ट है। इसमे भी प्रव्रज्या और सलेखना आदि का क्रम पहले की तरह ही है। इसमे विशेषता यह है कि पादपोपगमन मरणार्थी साधु अपने समस्त अङ्गो को निश्चल रखे। कितना भी कष्ट क्यो न हो वह उस स्थान से किञ्चिन्मात्र न हटे तथा शुभ अध्यवसाय से भी विचलित न हो किन्तु सूखे काठ की तरह निश्चेष्ट होकर स्थिर रहे॥

अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे। अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिट्ठ माहणे ॥ २० ॥

अन्वयार्थः—(अय) यह (से) वह पादपोपगमन मरण रूप धर्म (उत्तमे) सब से उत्तम (धम्मे) धर्म है क्योंकि (पुव्वट्ठाणस्स) पूर्वस्थानों से यानी भक्तपरिज्ञा और इङ्गितमरण से (पग्गहे) अधिक कष्टसाध्य है। पादपोपगमन मरणार्थी (माहणे) साधु (अचिरं) जीव रहित स्थण्डिल भूमि की (पडिलेहित्ता) प्रतिलेखना करके उसके ऊपर (विहरे) विचरे यानी इस मरण की विधि का पालन करे

और (चिट्ठ) वहीं पर अपने समस्त अगों का निरोध करके स्थित रहे ॥ २० ॥

भावार्थः—यह पादपोपगमन मरण सब से उत्तम है क्योंकि पूर्वोक्त भक्तपरिज्ञा और इगितमरण की अपेक्षा यह अत्यन्त कष्ट-साध्य है। पूर्वोक्त मरणों में तो अङ्गो को सकोचने और फैलाने की छूट है किन्तु इसमे उसका भी निषेध है। इस मरण का आराधन करने वाला साधु यदि लेटा हुआ हो तो लेटा ही रहे, बैठा हुआ हो तो बैठा ही रहे और खडा हो तो खडा ही रहे अर्थात् उसका जो अङ्ग जिस तरह स्थित हो उसे उसी तरह रहने दे, उसे जरा भी इधर उधर न हटावे तथा कम्पित न करे ॥

अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं। वोसिरे सव्वसो कायं, ण मे देहे परीसहा ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—पादपोपगमन मरणार्थी साधु (अचित्तं) जीवरहित स्थान को (समासज्ज) प्राप्त करके (तत्थ) वहां पर (अप्पगं) अपने आप को (ठावए) स्थित करे। (कायं) शरीर को (सव्वसो) सब प्रकार से (वोसिरे) त्याग दे और यह समझे कि (मे) मेरे (देहे) शरीर मे (ण परीसहा) परीषह हैं ही नही ॥ २१ ॥

भावार्थः—पादपोपगमन मरणार्थी साधु जीवरहित स्थान पर अपने शरीर को स्थापित करके चारों आहार का त्याग करे और मेरुपर्वत के समान अडोल होकर रहे। फिर आलोचना आदि करके अपने शरीर का त्याग करे। शरीर का त्याग किये हुए साधु को जब कोई परीषह या उपसर्ग प्राप्त हो तो वह यह भावना करे कि मेरा तो यह शरीर ही अपना नहीं है क्योकि मैंने तो इसका त्याग कर दिया है। जब कि शरीर ही मेरा नहीं है तो फिर मुझे परीषह कैसे हो सकता है? वह धैर्यवान् साधु कर्मरूपी शत्रुओ को विजय करने मे परीषहो को अपना सहायक माने ॥

जावज्जीवं परीसहा, उवसग्गा य संखाय। संवुडे देहभेयाए, इइ पएणेऽहियासए ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः—(जावज्जीव) यावज्जीवन अर्थात् जब तक यह जीवन है तब तक (परीसहा) परीषह (य) और (उवसग्गा) उपसर्ग हैं (सखाय-संखया) ऐसा जान कर (देहभेयाए) शरीर का भेद होने तक (सवुडे) संयमी (पएणे) बुद्धिमान् साधु (अहियासए) उन्हें समभाव पूर्वक सहन करे ॥ २२ ॥

भावार्थः—जब तक यह जीवन है तब तक ही ये परीषह उपसर्ग हैं। शरीर का अन्त हो जाने पर ये नहीं रहेंगे ऐसा समझ कर वह धैर्यवान् साधु उन्हे समभाव पूर्वक सहन करे ॥

भेउरेसु ण रज्जिज्जा, कामेसु बहुयरेसु वि। इच्छालोभं ण सेविज्जा, धुववएणं संपेहिया ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः—(भेउरेसु) विनाशी (कामेसु) कामभोग (बहुयरेसुवि) चाहे बहुत अधिक मात्रा मे प्राप्त हो रहे हों (ण रज्जिज्जा) उनमें अनुरक्त न होवे। (धुववएण) ध्रुव वर्ण यानी मोक्ष की ओर (सपेहिया) दृष्टि रखता हुआ वह साधु (इच्छालोभ) काम की इच्छा और लोभ का (ण सेविज्जा) सेवन न करे ॥ २३ ॥

भावार्थः—यदि कोई राजा एव चक्रवर्ती राजा उस साधु को अत्यधिक मात्रा मे कामभोगो का आमन्त्रण करे अथवा राज-कन्या देने का प्रलोभन दे तो भी साधु उसकी इच्छा न करे। इसी प्रकार इहलोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी कोई नियाणा-निदान न करे किन्तु एकमात्र निर्जरा की इच्छा रखता हुआ अपने चित्त को समाधिस्थ रखे ॥

सासएहिं णिमंतिज्जा, दिव्वमायं ण सद्दहे। तं पडिबुज्झ माहणे, सव्वं णूमं विहूणिया ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः—शास्त्रकार कहते हैं कि हे साधो! यदि कोई (सासएहिं) शाश्वत यानी जीवन पर्यन्त नष्ट न होने वाली सम्पत्ति देने के लिए (णिमंतिज्जा) निमन्त्रित करे तो (तं) उसे (पडिबुज्झ) समझो, तथा यदि कोई देवता (दिव्वमाय) माया करके नाना प्रकार की ऋद्धि देने लगे तो (ण सद्दहे) उसमें श्रद्धा न करो। इस प्रकार (माहणे) साधु (सव्व) समस्त (णूम) माया को (विहूणिया) दूर कर समाधिभाव में स्थित रहे ॥ २४ ॥

भावार्थः—जो धन जीवन पर्यन्त दान और भोग करने से नष्ट न हो ऐसे शाश्वत धन से यदि कोई उस साधु को आमन्त्रित करे अथवा कोई देव उस साधु के पास आकर नाना प्रकार की ऋद्धि देने के लिए आमन्त्रित करे तो भी साधु उनमें आसक्त न बने। इसी प्रकार यदि कोई देवाङ्गना मुनि की प्रार्थना करे तो मुनि उसे स्वीकार न करे किन्तु वह साधु इन सब को माया समझ कर इन से दूर रहता हुआ समाधिभाव में स्थित रहे ॥

सव्वट्ठेहिं अमुच्छिए, आउकालस्स पारए। तितिक्खं परमं णच्चा, विमोहण्णयरं हियं ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः—(सव्वट्ठेहिं) सब अर्थों में अर्थात् पांच प्रकार के विषय तथा उनके साधनभूत द्रव्यों में (अमुच्छिए) मूर्छित न होता हुआ साधु (आउकालस्स) आयुष्य के समय को (पारए) पार करे। (तितिक्ख) तितिक्षा अर्थात् परीषह उपसर्गों को सहन करना (परम) परम-प्रधान धर्म है (णच्चा) ऐसा जान कर साधु यथाशक्ति (विमोहण्णयर) विमोहान्यतर अर्थात् मोहरहित भक्तपरिज्ञा, इंगित मरण और पादपोपगमन इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार करे क्योंकि (हियं) तीनों ही मरण हितकारी होते हैं। (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २५ ॥

भावार्थः—रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द ये पांच कामगुण कहलाते हैं और इनकी प्राप्ति के साधनभूत द्रव्य भी कामगुण कहलाते हैं, साधु इन दोनों में ही आसक्त न होता हुआ शुभ अध्यवसाय पूर्वक अपने आयु के काल को यथाविधि समाप्त कर समाधि-मरण को प्राप्त होवे।

भक्तपरिज्ञा, इङ्गितमरण और पादपोपगमन इन तीनों ही मरणों में परीषह और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करना प्रधान अङ्ग है। इसलिए द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार तीनों में से किसी भी मरण का सेवन करना अभीप्सित शुभ फल का देने वाला है। अत अपनी शक्ति के अनुसार किसी एक का आश्रय लेना मोक्षार्थी का कर्तव्य है। इस प्रकार श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बू-स्वामी से कहते हैं॥

॥ आठवाँ अध्ययन समाप्त ॥

उपधानश्रुत नामक नवां अध्ययन

प्रथम उद्देशक

पहले के आठ अध्ययनों में जो बातें बताई गई हैं, स्वय भगवान् महावीर स्वामी ने उनका आचरण किया था यह बात इस नवम अध्ययन में बताई जायगी। आठवें अध्ययन में तीन प्रकार के मरणो का कथन किया गया है। उन तीनों मरणों में से किसी एक को अङ्गीगार करने वाला मुनि भगवान् महावीर स्वामी का ध्यान करे जिन्होंने उक्त आठों अध्ययनो में बताये गये विधानों का स्वयं आचरण करते हुए अतिघोर परीषह और उपसर्गों को सहन किया था और तत्फलस्वरूप केवलज्ञान को प्राप्त किया था। उक्त मुनि उसी प्रकार परीषह उपसर्गों को सहन करे। इसी विषय को बताने के लिए यह नवम अध्ययन आरम्भ किया जाता है:—

अहासुयं वइस्सामि, जहा से समणे भगवं उट्ठाए । संखाए तंसि हेमंते, अहुणा पव्वइए रीइत्था ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(से) उन (समणे) श्रमण (भगवं) भगवान् महावीर स्वामी ने (उट्ठाए) उठ कर और (संखाए) समझ कर (तंसि) उस (हेमंते) हेमन्त ऋतु में (पव्वइए) दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् (अहुणा) तत्काल (जहा) जिस प्रकार (रीइत्था) विहार किया था, (अहासुय) उसका वर्णन जैसा मैंने सुना है वैसा ही (वइस्सामि) मै तुम से कहूँगा ॥ १ ॥

भावार्थः—श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं कि—हे आयुष्मन् जम्बू! भगवान् महावीर स्वामी के दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् किये हुए विहार के विषय में जैसा मैंने सुना है वैसा ही मैं तुम से कहूँगा।

भगवान् महावीर स्वामी ने समस्त आभूषणों का त्याग कर पञ्चमुष्टि लोच करके हेमन्त ऋतु मे मार्गशीर्ष कृष्णा दसमी के दिन दीक्षा अङ्गीकार की और उसी समय विहार कर दिया था। उस समय उनके शरीर पर इन्द्र के द्वारा डाले हुए देवदूष्य वस्त्र के सिवाय कुछ नहीं था। उसी दिन भगवान् कुण्डग्राम से विहार करके कर्मारग्राम को एक मुहूर्त्त दिन शेष रहते पहुँच गये थे।

णो चेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तंसि हेमंते। से पारए आवकहाए, एवं खु अणुधम्मियं तस्स ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(इमेण) इस (वत्थेण) वस्त्र के द्वारा (तसि) उस (हेमते) हेमन्त ऋतु में (पिहिस्सामि) अपने अगों को ढकूँगा इस भाव से भगवान् ने उस वस्त्र को (णो चेव) धारण नहीं किया था क्योंकि (से) वे (आवकहाए) जीवन भर के लिए (पारए) सांसारिक समस्त पदार्थों से पार हो चुके थे अर्थात् उनका त्याग कर चुके थे। किन्तु (एय) इसको यानी देवदूष्य वस्त्र को धारण करना (तस्स) भगवान् के लिए (अणुधम्मियं) आनुगामिक था यानी पूर्व तीर्थङ्करों द्वारा आचरण किया हुआ कार्य था ॥ २ ॥

भावार्थः—भगवान् ने देवदूष्य वस्त्र को इस आशय से धारण नहीं किया था कि मैं इसके द्वारा हेमन्त ऋतु मे अपना शीत निवारण करूँगा अथवा लज्जा को ढकूँगा क्योंकि भगवान् ने जीवन पर्यन्त के लिए सासारिक पदार्थों का त्याग कर दिया था। अतः उस वस्त्र को धारण करने का एकमात्र यही कारण था कि पहले के समस्त तीर्थङ्करो ने देवदूष्य वस्त्र को धारण किया था। अतः भगवान के लिए यह पूर्वाचरित धर्म था।

आगमों मे ऐसा वर्णन आता है कि—भूत काल में जितने तीर्थङ्कर हुए हैं तथा भविष्य काल मे जो होंगे एव वर्तमान काल में जो हैं, उन सभी ने प्रव्रज्या लेते समय देवदूष्य वस्त्र को धारण किया था, करेंगे और करते हैं। इसी परिपाटी के अनुसार भगवान् महावीर स्वामी ने भी देवदूष्य वस्त्र धारण किया था।

चत्तारि साहिए मासे, वहवे पाणजाइया आगम्म । अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरुसिया णं तत्थ हिंसिसु ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(साहिए चत्तारि मासे) कुछ अधिक चार मास तक (वहवे) बहुत से (पाणजाइया) प्राणी (आगम्म) आकर और (काय) भगवान् के शरीर पर (अभिरुज्झ) चढ़ कर (विहरिंसु) इधर उधर रेंगते थे तथा (आरुसिया) रक्त मासादि के लिए भगवान् के शरीर पर चढ़ कर (तत्थ) उनके शरीर को (हिंसिसु) डसते थे ॥ ३ ॥

भावार्थः—दीक्षा ग्रहण करते समय भगवान् के शरीर पर इन्द्र द्वारा डाले गये देवदूष्य वस्त्र की गन्ध से आकर्षित होकर भंवरे आदि प्राणी उनके शरीर पर आते थे और रक्त मांस की इच्छा से उनके शरीर को डसते थे। कुछ अधिक चार मास तक भगवान् ने उन प्राणियो द्वारा दिया हुआ कष्ट सहन किया था ॥

संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं । अचेलए तओ चाई, तं वोसिरिज्ज वत्थमणगारे ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(मास साहियं संवच्छर) कुछ मास अधिक एक वर्ष तक (भगव) भगवान् ने (वत्थग) उस वस्त्र का (ण रिक्कासि) त्याग नहीं किया था। (तओ) उसके पश्चात् भगवान् ने (तं) उस (वत्थ) वस्त्र का (चाई) त्याग कर दिया था। (वोसिरिज्ज) उसका त्याग करके (अचेलए) वस्त्र रहित (अणगारे) अनगार बने थे ॥ ४ ॥

भावार्थः—वह वस्त्र भगवान के शरीर पर कुछ मास अधिक एक वर्ष तक रहा। उसके पश्चात् उस के गिर जाने से वस्त्र-रहित हुए ॥

अदु पोरिसिं तिरियभित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो झाइ । अह चक्खुभीया संहिया ते, हंता हंता बहवे कंदिंसु ॥५॥

अन्वयार्थः—(अदु) इसके पश्चात् (पोरिसिं–पोरिसीं) पुरुष के प्रमाण के समान प्रमाण वाले (तिरियभित्तिं) तिर्च्छे भाग के ऊपर (चक्खु) दृष्टि (आसज्ज) लगा कर (अंतसो) उसके मध्य में ध्यान रखते हुए भगवान् (झाइ–झायइ) ईर्या समिति पूर्वक गमन करते थे। (अह) इसके पश्चात् (चक्खुभीया) इस प्रकार जाते हुए भगवान् को देख कर भयभीत बने हुए (ते) वे (बहवे) बहुत से बालक (सहिया) एकत्रित होकर (हता हता) भगवान् को मार मार कर (कंदिंसु) दूसरे बालकों को पुकारते थे ॥ ५ ॥

भावार्थः—भगवान् ईर्यासमिति के साथ पुरुष प्रमाण भूमि को आगे देखते हुए सावधानी पूर्वक गमन करते थे। उनकी दृष्टि अपने मार्ग से इधर उधर नहीं जाती थी। इस प्रकार जाते हुए भगवान् को देख कर छोटे छोटे लडके उन पर उपसर्ग करते थे। वे उन पर धूलि फेंकते थे तथा मुक्को आदि से मारते थे और कौतुक देखने के लिए दूसरे लडको को पुकारते थे।

सयणेहि वितिमिस्सेहिं, इत्थिओ तत्थ से परिण्णाय। सागारियं ण से सेवे, से सयं पवेसिया झाइ ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—जब कहीं (से) भगवान् को (वितिमिस्सेहिं) व्यतिमिश्रित यानी गृहस्थ और अन्यतीर्थियों से संयुक्त (सयणेहिं) शय्या अर्थात् स्थान प्राप्त हो जाता और (तत्थ) वहाँ पर (इत्थीओ) स्त्रिया यदि मैथुनादि की प्रार्थना करतीं तो (से) भगवान् उन्हें (परिण्णाय) जान कर यानी ज्ञपरिज्ञा से शुभ गति की बाधक समझ कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करते हुए (सागारियं) मैथुन का (ण सेवे–ण सेवइ) सेवन नहीं करते थे। (से) वे (सय) स्वयं (पवेसिया) अपनी आत्मा को वैराग्य मार्ग में प्रविष्ट करके (झाइ) धर्मध्यान शुक्लध्यान ध्याते थे ॥ ६ ॥

भावार्थः—भगवान् प्राय एकान्तसेवी थे परन्तु कभी कभी जब उनको निवासस्थान ऐसा प्राप्त होता जिसमे गृ

अन्यतीर्थिक भी होते, उस स्थान पर यदि कोई स्त्री मैथुन के लिए प्रार्थना करती तो भगवान् उसे स्वीकार नहीं करते थे। वे इसे शुभगति का बाधक समझते थे। वे धर्मध्यान और शुक्लध्यान ध्याते हुए वैराग्य मार्ग में ही स्थित रहते थे॥

जे के इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय से झाई। पुट्ठो वि णाभिभासिंसु, गच्छइ णाइवत्तइ अंजू॥ ७॥

अन्वयार्थः—(जे) जो (के) कोई (इमे) ये (अगारत्था) गृहस्थ हैं उनके (मीसीभाव) संसर्ग को (पहाय) छोड़ कर (से) वे भगवान् (झाई) शुभध्यान ध्याते थे। (पुट्ठो वि) उनके द्वारा पूछा जाने पर (णाभिभासिंसु) बोलते नहीं थे किन्तु (गच्छइ) वे अपने कार्य के लिए चलते ही जाते थे। (अंजू) संयमानुष्ठान में तत्पर भगवान् (णाइवत्तइ) मोक्ष मार्ग का अतिक्रमण नहीं करते थे॥ ७॥

नोटः—किसी किसी प्रति में "पुट्ठो वि नाभिभासिंसु गच्छइ णाइवत्तइ अजू" की जगह "पुट्ठो व सो अपुट्ठो व णो अणुण्णाइ पावग भगव" ऐसा पाठ है। जिसका शब्दार्थ इस प्रकार हैः—(पुट्ठो) पूछने पर (व) अथवा (अपुट्ठो) बिना पूछे (भगवं) भगवान् (पावगं) पाप कर्म की (णो अणुण्णाइ) आज्ञा नहीं देते थे॥

भावार्थः—भगवान गृहस्थों के संसर्ग से दूर रहते थे। किसी के कुछ पूछने पर वे कुछ भी उत्तर नहीं देते थे किन्तु मौन रहते थे। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ध्याते हुए वे सदा संयम एवं मोक्षमार्ग में तल्लीन रहते थे॥

णो सुकरमेयमेगेसिं, णाभिभासे य अभिवायमाणे। हयपुव्वे तत्थ दंडेहिं, लूसियपुव्वे अप्पपुण्णेहिं॥ ८॥

अन्वयार्थः—(एय) यह (एगेसिं) दूसरे सामान्य पुरुषों के लिए (णो सुकर) सरल बात नहीं है कि (अभिवायमाणे) वन्दन करने वालों से (णाभिभासे) बोले नहीं तथा (अप्पपुण्णेहिं–अपुण्णेहिं) पुण्यरहित यानी पापी—अनार्य पुरुषों द्वारा (दंडेहिं) डण्डे आदि

से (हयपुव्वे) हनन किया जाने पर (य) और (लूसियपुव्वे) छेदन भेदन किया जाने पर कुपित न होवे एवं चित्त को विकार रहित बनाये रखे ॥ ८ ॥

भावार्थः—जो बातें पहले कही गई हैं और जो आगे बताई जायेंगी उनका आचरण साधारण पुरुष नहीं कर सकता। भगवान् महावीर स्वामी का आचरण ऐसा ही था। जिसका आचरण साधारण पुरुषों द्वारा नहीं हो सकता। यदि कोई भगवान् को वन्दना करता तो वे उससे बोलते नहीं थे और जो वन्दना नहीं करता उस पर क्रोध भी नहीं करते थे। प्रतिकूल उपसर्ग होने पर वे चित्त में खिन्न नहीं होते थे। जब भगवान् अनार्य देश में पधारे तब वहाँ के अनार्य लोगों ने भगवान् को अनेक प्रकार से कष्ट पहुँचाया तो भी भगवान् सदा शान्त और समभावी बने रहे।

फरुसाइं दुत्तितिक्खाइं, अइयच्चे मुणी परक्कममाणे। आघायणट्टगीयाइं, दंडजुद्धाइं मुट्ठिजुद्धाइं ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(दुत्तितिक्खाइ) मुश्किल से सहन करने योग्य (फरुसाइ) कठोर वचनों को (परक्कममाणे) वे परम पराक्रमी (मुणी) भगवान् (अइयच्चे-अइयच्च) कुछ नहीं गिनते थे अपितु समभाव पूर्वक उन्हें सहन करते थे। (आघायणट्टगीयाइ) आख्यात, नृत्य और गीत तथा (दंडजुद्धाइं-दंडजुज्झाइ) दण्डयुद्ध और (मुट्ठिजुद्धाइ-मुट्ठिजुज्झाइ) मुष्टियुद्ध को देखने की इच्छा नहीं रखते थे ॥ ९ ॥

भावार्थः—अति कठोर वचनों को सुन कर भी भगवान् उन्हें समभाव पूर्वक सहन करते थे। तथा नाच, गान और दण्डयुद्ध मुष्टियुद्ध आदि को देखने की वे इच्छा नहीं करते थे ॥

गढिए मिहुकहासु, समयम्मि णायसुए विसोए अदक्खु। एयाइं से उरालाइं, गच्छइ णायपुत्ते असरणाए ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(णायसुए) ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर स्वामी जब कभी (मिहुकहासु) परस्पर वार्तालाप में (गढिए) तल्लीन स्त्रियों को (अदक्खू) देखते थे तो (समयम्मि) उस समय में (विसोग) हर्ष रहित होकर मध्यस्थ रहते थे। इस प्रकार (एयाइ) इन (उरालाइ) बड़े से बड़े अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों का (असरणाए) ख्याल न करते हुए (णायपुत्ते) ज्ञातपुत्र भगवान् (गच्छइ) संयम मार्ग में गमन करते थे ॥ १० ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी विहार करते हुए जब कभी मार्ग मे परस्पर वार्तालाप करती हुई स्त्रियों को देखते तो उनके हृदय मे किसी प्रकार का हर्ष उत्पन्न नहीं होता था किन्तु समभाव बना रहता था। भारी से भारी अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर भी वे संयम से विचलित नहीं होते थे ॥

अवि साहिए दुवे वासे, सीओदगं अभुच्चा णिक्खंते। एगत्तगए पिहियच्चे, से अहिएणायदंसणे संते ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—(अवि दुवे वासे साहिए) दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक (सीओदग) शीत जल यानी कच्चे पानी का (अभुच्चा) सेवन न करके (णिक्खते) भगवान् ने दीक्षा ग्रहण की थी। (से) वे भगवान् (एगत्तगए) एकत्व भावना से भावित चित्तवाले, (पिहियच्चे) क्रोध की ज्वाला को शान्त किये हुए तथा (अहिएणायदसणे) सम्यक्त्व की भावना से भावित और (संते) शान्त थे।

भावार्थः—अपने माता पिता का स्वर्गवास हो जाने के पश्चात् भगवान् दीक्षा लेने को तय्यार हुए किन्तु अपने परिवारवर्ग के अत्याग्रह से भगवान् दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृहस्थावास मे और ठहरे थे। उस समय में भगवान् ने कच्चे जल का सेवन नहीं किया था। उनके अन्त करण मे सदा एकत्व की भावना विद्यमान थी और क्रोध की ज्वाला शान्त हो गई थी। वे सम्यक्त्व की भावना से युक्त, शान्त और शान्तेन्द्रिय थे। इस प्रकार भगवान् ने गृहस्थावास मे ही सावद्य आरम्भ का त्याग कर दिया था।

पुढविं य आउकायं य, तेउकायं य वाउकायं य। पणगाइं बीयहरियाइं, तसकायं य सव्वसो णच्चा ॥१२॥
एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमंताइं से अभिण्णाय। परिवज्जिय विहरित्था, इय संखाय से महावीरे ॥१३॥

अन्वयार्थः—(पुढविं) पृथ्वीकाय (आउकाय) अप्काय (तेउकाय) तेउकाय (वाउकायं) वायुकाय (पणगाइं) पनक (बीयहरियाइं) बीज, हरित (य) और (तसकाय) त्रसकाय को (सव्वसो) सर्व रूप से (णच्चा) जान कर (य) तथा (एयाइं) ये सब (चित्तमंताइं) सचित्त (संति) हैं (पडिलेहे) ऐसा विचार कर (य) और (अभिण्णाय) समझ कर तथा (से) इनकी हिंसा से पाप लगता है (इय-इइ) ऐसा (संखाय) जान कर (महावीरे) भगवान् महावीर स्वामी (परिवज्जिय) इनकी हिंसा का त्याग करके (विहरित्था) विचरते थे ॥ १२-१३ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छहों कायों को चेतन जान कर इनका आरम्भ अर्थात् हिंसा न करते हुए विचरते थे।

अदु थावरा य तसत्ताए, तसा य थावरत्ताए। अदुवा सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला ॥१४॥

अन्वयार्थः—(कम्मुणा) कर्म से यानी कर्मों के वशीभूत होकर (थावरा) स्थावर जीव (तसत्ताए) त्रस रूप में परिणत होते हैं (अदुवा) अथवा (तसा-तसजीवा) त्रस प्राणी (थावरत्ताए) स्थावर रूप में परिणत होते हैं (अदुवा) अथवा (सव्वजोणिया) सर्व योनि वाले (बाला) अज्ञानी (सत्ता) जीव-कर्मों के वशीभूत होकर (पुढो) भिन्न भिन्न योनियों में (कप्पिया) परिवर्तित होते रहते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः—कर्मों के वशीभूत होकर त्रस जीव पृथ्वीकायादि स्थावर योनियों में और स्थावर जीव त्रस योनियों में उत्पन्न होते हैं। अथवा सभी योनि वाले जीव रागद्वेष से युक्त होकर अपने किये हुए कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न योनियों में उत्पन्न होते रहते हैं।

इस जगत् में वाल के अग्रभाग जितना एक भी प्रदेश बचा हुआ नहीं है जहाँ इस जीव ने अनेकों बार जन्म मरण न किये हों।

भगवं य एवमण्णेसिं, सोवहिए हु लुप्पई वाले। कम्मं य सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खे पावगं भगवं ॥१५॥

अन्वयार्थः—(भगव) भगवान् महावीर स्वामी ने (एव) इस प्रकार (अण्णेसिं) समझ लिया था कि (वाले) जो अज्ञानी (सोवहिए) उपधि से युक्त होता है वह (हु) निश्चय ही (लुप्पई) क्लेश को प्राप्त होता है। (कम्म) कर्म को (सव्वसो) सब प्रकार से (णच्चा) जान कर (भगव) भगवान् महावीर ने (त) कर्मों को उत्पन्न करने वाले (पावग) पाप कर्म का (पडियाइक्खे) त्याग कर दिया था ॥१५॥

भावार्थः—जो पुरुष द्रव्य से या भाव से उपधि युक्त होता है वह निश्चय ही कर्म जनित क्लेश का भाजन होता है यह जान कर भगवान् ने उपधि का त्याग कर दिया था और जिन कार्यों से कर्मों का बन्ध होता है उन कार्यों का भी भगवान् ने सर्वथा त्याग कर दिया था॥

दुविहं समिच्च मेहावी, किरियमक्खायऽणेलिसं णाणी। आयाणसोयमइवाय–सोयं जोगं य सव्वसो णच्चा ॥१६॥

अन्वयार्थः—(मेहावी) सब भावों को जानने वाले (णाणी) केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने (दुविह) दो प्रकार के कर्मों को (समिच्च) जान कर (अणेलिस) अनुपम (किरिय) संयम रूप क्रिया का (अक्खाय) कथन किया था तथा (सव्वसो) सम्पूर्ण रूप से (णच्चा) जान कर (आयाणसोय) आदानस्रोत (अइवायसोयं) अतिपातस्रोत (य) और (जोग) योगों को कर्मबन्ध का कारण बताया था॥ १६॥

भावार्थः—कर्म दो प्रकार के हैं—एक ईर्याप्रत्यय और दूसरा साम्परायिक। सर्वभावों के ज्ञाता भगवान् ने इन दोनों ही कर्मों को जान कर इनका नाश करने वाली संयमानुष्ठान रूप क्रिया का अनुपम रीति से उपदेश दिया था। इसी प्रकार उन केवलज्ञानी

भगवान् ने आदानस्रोत, अतिपातस्रोत और योगों का भी उपदेश दिया था। जिसके द्वारा कर्मों का ग्रहण होता है उसे आदान कहते हैं। उन्मार्ग में चलने वाली इन्द्रियाँ आदान हैं। वे कर्मों के आने के मार्ग हैं इसलिए आदानस्रोत कहलाती हैं। इसी तरह प्राणातिपात और मृषावाद आदि भी कर्मों के आने के स्रोत हैं तथा वचन और काया रूप योग भी कर्मों के आने के स्रोत हैं क्योंकि ये सभी कर्मबन्ध के हेतु हैं। इसलिए सब प्रकार से इन्हें जान कर भगवान् ने कल्याणार्थ संयम रूप क्रिया के पालन का आदेश किया था ॥

अइवत्तियमणाउट्टिं, सयमण्णेसिमकरणयाए। जस्सित्थिओ परिण्णाया, सव्वकम्मावहाओ से अदक्खू ॥१७॥

अन्वयार्थः—(अणाउट्टिं) जो अहिंसा को (अइवत्तिय) पाप रहित जान कर स्वयं उसका आचरण करता है तथा दूसरों से कराता है और (सयं) स्वयं (अकरणयाए) हिंसा नहीं करता है और (अण्णेसिं) दूसरों से भी नहीं कराता है तथा (जस्स) जिसने (इत्थिओ) स्त्रियों को (सव्वकम्मावहाओ) सब पापों का कारण (परिण्णाया) जान लिया है (से) वही (अदक्खू) यथार्थदर्शी है। ॥ १७ ॥

भावार्थः—जो पुरुष स्वयं हिंसा नहीं करता तथा दूसरों से भी नहीं करवाता है तथा जो स्त्रियों के स्वरूप को और उनमें आसक्ति के कारण होने वाले परिणाम को जानता है अर्थात् स्त्रियों को समस्त पापों का कारण समझता है वही परमार्थदर्शी है और वही संसार के स्वरूप का यथार्थ ज्ञाता है। भगवान् ने स्त्री के स्वभाव को जान कर उसका त्याग कर दिया था। इसलिए वे परमार्थदर्शी थे ॥

अहाकडं ण से सेवे, सव्वसो कम्म अदक्खू। जं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं वियडं भुंजित्था ॥१८ ॥

अन्वयार्थः—(भगवं) भगवान् महावीर स्वामी ने (अहाकडं) आधाकर्मी आहार का (ण सेवे) सेवन नहीं किया था, क्योंकि (से) वे उसमें (सव्वसो) सब प्रकार से (कम्म) कर्मों का बन्ध (अदक्खू) देखते थे। इसी तरह दूसरा भी (जं किंचि) जो कुछ (पावगं)

पाप का हेतु था (तं) उसका (भंगवं) भगवान् सेवन नहीं करते थे किन्तु (वियड) प्रासुक (भुंजित्था) आहार का सेवन करते थे ॥

भावार्थः—भगवान ने आधाकर्म आहार का कभी सेवन नहीं किया था क्योंकि आधाकर्म आहारादि के सेवन से आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध होता भगवान् ने देखा था। इसी तरह जिन जिन कार्यों से पाप होता भगवान् ने देखा था उन सब को छोड़ कर वे प्रासुक आहार का सेवन करते थे ॥

णो सेवइ य परवत्थं, परपाए वि से ण भुंजित्था। परिवज्जियाण ओमाणं, गच्छइ संखडिं असरणयाए ॥१९॥

अन्वयार्थः—भगवान् (परवत्थं) उत्तम वस्त्र अथवा दूसरे के वस्त्र का (णो सेवइ) सेवन नहीं करते थे (य) और (परपाए वि) दूसरों के पात्र मे भी (से) वे (ण भुंजित्था) नहीं खाते थे। वे (ओमाणं) अपमान को (परिवज्जियाण) त्याग कर (असरणयाए) अदीनभाव से (संखडिं) आहार के स्थान में (गच्छइ) जाते थे ॥ १९ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी बहुमूल्य वस्त्रों को या दूसरे के वस्त्रों को धारण नहीं करते थे। तथा वे दूसरे के पात्र में भी भोजन नहीं करते थे। वे अपमान का खयाल न करके अदीन वृत्ति से आहार के स्थान में जाते थे ॥

मायण्णे असणपाणस्स, णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे। अच्छिं पि णो पमज्जिया, णो वि य कंडूयए मुणी गायं ॥२०॥

अन्वयार्थः—भगवान् (असणपाणस्स) आहार पानी के (मायण्णे) परिमाण को जानते थे। वे (रसेसु) रसों में (णाणुगिद्धे) आसक्त नहीं होते थे तथा (अपडिण्णे) 'आज अमुक मिष्टान्न भोजन ही लूंगा' ऐसी प्रतिज्ञा भी वे नहीं करते थे। नेत्र की धूलि निकालने के लिए उन्होंने कभी (अच्छिं) आंख का (णो वि पमज्जिया) प्रमार्जन भी नहीं किया (य) और (मुणी) उन मुनि भगवान् ने (गायं) अपने शरीर में (णो वि कंडूयए) कभी खाज भी नहीं की ॥ २० ॥

भावार्थः—भगवान् आहार पानी की मात्रा को जानते थे अतः वे मात्रा के अनुसार ही आहार पानी का ग्रहण करते थे। वे रसों मे आसक्त नहीं थे। "आज मैं सिंहकेशरिया मोदक आदि मिष्टान्न ही लूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा नहीं करते थे किन्तु नीरस कुल्माष-कुलथी आदि के लिए तो अभिग्रह करते ही थे। भगवान् ने न तो कभी नेत्र की धूलि को निकालने के लिए नेत्र को परिमार्जित किया और न काष्ठ आदि के द्वारा अपने अङ्गो मे खाज ही की थी ॥

अप्पं तिरियं पेहाए, अप्पं पिट्ठओ व पेहाए। अप्पं वुइएऽपडिभासी, पंथपेही चरे जयमाणे ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः—भगवान् महावीर स्वामी (तिरिय) तिर्छे (अप्प पेहाए) न देखते हुए (व-य) और (पिट्ठओ) पीछे भी (अप्पं पेहाए) न देखते हुए (पथपेही) एक मात्र अपने मार्ग को देखते हुए (जयमाणे) यतना पूर्वक (चरे) चलते थे तथा किसी के कुछ पूछने पर (अपडिभासी-अपडिभाणी) कुछ न बोलते हुए (अप्प वुइए) मौन रहते थे ॥ २१॥

भावार्थः—मार्ग मे चलते समय भगवान् इधर उधर तिर्छे या पीछे की ओर नहीं देखते थे किन्तु सामने मार्ग को देखते हुए यतनापूर्वक विहार करते थे और किसी के कुछ पूछने पर वे कुछ भी बोलते नहीं थे किन्तु मौन रहते थे ॥

सिसिरंसि अद्धपडिवण्णे, तं वोसिज्ज वत्थमणगारे। पसारित्तु बाहुं परक्कमे, णो अवलंबियाण खंधंसि ॥२२॥

अन्वयार्थः—(अणगारे) अनगार भगवान् महावीर स्वामी (सिसिरंसि-सिसिरम्मि) शिशिर ऋतु के (अद्धपडिवण्णे) आरम्भ मे ही (त) उस (वत्थ) देवदूष्य वस्त्र को (वोसिज्ज) त्याग कर (बाहु-बाहू) भुजाओ को (पसारित्तु) फैला कर (परक्कमे) चलते थे किन्तु शीत से पीड़ित होकर भुजाओं को संकुचित कर तथा (खधसि-खधम्मि) कन्धो का (अवलंबियाण) अवलम्बन लेकर (णो) नही चलते थे ॥ २२॥

भावार्थः—भगवान् शिशिर ऋतु के आरम्भ में ही उस देवदूष्य वस्त्र को त्याग कर अपनी भुजाओं को फैला कर चलते थे परन्तु शीत से पीडित होकर भुजाओं को संकुचित नहीं करते थे तथा कन्धों का अवलम्बन भी नहीं लेते थे ॥

एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मइमया । बहुसो अपडिण्णेण, भगवया एवं रीयंति त्ति बेमि ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः— (मइमया) मतिमान् (अपडिण्णेण) निदान रहित (माहणेण) माहन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (बहुसो) अनेक प्रकार से (एस) इसी (विही) विधि का (अणुक्कंतो) आचरण किया था इसलिए अन्य मोक्षार्थी आत्माओं को (एवं) इसी प्रकार (रीयति-रीयंते) आचरण करना चाहिए । (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ २३ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वोक्त प्रकार से आचरण किया था इसलिए दूसरे मोक्षार्थी पुरुषों को भी इसी प्रकार आचरण करना चाहिए ऐसा श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से कहते हे ॥

॥ इति नवम अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक

पहले उद्देशक में भगवान् की चर्या का वर्णन किया गया है, अब उस वसति का वर्णन किया जाता है जहाँ भगवान् ठहरते थे।

चरियासणाइं सिज्जाओ, एगइयाओ जाओ बुइयाओ। आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइं सेवित्था से महावीरे ॥१॥

अन्वयार्थः—(चरिया) भगवान् महावीर स्वामी की चर्या में (जाओ) जो (एगइयाओ) कितनेक (आसणाइ) आसन और (सिज्जाओ) शय्याएँ (बुइयाओ-भइयाओ) कही गई है (जाइ) जिन्हें (से) उन (महावीरे) भगवान् महावीर स्वामी ने (सेवित्था) सेवन किया था (ताइ) उन (सयणासणाइ) शय्या और आसनों के विषय में (आइक्ख) आप मुझ से कहिये ॥ १ ॥

भावार्थः—जम्बूस्वामी अपने गुरु श्री सुधर्मास्वामी से पूछते है कि हे भगवन्! भगवान् महावीर स्वामी ने जैसी शय्या और आसनादि का सेवन किया था उन शय्या और आसन आदि के विषय में कृपा कर आप मुझ से कहिये।

आवेसणसभापवासु, पणियसालासु एगया वासो। अदुवा पलियट्ठाणेसु, पलालपुंजेसु एगया वासो ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—भगवान् महावीर स्वामी (एगया) कभी (आवेसण) जिसके चारों तरफ दीवार बनी हुई हो ऐसे सूने घर में, (सभा) सभा और (पवासु) प्याऊ के स्थान में और (पणियसालासु) दूकानों में (वासो) निवास करते थे (अदुवा) अथवा (एगया) कभी (पलियट्ठाणेसु) बढ़ई और लुहार आदि के कार्य करने के स्थान में और (पलालपुंजेसु) मंच के ऊपर रखे हुए तृणपुञ्ज के नीचे (वासो) निवास करते थे ॥ २ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी कभी सूने घर सभा, प्याऊ और दूकान मे निवास करते थे और कभी बढई और लुहार के कार्य करने क स्थान मे और मञ्च के ऊपर रखे हुए तृणो के नीचे निवास करते थे ॥

आगंतारे आरामागारे, तह य णगरे वि एगया वासो। सुसाणे सुएणगारे वा, रुक्खमूले वि एगया वासो॥३॥

अन्वयार्थः—भगवान् महावीर (एगया) कभी (आगतारे) मुसाफिरों के उतरने के स्थान मे यानी धर्मशाला आदि मे, (आरामागारे) वगीचे में वने हुए मकान में (तह य) और कभी (णगरे वि) नगर मे (वासो) निवास करते थे। (एगया) कभी (सुसाणे) श्मशान मे (सुएणगारे) दीवार रहित सूने घर में (वा) अथवा कभी (रुक्खमूले वि) वृक्ष के नीचे भी (वासो) निवास करते थे ॥ ३ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी अवसर के अनुसार कभी धर्मशाला मे, कभी बगीचे मे वने हुए मकान मे, कभी नगर मे, कभी श्मशान मे, कभी सूने घर मे और कभी वृक्ष के नीचे निवास करते थे ॥

एएहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसि पतेरसवासे। राइंदियंवि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाइ ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(मुणी) तपस्या मे रत मुनि (समणे) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने (एएहिं) इन (सयणेहिं) स्थानों में (पतेरसवासे–पतेलसवासे) उत्कृष्ट तेरह वर्ष तक अर्थात् तेरह वर्ष से अधिक नही किन्तु तेरह वर्ष से कुछ कम समय तक (आसि) निवास किया था। वे (राइ दिय वि–राइं दिव पि) रात दिन (जयमाणे) संयम के अनुष्ठान मे यत्नवान् रहते थे। वे (अप्पमत्ते) कभी प्रमाद नही करते थे एव (समाहिए) स्थिर चित्त होकर (झाइ) धर्मध्यान शुक्लध्यान ध्याते थे ॥ ४ ॥

भावार्थः—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी तेरह वर्ष से कुछ कम समय तक इन पूर्वोक्त श्मशान, सूने घर, वृक्षमूल आदि

स्थानों में निवास करते हुए कठिन तपस्या करते थे। वे रात दिन संयम के अनुष्ठान में लगे रहते थे किन्तु कभी प्रमाद का सेवन नहीं करते थे। उनका चित्त सदा समाधिस्थ रहता था। इस प्रकार के धर्मध्यान शुक्लध्यान का चिन्तवन करते थे।

णिद्दंपि णो पगामाए, सेवइ भगवं उट्ठाए। जग्गावइ य अप्पाणं, ईसिं साई य अपडिण्णे ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(भगव) भगवान् (णिद्दं पि) निद्रा का (णो सेवइ) सेवन भी नही करते थे। यदि कभी (ईसिं) थोड़ी-सी भी (साई) निद्रा उन्हें सताती तो वे (उट्ठाए) उठ कर (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (पगामाए-जग्गावइ) पूर्णतया सदा जागृत रखते थे अर्थात् उत्तम अनुष्ठान में तल्लीन रखते थे किन्तु (अपडिण्णे) सोने की कभी इच्छा तक नही करते थे ॥ ५ ॥

भावार्थः—समस्त प्रमादो से रहित भगवान् निद्रा का सेवन भी नही करते थे। वे सदा अपनी आत्मा को शुभ अनुष्ठान मे प्रवृत्त रखते थे किन्तु सोने की कभी इच्छा तक नही करते थे।

संबुज्झमाणे पुणरवि, आसिंसु भगवं उट्ठाए। णिक्खम्म एगया राओ, बहि चंकमिया मुहुत्तागं ॥६॥

अन्वयार्थः—(संबुज्झमाणे) निद्रा प्रमाद संसारभ्रमण का कारण है यह समझते हुए (भगव) भगवान् निद्रा प्रमाद से सर्वथा वर्जित (आसिंसु) थे। (पुणरवि) फिर भी यदि कभी जरा सा भी निद्राप्रमाद उन्हे सताता तो वे (उट्ठाए) उठ कर खड़े हो जाते थे और निद्रा प्रमाद की निवृत्ति के लिए (एगया) कभी कभी (राओ) रात्रि में (बहिं) अपने स्थान से बाहर (णिक्खम्म) निकल कर और वहाँ (मुहुत्तागं) मुहूर्त्त पर्यन्त (चंकमिया) कुछ कदम चल कर ध्यान में स्थित होते थे ॥ ६ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी के चित्त मे निद्रा प्रमाद न था। वे समझते थे कि निद्राप्रमाद संसारभ्रमण का कारण

होता है। यदि कभी निद्राप्रमाद का उदय हो आता तो भगवान् उसकी निवृत्ति के लिए शीतकाल की रात में अपने स्थान से बाहर निकल कर और वहीं कुछ टहल कर ध्यान मे स्थित हो जाते थे।

सयणेहिं तत्थुवसग्गा, भीमा आसी अणेगरूवा य। संसप्पगा य जे पाणा, अदुवा जे पक्खिणो उवचरंति ॥७॥

अन्वयार्थः—भगवान् (सयणेहिं) जिन स्थानों में ठहरते थे (तत्थ) वहां (अणेगरूवा) अनेक प्रकार के (भीमा) भयंकर (उवसग्गा) उपसर्ग (आसी) हुए थे (य) और (जे) जो (ससप्पगा पाणा) सरक कर चलने वाले प्राणी हैं उन सर्प, नकुल आदि प्राणियों द्वारा (अदुवा) तथा (जे) जो (पक्खिणो) पक्षी (उवचरति) समीप आकर मांसभक्षण करते थे उन गीध आदि प्राणियों द्वारा बहुत से उपसर्ग हुए।

भावार्थः—जहाँ भगवान् ठहरते थे वहां शीत, ऊष्ण, अनुकूल और प्रतिकूल अनेक प्रकार के भयङ्कर उपसर्ग हुए। सूने घर में ठहरने पर सर्प और नकुल आदि द्वारा तथा श्मशान मे गीध और शृगाल आदि मांसभक्षी प्राणियो द्वारा अनेक भयङ्कर उपसर्ग हुए।

अदु कुचरा उवचरंति, गामरक्खा य सत्तिहत्था य। अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगइया पुरिसो य ॥८॥

अन्वयार्थः—भगवान् को कभी (कुचरा) चोर और पारदारिक आदि (अदु) और कभी (सत्तिहत्था) शक्ति और भाला आदि शस्त्र हाथ रखने वाले (गामरक्खा) ग्रामरक्षक पुरुष (उवचरति) उपसर्ग करते थे (य) और (एगइया) कभी (गामिया) ग्राम के (इत्थी) स्त्री (अदु) अथवा (पुरिसो) पुरुष द्वारा (उवसग्गा) उपसर्ग दिये जाते थे ॥ ८ ॥

भावार्थः—सूने घर में ठहरने पर चोर और पारदारिक आदि द्वारा उपसर्ग दिये जाते थे और बाजार में दूकान आदि पर

ठहरने पर शस्त्रधारी ग्रामरक्षकों द्वारा उपसर्ग दिये जाते थे तथा कभी-कभी एकान्त स्थान मे ठहरने पर किसी स्त्री और पुरुष द्वारा उपसर्ग दिये जाते थे।

इह लोइयाइं परलोइयाइं, भीमाइं अणेगरूवाइं। अवि सुब्भिदुब्भिगंधाइं, सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥६॥

अन्वयार्थः—भगवान् महावीर स्वामी (इहलोइयाइ) इहलौकिक और (परलोइयाइं) पारलौकिक (अणेगरूवाइ) अनेक प्रकार के (भीमाइ) भयंकर उपसर्गों को सहन करते थे। (अवि) और (सुब्भिदुब्भिगधाइं) सुगन्ध और दुर्गन्ध सम्बन्धी तथा (सद्दाइ) भयंकर शब्द सम्बन्धी (अणेगरूवाइ) अनेक प्रकार के उपसर्ग सहन करते थे ॥ ६ ॥

भावार्थः—इस लोक मे दुःख देने वाले दण्डप्रहार आदि प्रतिकूल और परभव मे दुःख देने वाले स्त्री आदि से किये हुये अनुकूल इन दोनो प्रकार के परीषहों को तथा मनुष्य और तिर्यञ्चकृत और देवादिकृत परीषह उपसर्गों को भगवान् समभावपूर्वक सहन करते थे। सुगन्ध और दुर्गन्ध तथा मधुर शब्द और कठोर शब्द इन सब को एक समान विकाररहित चित्त से सहन करते थे।

अहियासए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं। अरइं रइं अभिभूय, रीयइ माहणे अबहुवाई ॥१०॥

अन्वयार्थः—(माहणे) माहन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी (सया) सदा (समिए) समिति से युक्त होकर (विरूवरूवाइ) अनेक प्रकार के (फासाइ) कष्टों को (अहियासए) समभावपूर्वक सहन करते थे और (अरइं) अरति और (रइं) रति को (अभिभूय) हटा कर (अबहुवाई) बहुत न बोलते हुए (रीयइ) विचरते थे ॥ १० ॥

भावार्थः—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी सदा पांच समितियों से युक्त रहते हुए अनेक प्रकार के परीषहों को सहन करते थे। वे अधिक नहीं बोलते थे और सयम में अरति और असंगम में रति को हटाकर विचरते थे।

स जणेहिं तत्थ पुच्छिसु, एगचरा वि एगया राओ। अव्वाहिए कसाइत्था, पेहमाणे समाहिं अपडिएणे ॥११॥

अन्वयार्थः—(एगया) कभी कभी (तत्थ) वहां पर (राओ) रात्रि के समय (एगचरा) अकेले घूमने वाले परस्त्री लम्पट आदि (जणेहिं) पुरुष (स) भगवान् महावीर स्वामी से (पुच्छिंसु) पूछते थे और (अव्वाहिए) भगवान् के कुछ न बोलने पर (कसाइत्था) वे क्रोधित होते थे परन्तु भगवान् (समाहिं) समाधि में (पेहमाणे) तल्लीन रहते हुए (अपडिएणे) अपने अपमान का बदला लेने की इच्छा नहीं करते थे ॥ ११ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी एक पक्ष अधिक साढ़े बारह वर्ष तक अकेले विचरे थे। उस समय जब वे सूने घर आदि में ठहरते थे तब रात्रि के समय परस्त्री लम्पट जार आदि २ आकर उनसे पूछते थे कि "तू कौन है? कहाँ का है? यहां क्यों ठहरा हुआ है?" किन्तु भगवान् कुछ भी उत्तर नहीं देते थे। तब वे अज्ञानी क्रोधित होकर भगवान् को पीटते थे। भगवान् इन सब परीषहों को समभावपूर्वक सहन करते थे किन्तु बदला लेने की कभी इच्छा नहीं करते थे।

अयमंतरंसि को इत्थ, अहमंसित्ति भिक्खू आहट्टु। अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए कसाइए झाइ ॥१२॥

अन्वयार्थः—(इत्थ) यहां (अंतरंसि) इस मकान के अन्दर (अय) यह (को) कौन है? ऐसा पूछने पर (अहं) मैं (भिक्खू) भिक्षु (असि त्ति) हूँ इस प्रकार (आहट्टु) कह कर भगवान् (तुसिणीए) चुप हो जाते थे। (कसाइए) यदि वे क्रोधित होते तो (अय) इस परीषह को समभावपूर्वक सहन करना (उत्तमे) उत्तम (धम्मे) धर्म है ऐसा जानकर (से) वे भगवान् चुपचाप रहकर (झाइ) शुभ-ध्यान में संलग्न रहते थे॥ १२ ॥

भावार्थः—जब भगवान् सूनें घर आदि में ठहरते थे तब परस्त्री लम्पट जार आदि पुरुष आकर उनसे पूछते थे कि इस मकान के अन्दर यह कौन है ? यह सुनकर भगवान् प्राय. मौन ही रहते थे परन्तु किसी समय भारी अनर्थ को दूर करने के लिए वे सिर्फ इतना कह देते थे कि "मै भिक्षु हूँ"। यदि वे अज्ञानी क्रोधित होकर मारपीट आदि करते तो परीषहो को समभावपूर्वक सहन करते थे और सदा शुभध्यान मे तल्लीन रहते थे।

जंसिप्पेगे पवेयंति, सिसिरे मारुए पवायंते । तंसिप्पेगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसंति ॥ १३ ॥
संघाडीओ पवेसिस्सामो, एहा य समादहमाणा । पिहिया वा सक्खामो, अइदुक्खे हिमगसंफासा ॥ १४ ॥
तंसि भगवं अपडिण्णे, अहे वियडे अहियासए दविए । णिक्खम्म एगया राओ, ठाइए भगवं समियाए ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—(जंसिप्पेगे) जिस शिशिरऋतु में कितनेक पुरुष (पवेयंति) शीत से कांपने लगते हैं और जब (तसि) उस (सिसिरे) शिशिरऋतु मे (हिमवाए) हिमकणों से युक्त ठंडी (मारुए) हवा (पवायते) चलने लगती है तो (एगे) अन्यदर्शन वाले कितनेक (अणगारा) अनगार (णिवायं) वायुरहित स्थान (एसति) ढूंढते है। और कितनेक अनगार यह विचार करते हैं कि हम (संघाडीओ) कम्बल आदि वस्त्रों में (पवेसिस्सामो) प्रवेश करेंगे यानी कम्बल आदि ओढ कर रहेंगे और कितनेक ऐसा विचार करते हैं कि हम (पिहिया) अपने शरीर को कपड़ो से ढक कर ही (सक्खामो) शीत को सहन कर सकेंगे (य) और अन्यतीर्थी लोग शीत निवारण के लिए (एहा) काष्ठादि (संमादहमाणा) जलाते हैं वे कहते हैं कि (हिमगसंफासा) शीत को सहन करना (अइदुक्खे) बड़ा कठिन है।

(तसि) उस शीत ऋतु मे (दविए) शुद्धसंयम का पालन करने वाले (भगवं) भगवान् (अहियासए) शीत परीषह को समभाव

पूर्वक सहन करते थे (अपडिण्णे) वे यह इच्छा भी न करते थे कि 'मुझे पवन रहित स्थान मिले'। जिस स्थान में भगवान् ठहरते थे वह प्राय. (अहे) नीचे (वियडे) कच्चा आंगन वाला होता था। (एगया) कभी कभी (राओ) रात्रि के समय (भगव) भगवान् (णिक्खम्म) अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर निकल कर (समियाए) शान्तिपूर्वक शीत को सहन करते हुए (ठाइए) स्थित रहते थे ॥१३॥से॥१५॥

भावार्थः—शिशिर ऋतु मे साधारण व्यक्ति शीत से कापने लगते और अन्यतीर्थिक साधु शीतनिवारण के लिए कम्बल आदि की याचना करते और पवनरहित स्थान का आश्रय लेते तथा कितनेक तो लकडी जला कर शीत की निवृत्ति करते हैं। शीतस्पर्श की पीडा बडी दु.सह होती है इसलिए वे लोग ऐसा करते हैं किन्तु उस शिशिरऋतु मे भगवान् महावीर स्वामी समभावपूर्वक शीतस्पर्श को सहन करते थे। वे यह इच्छा भी नहीं करते थे कि मुझे पवनरहित स्थान मिले। कभी कभी रात्रि के समय भगवान् अपने ठहरे हुए स्थान से बाहर निकलकर शीतस्पर्श को समभावपूर्वक सहन करते हुए ध्यानस्थ खडे रहते थे।

एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मइमया। बहुसो अपडिण्णे, भगवया एवं रीयंति ॥ १६ ॥ त्ति बेमि ॥

अन्वयार्थः—(मइमया) मतिमान् (अपडिण्णेण) निदान रहित (माहणेण) माहन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (बहुसो) बहुत बार (एस) इस (विही) विधि का (अणुक्कंतो) आचरण किया था। इसलिए अन्य मोक्षार्थी आत्माओं को भी (एवं) इसी प्रकार (रीयति-रियंति) आचरण करना चाहिए (त्ति बेमि) ऐसा मै कहता हूँ ॥ १६ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वोक्त प्रकार से आचरण किया था। इसलिए दूसरे मोक्षार्थी पुरुषों को भी उनका अनुकरण करना चाहिए ऐसा श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी से कहते हैं।

॥ इति नवम अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन का तृतीय उद्देशक

दूसरे उद्देशक में भगवान् की शय्या के विषय मे कहा गया है। उन स्थानों मे रहते हुए भगवान् ने जो परीषह और उपसर्ग सहन किये थे वे तीसरे उद्देशक में बताये जाते हैं.—

तणफासे सीयफासे य, तेउफासे य दंसमसगे य। अहियासिए सया समिए, फासाइं विरूवरूवाइं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(सया) सदा (समिए) समिति युक्त भगवान् महावीर स्वामी (तणफासे) तृणस्पर्श (सीयफासे) शीतस्पर्श (तेउफासे) तेजस्पर्श (य) और (दसमसगे) दंशमशकस्पर्श (य) तथा (विरूवरूवाइं) नाना प्रकार के (फासाइं) परीषह उपसर्गों को (अहियासए) सम-भाव पूर्वक सहन करते थे ॥ १ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श और दश मच्छर के परीषह को तथा नाना प्रकार के परीषह उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करते थे।

अह दुच्चरं लाढमचारी, वज्जभूमिं य सुब्भभूमिं य। पंतं सिज्जं सेविंसु, आसणगाणि चेव पंताणि ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—(अह) इसके पश्चात् (दुच्चरं) जहां विचरना बड़ा ही कठिन है ऐसे (लाढ) लाढ देश की (वज्जभूमिं) वज्रभूमि (य) और (सुब्भभूमिं) शुभ्रभूमि मे (अचारी) भगवान् ने विहार किया था (य) और (पंत) प्रांत (सिज्ज) शय्या का (चेव) और (पंताणि) प्रांत (आसणगाणि) आसनों का (सेविंसु) सेवन किया था ॥ २ ॥

भावार्थः—जहाँ विचरना बड़ा ही कठिन है ऐसे लाढ देश की वज्रभूमि और शुभ्रभूमि इन दोनों ही प्रदेशो मे भगवान् विचरे थे। वहाँ अनेक उपद्रवों से युक्त सूने घर आदि में भगवान् ने विश्राम लिया था और काठ आदि टेढे मेढे आसन पर ही शयन किया था।

लाढेहिं तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिंसु। अह लूहदेसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु णिवइंसु ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(लाढेहिं) लाढ देश में (तस्स) उन भगवान् महावीर स्वामी को (बहवे) बहुत (उवसग्गा) उपसर्ग हुए थे। (अह) वहां (भत्ते) आहार (लूहदेसिए) रूखा सूखा ही मिलता था। (जाणवया) उस देश के अनार्य लोग (लूसिंसु) भगवान् को मारते थे और (तत्थ) वहां (कुक्कुरा) कुत्ते (हिंसिंसु) उन्हे काटते थे और (णिवइंसु) उनके ऊपर टूट पड़ते थे॥ ३॥

भावार्थः—लाढ देश मे विचरते समय भगवान् को बहुत उपसर्ग हुए थे। वहाँ के निवासी अनार्य लोग भगवान् को मारते थे, कुत्ते उन्हे काटते थे और उन पर टूट पड़ते थे।

अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दसमाणे। छुच्छुकारिंति आहंसु, समणं कुक्कुरा दसंतु त्ति ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—(लूसणए) जब शिकारी कुत्ते भगवान् को काटते थे तब (दसमाणे) काटने वाले (सुणए) उन कुत्तों को (अप्पे जणे) बहुत थोड़े अर्थात् हजारों में से एकाध व्यक्ति ही (णिवारेइ) निवारण करने वाला होता था; बाकी सभी (छुच्छुकारिंति) छुछु शब्दों द्वारा (आहंसु) कुत्तों को उत्साहित करते थे। वे चाहते थे कि (कुक्कुरा) कुत्ते (समणं) इस साधु को (दसंतु) काट खायें॥ ४॥

भावार्थः—उस लाढ देश मे विचरते समय भगवान् को जब कुत्ते काटने लगते थे तो वहाँ के निवासियो मे हजारो में से कोई एकाध ही ऐसा निकलता जो उन कुत्तो को निवारण करता था अन्यथा सब के सब उन कुत्तो को छू छू करके काटने के लिए ही प्रेरित

करते थे। ऐसे भयङ्कर देश में भगवान् ने छ: मास तक भ्रमण किया था।

एलिक्खए जणा भुज्जो, बहवे वज्जभूमि फरुसासी। लट्ठिं गहाय णालियं, समणा तत्थ य विहरिंसु॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—(वज्जभूमि) उस लाढदेश की वज्रभूमि में (एलिक्खए) इस तरह के (बहवे) बहुत से (जणा) मनुष्य (फरुसासी) रूक्ष आहार करने वाले थे अतएव वे स्वभाव से ही क्रोधी होते थे (तत्थ) वहां पर (समणा) अन्यतीर्थिक भिक्षु (लट्ठिं) अपने शरीर प्रमाण लाठी अथवा (णालिय) नालिका अर्थात् अपने शरीर से चार अगुल अधिक बड़ी लकड़ी (गहाय) लेकर विचरते थे। ऐसे विकट देश में भगवान् ने (भुज्जो) बारबार (विहरिंसु) विहार किया था॥ ५ ॥

भावार्थः—उस लाढ देश की वज्रभूमि के निवासियों का रूक्षाहार होता है इसलिए वे स्वभाव से ही बडे क्रोधी होते हैं। वहाँ रहने वाले अन्यतीर्थिक भिक्षु हाथ मे लाठी या नालिका लेकर विचरते हैं और उसके द्वारा वे कुत्तो को निवारण करते हैं। ऐसे विकट देश में भगवान् ने बार बार विहार किया था।

एवं वि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुव्वा अहेसि सुणएहिं। संलुंचमाणा सुणएहिं, दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—(तत्थ) उस देश मे (एवं वि) इस प्रकार हाथ में लाठी या नालिका लेकर (विहरंता) विचरते हुए भी अन्य-थैक भिक्षु (सुणएहिं) कुत्तों द्वारा (पुट्ठपुव्वा अहेसिं) काटे गये थे और (सुणएहिं) कुत्तो द्वारा (संलुंचमाणा) नोचे गये थे। इसलिए (तत्थ) (लाढेहिं) लाढ देश में (दुच्चरगाणि–दुच्चराणि) विचरना बड़ा ही कठिन था॥ ६ ॥

भावार्थः—हाथ में लाठी या नालिका लेकर विचरने पर भी अन्यतीर्थिक भिक्षुओं को कुत्ते काट खाते थे। वैसे विकट देश में भी भगवान् समभावपूर्वक विचरे थे।

णिहाय दंडं पाणेहिं, तं कायं वोसिज्जमणगारे। अह गामकंटए भगवं ते, अहियासए अभिसमिच्चा ॥ ७॥

अन्वयार्थः—(अणगारे) गृहरहित अनगार (भगव) भगवान् (पाणेहिं) प्राणियों को (दंड) दण्ड देने का (णिहाय) सर्वथा त्याग करके और (तं) अपने (कायं) शरीर पर (वोसिज्ज) ममत्व का त्याग करके (अह) और परीषहों को समभावपूर्वक सहन करने से निर्जरा होती है ऐसा (अभिसमिच्चा) जान कर (ते) उन (गामकंटए) नीच जनों के कठोर वाक्यों को और अन्य परीषहों को (अहियासए) समभाव पूर्वक सहन करते थे ॥ ७ ॥

भावार्थः—भगवान् ने मन, वचन, काया से प्राणियों को दण्ड देने का त्याग किया था तथा उन्होंने अपने शरीर की ममता भी त्याग दी थी अतएव निर्जरा के लिए नीचजनों के कठोर वचनों को और दूसरे परीषह उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन करते थे।

णागो संगामसीसे वं, पारए तत्थ से महावीरे। एवं वि तत्थ लाढेहिं, अलद्धपुव्वो वि एगया गामो ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः—(णागो व) जैसे हाथी (संगामसीसे) संग्राम के अग्रभाग में शत्रुओं का प्रहार सहन करता हुआ (पारए) शत्रु-सेना को पार कर जाता है (एवं वि) इसी तरह (से) उन (महावीरे) भगवान् महावीर स्वामी ने भी परीषहों को सहन करते हुए (तत्थ) उस (लाढेहिं) लाढ देश को पार किया था। (एगया) कभी कभी तो (तत्थ) उस लाढ देश में ठहरने के लिए भगवान् को (गामो)

ग्राम भी (अलद्धपुव्वो) नहीं मिला था ॥ ८ ॥

भावार्थः—जैसे हाथी संग्राम के अग्रभाग मे जाकर शत्रु के प्रहार की परवाह न करता हुआ शत्रु सैना को जीत कर उसको पार कर जाता है। इसी तरह भगवान् महावीर स्वामी ने भी लाढ देश मे परीपहो को जीत करके उस देश को पार किया था। कभी कभी ठहरने के लिए उन्हे ग्राम भी नहीं मिलता था। तब वे जङ्गल में वृक्षादि के नीचे ठहर जाते थे।

उवसंकमंतमपडिएणं, गामंतियं वि अप्पत्तं। पडिणिक्खमित्तु लूसिंसु, एयाओ परं पलेहि त्ति ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(उवसकमत) भिक्षार्थ या निवासार्थ जाते हुए (अपडिएण) प्रतिज्ञारहित (गामंतियवि–गामतियम्मि) ग्राम के निकट (अप्पत्त) न पहुचे हुए भगवान् को (पडिणिक्खमित्तु) ग्राम से निकल कर वे अनार्य लोग (लूसिसु) मारते थे। और वे (त्ति) इस प्रकार कहते थे कि (एयाओ) यहां से (परं) दूर (पलेहि) चला जा ॥ ९ ॥

भावार्थः—लाढ देश मे विचरते हुए भगवान् जब कभी भिक्षार्थ या निवासार्थ ग्राम के पास जाते थे तो ग्राम के पास पहुँचने से पहिले ही वहाँ के अनार्य लोग ग्राम से निकल कर भगवान् को अनेक प्रकार से कष्ट देते थे और कहते थे कि यहाँ से दूर चला जा।

हयपुव्वो तत्थ दंडेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुंतफलेण। अदु लेलुणा कवालेण, हंता हंता बहवे कंदिंसु ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—(तत्थ) वहां लाढ देश में कोई (दडेण) डण्डे से (अदुवा) अथवा कोई (मुट्ठिणा) मुट्ठी से (अदु) अथवा कोई (कुंत-फलेण) भाले से (अदु) अथवा कोई (लेलुणा) मिट्टी के ढैले से और कोई (कवालेण) टूटे हुए घड़े के टुकड़ों से (हयपुव्वो) भगवान् को

मारते थे। इस प्रकार (हंता हता) मार मार कर (बहवे) बहुत से अनार्य लोग (कंदिंसु) होहल्ला मचाते थे॥ १० ॥

भावार्थः—लाढ देश में अनार्य लोग भगवान् को लाठी, मुट्ठी, भाला, पत्थर और घड़े के टुकड़ों आदि से मारते थे और मार कर हल्ला मचाते थे।

मंसाइं छिएणपुव्वाइं, उट्ठंभिया एगया कायं। परीसहाइं लुंचिंसु, अदुवा पंसुणा उवकरिंसु ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः—वे अनार्य लोग कभी कभी भगवान् का (मंसाइं) मांस (छिएणपुव्वाइं) काट लेते थे और (एगया) कभी कभी (कायं) उनके शरीर को (उट्ठंभिया) पकड़ कर धक्का देते थे। और कभी कभी (लुंचिंसु) उन्हें पीटते थे (अदुवा) अथवा उनके ऊपर (पंसुणा) धूलि (उवकरिंसु) उछालते थे। इस प्रकार (परीसहाइं) अनेक परीषह देते थे किन्तु भगवान् उन सब को समभाव पूर्वक सहन करते थे॥ ११ ॥

भावार्थः—कभी कभी वे अनार्य लोग भगवान् का मांस काट लेते थे, उन्हें धक्का देते थे, मारते थे और उनके ऊपर धूलि फैंकते थे किन्तु भगवान् इन सब परीषहों को समभावपूर्वक सहन करते थे।

उच्चालइय णिहणिंसु, अदुवा आसणाओ खलइंसु। वोसट्ठकायपणयासी, दुक्खसहे भगवं अपडिएणे ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—वे अनार्य लोग (उच्चालइय) भगवान् को ऊपर उठा कर (णिहणिंसु) पृथ्वी के ऊपर पटक देते थे (अदुवा) अथवा (आसणाओ) आसन से (खलइंसु) नीचे गिरा देते थे। परन्तु (वोसट्ठकाय) भगवान् काया का ममत्व त्याग करके (पणया) परीषह

सहन करने में तत्पर (आसो) थे। (भगव) भगवान् (दुक्खसहे) उन समस्त कष्टों को सहते थे और (अपडिण्णे) उनकी निवृत्ति के लिए प्रतिकाररहित थे ॥ १२ ॥

भावार्थः—अनार्य लोग भगवान् को जमीन से उठा कर पटक देते थे। जब भगवान् गोदोहिका तथा उत्कटुक आसन से बैठे हुए होते तब वे उनको ढकेल देते थे परन्तु भगवान् ने तो शरीर का ममत्व त्याग दिया था इसलिए वे उन सब कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करते थे किन्तु उनकी निवृत्ति के लिए विचार तक नहीं करते थे ॥

सूरो संगामसीसे व, संवुडे तत्थ से महावीरे। पडिसेवमाणे फरुसाइं, अचले भगवं रीइत्था ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—(सूरो व) जैसे शूरवीर पुरुष (संगामसीसे) संग्राम के अग्रभाग में युद्ध करता हुआ शत्रुओं द्वारा क्षुब्ध नहीं होता वैसे ही (तत्थ) वहां लाढ देश में विचरते हुए (संवुडे) अपनी समस्त इन्द्रियों को गुप्त रखते हुए (से) वे (भगव) भगवान् (महावीरे) महावीर स्वामी उन परीषह उपसर्गों से क्षुब्ध नहीं होते थे अपितु (फरुसाइ) उन कठोर परीषहों को (पडिसेवमाणे) समभाव पूर्वक सहन करते हुए (अचले) अपने व्रतों में अचल होकर (रीइत्था) विचरे थे ॥ १३ ॥

भावार्थः—जैसे संग्राम के अग्रभाग में युद्ध करता हुआ वीरपुरुष शत्रुओं द्वारा क्षुब्ध नहीं होता है उसी प्रकार भगवान् महावीर स्वामी उन परीषह उपसर्गों से किञ्चिन्मात्र भी क्षुब्ध नहीं हुए। उन सब को समभाव पूर्वक सहन करते हुए अपने व्रतों में निश्चल होकर विचरे थे।

एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मइमया। बहुसो अपडिण्णेण, भगवया एवं रीयंति त्ति बेमि ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—(मइमया) मतिमान् (अपडिण्णेण) निदानरहित (माहणेण) माहन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (बहुसो) बहुत बार (एस) इस (विही) विधि का (अणुक्कंतो) आचरण किया था। इसलिए अन्य मोक्षार्थी आत्माओं को भी (एवं) इसी प्रकार (रीयति) आचरण करना चाहिए (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूँ ॥ १४ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वोक्त प्रकार से आचरण किया था। इसलिए दूसरे मोक्षार्थी पुरुषों को भी इसी प्रकार आचरण करना चाहिए, ऐसा श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं ॥

॥ इति नवम अध्ययन का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

नवम अध्ययन का चौथा उद्देशक

तीसरे उद्देशक में भगवान् को दिये गये परीषह उपसर्गों का कथन किया गया है। अब इस चौथे उद्देशक मे भगवान् की तपस्या का वर्णन किया जाता है —

ओमोयरियं चाएड, अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं। पुट्ठे वा अपुट्ठे वा, णो से साइज्जइ तेइच्छं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—(भगवं) भगवान् (रोगेहि) रोगो से (अपुट्ठे वि) अस्पृष्ट होते हुए भी (ओमोयरिय) ऊनोदरी तप (चाएइ) करते थे। (पुट्ठे) रोगादि से स्पृष्ट होने पर (वा) अथवा (अपुट्ठे) न होने पर (से) वे भगवान् कभी भी (तेइच्छं) चिकित्सा करवाना (णो साइज्जइ) नहीं चाहते थे ॥ १ ॥

भावार्थः—भगवान् के शरीर मे किसी प्रकार की व्याधि न होते हुए भी भगवान् सदा ऊनोदरी तप करते थे। भगवान् को श्वास खांसी आदि शरीरजन्य कोई भी रोग नहीं होता था किन्तु अन्यकृत जो कष्ट और व्याधि होती थी, उसकी निवृत्ति के लिए भगवान् औषधि करने की कभी इच्छा तक नहीं करते थे ॥

संसोहणं य वमणं य, गायब्भंगणं सिणाणं य। संबाहणं ण से कप्पे, दंतपक्खालणं य परिण्णाए ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—इस औदारिक शरीर को अशुचिमय (परिण्णाए) जान कर (से) वे भगवान् (संसोहण) किसी भी प्रकार का

जुलाब (वमण) वमन (गायब्भगण) तैलादि द्वारा शरीर का मर्दन (सिणाणं) स्नान (सवाहण) संबाधन यानी हाथ पैरों की चम्पी (य) और (दंतपक्खालण) दांतन (ण कप्पे) नहीं करते थे ॥ २ ॥

भावार्थः—भगवान् जानते थे कि यह औदारिक शरीर अशुचिमय है। किसी भी प्रकार से इसकी शुद्धि नहीं हो सकती है, ऐसा जान कर वे जुलाब, वमन, तैलादि द्वारा शरीर का मर्दन, स्नान, पगचम्पी और दातन आदि द्वारा किसी भी प्रकार से इस शरीर की परिचर्या नहीं करते थे ॥

विरए गामधम्मेहिं, रीयइ माहणे अबहुवाई। सिसिरम्मि एगया भगवं, छायाए झाइ आसी य ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—(गामधम्मेहिं) इन्द्रियों के विषयों से (विरए) विरक्त (माहणे) माहन भगवान् (अबहुवाई) अल्पभाषी होकर (रीयइ) विचरते थे (य) और (एगया) कभी कभी (सिसिरम्मि) शिशिर ऋतु में अर्थात् शीतकाल में (छायाए) छाया में (आसी) बैठ कर (झाइ) ध्यान करते थे ॥ ३ ॥

भावार्थः—इन्द्रियों के विषय से विरक्त भगवान् अल्पभाषी होकर विचरते थे। कभी कभी शीतकाल में भगवान् छाया में बैठ कर धर्मध्यान शुक्लध्यान किया करते थे ॥

आयावइ य गिम्हाणं, अच्छइ उक्कुडुए अभितावे। अदु जावइत्थ लूहेणं, ओयणमंथुकुम्मासेणं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः—भगवान् (गिम्हाण) ग्रीष्म ऋतु में (उक्कुडुए) उत्कटुक आसन से (अभितावे) सूर्य के सन्मुख धूप में (अच्छइ) बैठते थे (य) और (आयावइ) आतापना लेते थे। (अदु) तथा वे (लूहेणं) रूक्ष (ओयणमथुकुम्मासेण) भात, मन्थु यानी बोर का आटा—बोरकूट और कुल्माष यानी कुलकी आदि के आहार से (जावइत्थ) शरीर का निर्वाह करते थे ॥ ४ ॥

एयाणि तिण्णि पडिसेवे, अट्ठमासे य जावयं भगवं। अवि इत्थ एगया भगवं, अद्धमासं अदुवा मासं वि ॥ ५ ॥

अवि साहिए दुवे मासे, छप्पि मासे अदुवा अपिवित्ता। राओवरायं विहरित्था, अपडिण्णे अण्णगिलायमेगया भुंजे ॥

अन्वयार्थः—(भगव) भगवान् (अट्ठमासे) आठ मास (जावय) तक (एयाणि) इन (तिण्णि) तीन प्रकार के आहार का (पडिसेवे) सेवन करते थे। (एगया) कभी कभी (भगव) भगवान् (अद्धमास) अर्द्धमास यानी पन्द्रह दिन (अदुवा) अथवा (मासं) एक मास, (अदुवा) अथवा (साहिए दुवे मासे) दो मास तथा दो मास से अधिक और (छप्पि मासे) छ महीने पर्यन्त (अवि अपिवित्ता) जल भी न पीकर (राओवराय) रात दिन अर्थात् सदा (अपडिण्णे) परीषह उपसर्गों का किसी भी प्रकार प्रतिकार न करते हुए निरीह भाव से (विह-रित्था) विचरते थे (य) और (एगया) कभी कभी (भुंजे) आहार करते थे किन्तु वह भी (अण्णगिलाय) ठण्डा आहार करते थे ॥ ५-६ ॥

भावार्थः—चातुर्मास के अतिरिक्त शेष आठ महीनो मे शरीर निर्वाहार्थ प्रायः रूक्ष भात, वोरकूट तथा उडद आदि नीरस आहार करते थे। कभी कभी वे पन्द्रह दिन, एक महीना, दो महीना और दो महीनो से अधिक तथा छ. छ महीने तक तपस्या करते थे। उनके मन मे किसी भी प्रकार की इच्छा भी उत्पन्न नहीं होती थी किन्तु वे सदा निरीहभाव से विचरते थे। कभी कभी भगवान् आहार करते थे किन्तु वह भी रूखा सूखा और ठडा आहार करते थे ॥

छट्ठेण एगया भुंजे, अदुवा अट्ठमेण दसमेणं। दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—(समाहिं) अपने शरीर की समाधि को (पेहमाणे) देखते हुए भगवान् (अपडिण्णे) निदान रहित होकर (एगया) कभी (छट्ठेण) वेला करके अर्थात् दो दिन से (अदुवा) अथवा कभी (अट्ठमेण) तेला करके अर्थात् तीन दिन से, (दसमेणं) कभी चौला

करके यानी चार दिन से, और (एगया) कभी (दुवालसमेण) पच्छोला करके अर्थात् पांच दिन से (भुंजे) आहार करते थे ॥ ७ ॥

भावार्थः—भगवान नित्यभोजी नहीं थे किन्तु कभी दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवे दिन करते थे। आहार न करने से भगवान् के मन मे किसी भी प्रकार की दुर्बलता उत्पन्न नहीं होती थी किन्तु वे केवल शरीर के निर्वाह के लिए आहार करते थे ॥

णच्चाणं से महावीरे, णो वि य पावगं सयमकासी। अण्णेहि वा ण कारित्था, कीरंतंपि णाणुजाणित्था ॥८॥

अन्वयार्थः— (णच्चा ण) हेय और उपादेय पदार्थों को जान कर (से) उन (महावीरे) भगवान् महावीर स्वामी ने (णो वि) न तो (सय) स्वय (पावग) पाप कर्म (अकासी) किया था, (य) और (ण अण्णेहिं) न दूसरों से (कारित्था) करवाया था (वा) तथा (कीरत) करते हुए को (ण अणुजाणित्था वि) अच्छा भी नहीं जाना था अर्थात् अनुमोदन भी नहीं किया था ॥ ८ ॥

भावार्थः—हेय और उपादेय पदार्थों को जान कर भगवान् महावीर स्वामी ने छद्मस्थ अवस्था मे न स्वय पाप किया, न दूसरों से करवाया और करते हुए को अच्छा भी नहीं जाना अर्थात् पापकर्म करते हुए प्राणी की अनुमोदना तक नहीं की ॥

गामं पविस्स णगरं वा, घासमेसे कडं परट्ठाए। सुविसुद्धमेसिया भगवं, आययजोगयाए सेवित्था ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—(भगवं) भगवान् (गाम) ग्राम (वा) अथवा (णगर) नगर मे (पविस्स) प्रवेश करके (परट्ठाए) दूसरों के लिए (कडं) किये गये (घास) आहार की (एसे) गवेषणा करते थे और (सुविसुद्ध) सुविशुद्ध अर्थात् उद्गम, उत्पादना और एषणा के दोषों से रहित आहार की (एसिया) गवेषणा करके (आययजोगयाए) मन, वचन, काया के योगों की स्थिरता पूर्वक (सेवित्था) उस आहार का सेवन करते थे ॥ ९ ॥

भावार्थः—ग्राम अथवा नगर मे प्रवेश करके भगवान उद्गम, उत्पादनादि मत्र दोषों से रहित शुद्ध आहार की गवेषणा करते थे। फिर मन वचन काया के योगों की स्थिरता पूर्वक उस आहार का सेवन करते थे ॥

अदु वायसा दिगिंच्छत्ता, जे अण्णे रसेसिणो सत्ता। घासेसणाए चिट्ठंति, सययं णिवइए य पेहाए ॥ १० ॥
अदुवा माहणं य समणं वा, गामपिडोलगं य अइहिं वा। सोवागं मूसियारिं वा, कुक्कुरं विविहं ठियं पुरओ ॥ ११ ॥
वित्तिच्छेयं वज्जंतो, तेसिमप्पत्तियं परिहरंतो। मंदं परक्कमे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसित्था ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः—(दिगिंच्छत्ता) भूख से व्याकुल (वायसा) कौए (अदु) तथा (रसेसिणो) पानी पीने की इच्छा वाले (जे) जो (अण्णे) अन्य (सत्ता) प्राणी (सयय) सदा (घासेसणाए) दाना पानी के लिए (णिवइए-चिट्ठ ति) जमीन पर बैठे हुए होते थे (पेहाए) उन्हे देख कर (य) और (माहणं) ब्राह्मण (समणं) श्रमण (गामपिंडोलग) भिखारी (अइहिं) बाहर से आया हुआ अतिथि (सोवाग) चाण्डाल (मूसियारिं) बिल्ली (य) और (कुक्कुर) कुत्ते आदि (विविह) विविध प्रकार के प्राणियों को (पुरओ) सामने (ठिय) स्थित देख कर (तेसिं) उनकी (वित्तिच्छेय) वृत्तिछेद को (वज्जंतो) वर्जते हुए अर्थात् उनको किसी प्रकार की अन्तराय न करते हुए (वा) तथा (अप्पत्तिय) मन में किसी भी प्रकार की अप्रीति (परिहरतो) न लाते हुए (भगव) भगवान् (मद) धीरे धीरे (परक्कमे) वहां से निकल जाते थे (य) और (अहिंसमाणो) कुंथु आदि किसी भी प्राणी की हिंसा न करते हुए भगवान् (घास) आहार पानी की (एसित्था) गवेषणा करते थे ॥

भावार्थः—भिक्षा लेने के लिए जाते हुए भगवान् को रास्ते मे भूख से व्याकुल जो कौए आदि प्राणी दाना पानी के लिए जमीन पर बैठे हुए दिखाई देते थे तथा ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चण्डाल, बिल्ली और कुत्ते आदि प्राणी कुछ मिलने की

आशा से खडे दिखाई देते थे उनको किसी भी प्रकार की बाधा एव अन्तराय पहुचाये बिना भगवान् वहाँ से धीरे धीरे चले जाते थे और उन प्राणियों पर अपने मन में अप्रीति भी न लाते थे। कुन्थु आदि प्राणियों की हिंसा न करते हुए भगवान् भिक्षाटन करते थे।

अवि सूइयं वा सुक्कं वा, सीयपिंडं पुराणकुम्मासं। अदु बुक्कसं वा, लद्धे पिंडे अलद्धे दविए ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—(सूइय) भींजा हुआ (वा) अथवा (सुक्क) सूखा हुआ, (सीयपिंड) ठण्डा आहार (वा) अथवा (पुराणकुम्मास) बहुत दिन का उड़द का आहार (बुक्कसं) पुराने धान का आहार (अदु) अथवा (पुलागं) जौ आदि नीरस धान्य के बने हुए (पिंडे) आहार के (लद्धे) मिलने पर (वा) अथवा (अलद्धे) न मिलने पर (दविए) भगवान् शान्त रहते थे ॥ १३ ॥

भावार्थः—रूखा, सूखा, ठण्डा उडदों का अथवा पुराने तथा नीरस धान्य का बना हुआ, जैसा भी आहार भगवान् को मिल जाता, वे उसी में सन्तोष करते थे। आहार के मिलने पर या न मिलने पर भगवान् सदा शान्त रहते थे ॥

अवि झाइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं। उड्ढं अहे य तिरियं य लोए, झायइ पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ॥१४॥

अन्वयार्थः—(से) वे (महावीरे) भगवान् महावीर स्वामी (आसणत्थे) उत्कटुक, वीरासन आदि आसनों से बैठ कर (अकुक्कुए) निर्विकार भाव से (झाणं) धर्मध्यान शुक्लध्यान (झाइ) ध्याते थे (य) और (समाहिं) अपने अन्तःकरण की शुद्धि को (पेहमाणे) देखते हुए (अपडिण्णे) निरीह भाव से (उड्ढ) ऊर्ध्व लोक (अहे) अधोलोक (य) और (तिरिय) तिर्यक् लोक (लोए) इन तीनों लोकों के स्वरूप का (झायइ) ध्यान में विचार करते थे ॥ १४ ॥

भावार्थः—भगवान् उत्कटुक, गोदोहिका, वीरासन आदि आसनो से बैठ कर धर्मध्यान, शुक्लध्यान किया करते थे और वे

अपने अन्तःकरण की शुद्धि को देखते हुए ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् इन तीनों लोकों के स्वरूप का चिन्तन किया करते थे ॥

अकसाई विगयगेही य, सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई । छउमत्थोवि परक्कममाणो, ण पमायं सइंपि कुव्वित्था ॥१५॥

अन्वयार्थः—(अकसाई) कषाय रहित (विगयगेही) गृद्धिभाव रहित (य) और (सद्दरूवेसु) शब्द रूप आदि विषयों में (अमुच्छिए) मूर्च्छित न होते हुए (झाई) सदा ध्यान मग्न रहते थे। इस प्रकार (परक्कममाणो) शुभ अनुष्ठानों में पराक्रम करते हुए भगवान् ने (छउमत्थो वि) छद्मस्थावस्था में (सइंपि) एक बार भी (पमायं) प्रमाद (न) नहीं (कुव्वित्था) किया था ॥ १५ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी अकषायी थे क्योंकि कषाय के उदय से उन्होंने किसी पर भी अपनी भृकुटि टेढी नहीं की थी। वे शब्दादि विषयों मे आसक्त नहीं होते थे अर्थात् अनुकूल विषयों में राग और प्रतिकूल मे द्वेष नहीं करते थे। वे सदा शुभ अनुष्ठान में ही प्रवृत्त रहते थे। इस प्रकार उन्होंने छद्मस्थ अवस्था मे एक वार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया था ॥

सयमेव अभिसमागम्म, आययजोगमायसोहीए। अभिणिव्वुडे अमाइल्ले, आवकहं भगवं समियासी ॥१६॥

अन्वयार्थः—(सयमेव) स्वयमेव (अभिसमागम्म) तत्त्वों को भली प्रकार जान कर (आयसोहीए) आत्मशुद्धि द्वारा (आययजोग) मन वचन काया के योगों को अपने वश में करके (अभिणिव्वुडे) शान्त (अमाइल्ले) माया रहित (भगव) भगवान् (आवकह) यावज्जीवन (समियं) पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त (आसी) थे ॥ १६ ॥

भावार्थः—ससार की असारता और तत्त्वों को स्वयमेव भली प्रकार जान कर तथा आत्मशुद्धि द्वारा मन वचन काया के योगों को अपने वश में करके माया रहित अर्थात् क्रोधादि कषाय न करते हुए भगवान् सदा शान्त तथा पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त थे ॥

आशा से रहित दिखाई देते व उनको किसी भी प्रकार ...

एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मइमया । बहुसो अपडिण्णेण, भगवया एवं रीयंति त्ति बेमि ॥१७॥

अन्वयार्थः—(मइमया) मतिमान् (अपडिण्णेण) निदान रहित (माहणेण) माहन (भगवया) भगवान् महावीर स्वामी ने (बहुसो) बहुत बार (एस) इस (विही) विधि का (अणुक्कंतो) आचरण किया था। इसलिए अन्य मोक्षार्थी आत्माओं को भी (एवं) इसी प्रकार (रीयंति) आचरण करना चाहिए (त्ति बेमि) ऐसा मैं कहता हूं ॥ १७ ॥

भावार्थः—भगवान् महावीर स्वामी ने पूर्वोक्त प्रकार से आचरण किया था। इसलिए दूसरे मोक्षार्थी पुरुषों को भी इसी प्रकार आचरण करना चाहिए। ऐसा श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य जम्बूस्वामी से कहते हैं ॥

॥ इति श्री आचाराङ्ग सूत्र का ब्रह्मचर्य नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त ॥

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११	३	गये	गये हैं।
१२	७	अन्वयाथ	अन्वयार्थ
१२	१०	कितने	कितनेक
२४	३	समारमा	समारभा
२५ से २८		तृतीय उद्देश	चतुर्थ उद्देश
२७	१	पुव्वमकासा	पुव्वमकासी
२८	११	वह	वहाँ
२८	१३	श्वीकाय	पृथ्वीकाय
२६		पञ्चम उद्देश	चतुर्थ उद्देश
२६	८	पञ्चम	चतुर्थ
३१	११	आबि	आवि
३४	५	परिणामधम्मयं	विपरिणामधम्मय
३४	७	(इम वि)	(इम विं)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	७	(बुद्धिधम्मयं)	(वुद्धिधम्मय)
३४	८	(बुद्धधम्यय)	(वुद्धिधम्मय)
३५	७	असमारममाणस्स	असमारभमाणस्स
३५	८	समारभावेज्जा,	समारंभावेज्जा, णेवण्णे
३५	६	जस्सेए णेवण्णे	जस्सेए
३७	७	दिसो	पदिसो
४४	१२	है	हैं
५०	६	करते है	करता है
५१	११	(वयो)	(वओ)
५१	१३	ओसविन्दु	ओसबिन्दु
५२	२	पच्छा	पच्छा
५४	६	सम्बन्धित	सञ्चित
५७ से ६१		प्र० उ०	द्वि०-उद्देश

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६	१७	धुद्धि	शुद्धि
६३	१३	विदिग्रो	गिद्धिओ
६२ से ६४		पे० ३०	पृ० ३१
६४	१३	मोषेण	मावेण
६४	१५	है	हैं
६७	७	गर	पर
६६	६	तगे	तर्दे
७१	१	विविश	निविश
७१	२	पैनिक	वैहक
७३		पा० ७३	भा० ७०
७३	१३	रखने	न रखने
७४	७	(लि वेमि)	(ति बेमि)
७४	८	नीन्द्रा	निन्द्रा
७५	५	माना	आना
७७	११	पडिग्गाहं	पडिग्गाहं
७८	८	(आहार)	(आहारे)
७६	३	अराणहा	अरणाहा
७६	१	मनोपकरणों	धर्मोपकरणों

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८३	५	(नोइंक रेइ)	(नोइं करेइ)
८८	६	पालोगोण	[illegible]
६१	७	(नो बद्दे)	(वो वदे)
६१	१२	आरम्भ कर दे	आरंभ न करे
६५	१४	रंगे	मंदे
६६	३	(गन्नो)	(धन्नो)
६६	८	मारे	गुरे
६७	१३	(गो)	(गरे)
६७	१५	बालो	वांलो
१०६	५	(बुद्धि)	(बुद्धि)
१६०	१३	नोगिनेलोगो	[illegible]
१६१	१६	(नेबुई)	(नेबुई)
१०२	१६	मुले	मुले
१०३	१०	भिइ	भिइं
१०५	१०	वहाओ	बहाओ
१०७	६	करना	कराना
१०६	४	पीतगी	बीतगी
१०६	१५	(न)	(×)

११०	१२	त	तो	१३२	४	हैं	है
११४	६	जंति	जंति	१३२	११	(हव्वाहो)	(हव्ववाहो)
११५	४	करणं	कारणं	१३३	१३	(णिव्वुडा)	(णिव्वुडा)
११८	५	(अत्थि)	(णत्थि)	१३५	१२	को	का
१२०	३	हुंगि	विद्यमान हैं	१४०	११	हैं	है
१२०	३	विद्यमान हैं	होंगे	१४१	५	त्यागी	त्यागी भी
१२०	५	तेइन्द्रिय,	,तेइन्द्रिय	१५०	२	है	हो
१२१	१५	इष्ट	दृष्ट	१५२		प्र० उ०	तृ० उ०
१२२	७	यह	इस	१५५	१४	जूठ	झूठ
१२२	७	लोकैषणा	लोकैषणा में	१५७	१५	बंक	वक
१२६	१	नुसार	अनुसार	१५८	३	सेवंति	सेवंति
१२६	१	असमय	असंयम	१५८	१२	सद्ध	सिद्ध
१२८	१२	प्ररूत्रणा	प्ररूपणा	१५६	२	है	हैं
१२६	६	परियावेयव्वा	परियावेयव्वा	१६०	१४	आचार्य की	सदा
१३०	१	परियावेयव्वा	परियावेयव्वा	१६१	२	(पथ णिज्जाई)	(पंथणिज्झाई)
१३०	१	किलामेयव्वा	किलामेयव्वा	१७०	१४	असम्यक् रूप	सम्यक् रूप
१३०	८	हिंसा	हिंसा	१७८	११	ह्रस्व	ह्रस्व

२२६		च० उ०	तृ० उ०
२२६	८	प्रवज्वलित	प्रज्वलित
२३१	१०	जसा	जैसा
२३३	११	उपवर्ग	उपसर्ग
२३५	१	वैहायस	वैहायस
२३४	४	(खम)	(खम) क्षम
२३७	२	समर्थन हो	समर्थ न हो
२३७	१०	लेसे	लेस्से
२३८	१२	लेसे	लेस्से
२४४	१	सरिणवेसवे वा	सरिणवेसं वा
२४५	१	(अप्पमाणे)	(अप्पपाणे)
२४७	१२	वस्त्र को	वस्त्र
२४७	१२	कष्ट	कष्ट को
१५३	४	(विरूवरूवे)	(विरूवरूवे)
२६२	१४	विचलित	विचलित
२७७ से २८०		द्वि० उ०	प्र० उ०
२७७	७	अप्पकाय	अप्पाय
२८१	११	अवलवियाण	अबलवियाण
२८१	१४	(अवलवियाण)	(अवलवियाण)
२८३		अ० आ०	अ० नवा
२८५	२	के	वे
२८६	११	हाथ	हाथ मे
२८६	१३	ओर	और
२८८		प्र० उ०	द्वि० उ०
२८६	५	पवायते	पवायते
२६०	३	"से"	से
२६२	७	हो	ही
३००	१	मदैन	मर्दन
३००	४	वमन	वमन
३००	१५	कुलकी	कुलथी
३०२	२	करते ये।	आहार करते थे।